महाकवि कालिदास
प्रणीतम्

मेघदूतम्







महाकविकालिदासप्रणीतं

मेघदूतम्

म० म० पं० मल्लिनाथकृतसञ्जीवन्या व्याख्यया,
आचार्य केशवप्रसाद मिश्र निर्मितेन पद्यानुवादेन,

तथा

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठिविरचितया
सरस्वतीसमाख्यया व्याख्यया,
राष्ट्रभाषानुवादादिभिश्च संवलितम्

व्याख्यादिप्रणेता सम्पादकश्च
डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी
व्याकरणाचार्यः पुराणेतिहासाचार्यः (लब्ध-
स्वर्णपदकः), एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राध्यापकः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MEGHADOOTAM

Edited by

Dr. R. S. Tripathi.

प्रथम संस्करण : १९८१ ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक

अनुपम प्रेस, वाराणसी–२२१००१

समर्पण

मेरी श्रद्धापूर्ण भावनाओं के पावन प्रतीक

श्री ओमप्रकाश टण्डन

विशेषकार्याधिकारी,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

की

उन उदारस्निग्ध प्रेरणाओं को,—

जिनकी शीतल छाया में

जीवन-संघर्ष के सकल श्रमशीकर

प्रकाशपुञ्ज बनते जाते हैं,—

सर्वात्मना समर्पित

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

प्राक्कथन

'मेघदूतम्' का यह नवीन संस्करण साहित्य-रसिकों की सेवा में उपस्थित होनें जा रहा है। 'छात्रों को अधिक-से-अधिक सहायता पहुँचाई जा सके' इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए यह संस्करण तैयार किया गया है। कोई भी व्यक्ति इस संस्करण की सहायता से बिना किसी की सहायता लिये हुए भी कविता-कामिनी-विलास महाकवि कालिदास के अतिगम्भीर भावों के तल का स्पर्श अनायास कर सकता है। अध्यापकों, आलोचकों तथा नई एवं पुरानी विचारधाराओं के विद्वानों के लिए भी इस संस्करण का उतना ही महत्त्व हो जितना कि छात्रों के लिए—एतदर्थ भी प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में अनुसन्धानात्मक भूमिका के साथ इस संस्करण को अन्वय, शब्दार्थ, अर्थ, टिप्पणी तथा व्युत्पत्ति आदि से सजाने का भरपूर प्रयास किया गया है। इस संस्करण को, इसके अतिरिक्त, दो अन्य अलङ्करणों से अलङ्कृत किया गया है। इनमें एक है मल्लिनाथ का सञ्जीवनी-व्याख्यान तथा दूसरा है आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का पद्यानुवाद। इस तरह यह संस्करण तीन व्यक्तियों की त्रिधा ज्ञान-धाराओं का पावन संगमस्थल—प्रयाग—बन गया है। उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका मूल्याङ्कन मेरा काम नहीं है। संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि यह संस्करण काव्य के अर्थ एवं भाव को स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित कर पाठकों की नम्र अपेक्षित सेवा कर सके।

महाकवि कालिदास भावों एवं अभिव्यञ्जनाओं के जादूगर हैं। सरल तथा अति स्वल्प शब्दों से यह महाकवि जिस प्रकार गम्भीर भावों की अभिव्यञ्जना करता है, वह देखने ही लायक होती है। अतः इनकी कविता के भावों को स्वल्प सरल शब्दों में पूर्णरूप से अभिव्यक्त करने में जो कठिनाइयाँ होती हैं उन्हें कोई भुक्तभोगी विद्वान् ही जान सकता है। प्रायः देखा जाता है कि दिग्गज विद्वान् तथा

व्याख्याकार भी महाकवि के भावों का दिग्दर्शन कराने में दिग्भ्रमित हो जाते हैं।[1] कालिदास की कविता–नटी को अपने अङ्क में पूर्णतः समेट लेने का दावा दम्भमात्र होगा। यही कारण है कि मैंने यत्र-तत्र महामहोपाध्याय मल्लिनाथ तथा आचार्य केशवप्रसाद मिश्र से भिन्न भी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। मेरा यह कार्य बाल-चापल्य नहीं, अपितु अनुभव की सुदृढ आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। निर्णय पाठकों के विवेक पर निर्भर है। अस्तु, इस प्रकार के कार्य के लिए सारस्वत-साधना के साथ ही बाह्य सुविधाओं का होना भी नितान्त आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति को दुर्घर्ष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मेरे लिए तो ये कठिनाइयाँ और बढ़ जाती हैं। यतः मैं विश्वविद्यालय का वेतनभोगी सेवक हूँ। अपने परिवार का अभिभावक हूँ। बालक बालकृष्ण, आनन्दकृष्ण एवं श्रीकृष्ण का सम्मानित शिक्षक हूँ। सप्तवर्षीय बालक 'राधाकृष्ण' का क्रीडा-सहचर हूँ। अपनी आयु के प्रायः चार वर्ष व्यतीत करनेवाले बालक 'गोपाल कृष्ण' का धातृकर्म-सहायक हूँ। घर का सार्वकालिक अवैतनिक सेवक हूँ। कहाँ तक कहूँ ? बस, यही समझ लिया जाय कि मैं एक विवाहित गृहस्थ हूँ। इस तरह के व्यक्ति को वैचारिक मन्थन में, कवि के अभिप्रायानुधावन में, कितनी कठिनाइयाँ होती हैं इसे तो कोई विवाहित लेखक या विचारक ही समझ सकता है। फिर भी मैंने इस कार्य को पूर्ण किया है। एतदर्थ ईश्वर और गुरुचरणों के आशीष का विशेष आभार स्वीकार करता हूँ।

मेघदूत के इस संस्करण को वर्तमान रूप देने में संस्कृत, हिन्दी तथा अँग्रेजी के कतिपय प्राप्त संस्करणों से सहायता उपलब्ध हुई है। पाठ की दृष्टि से पं० नारायण शास्त्री खिस्ते के द्वारा सम्पादित संस्करण विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। इनके अतिरिक्त जिन भी विद्वान् लेखकों की कृतियों से सहायता मिली है, उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की ही तरह

१—भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
एषा सञ्जीवनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ५ ॥
सञ्जीवनी के मङ्गलाचरण से। शारदारञ्जन रायकृत संस्करण।

सरसता तथा वैदुष्य से परिपूर्ण, आदरणीय बन्धु, कविवर श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ने भी कुछ (३-४) पद्यों का अनुवाद कर हमें अनुकम्पित किया है, एतदर्थ हम उनके भी कृतज्ञ हैं। इस संस्करण को पूर्ण रूप देने में सहायक सुश्री शान्ति त्रिपाठी तथा प्रिय गणेशप्रसाद मिश्र, मार्केटिंग इंस्पेक्टर, वाराणसी, को हार्दिक साधुवाद देते हुए सन्तोष का अनुभव हो रहा है।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, के सुयोग्य सञ्चालक मित्र पुरुषोत्तमदास जी मोदी भी अपने सहयोगात्मक कृत्यों के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

नागपञ्चमी
वि० सं० २०३८
५.८.१९८१

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

कालिदास का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

मेघदूत महाकवि कालिदास की चमकती लेखनी का अमृत-निष्यन्द है। विश्ववन्द्य इस काव्यरत्न को पढ़ने से प्रतीत होता है कि महाकवि की लेखनी कल्पतरु की सुकुमार शाखा की बनी थी। वे कामधेनु के नवनीत को जला कर मसी बनाते थे। उसमें अमृत की धार उड़ेल कर उसे तरल करते थे। फिर भूर्ज-पत्र के अतिपावन खण्डों पर, शारदी कौमुदी के पुनीत वितान के नीचे बैठ कर, अपने काव्य का श्रीगणेशाय नमः करते थे। यदि यह बात न होती तो उनके काव्य में द्राक्षा की माधुरी, ज्योत्स्ना की स्निग्धता तथा कुन्द की मादक सुरभि की उमड़ती त्रिवेणी का पावन सङ्गम कैसे होता? मेघदूत महाकवि की प्रतिभा का अनुपम अखण्ड फल है। यह काव्य अकेली वह सीढ़ी है, जिस पर चढ़कर कालिदास विश्व-महाकवि-परिषद् के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान हुए थे। किन्तु ऐसा विश्ववन्द्य कवि कब और कहाँ हुआ? इसे सही-सही सिद्ध कर पाना इतिहासकारों के लिए आज भी जटिल समस्या है।

(क) कालिदास का काल

संस्कृत के काव्य-गगन में महाकवि कालिदास कब उदित एवं सुप्रसन्न हो आलोकित हुए इसका निर्देश स्वयं उन्होंने कहीं नहीं किया है। अत्यन्त विनयी एवं निःस्पृह होने के कारण उन्होंने स्वरचित नाटकों में पुरानी परिपाटी का अनुसरण कर अपना नाम-निर्देश भर कर दिया है। किन्तु काव्यों में तो यह भी छोड़ दिया है। धन एवं वैभव की लालसा से प्रेरित होकर उन्होंने अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में एक भी प्रशस्ति-पंक्ति नहीं लिखी है। यदि परोक्ष भाव से किए हुए उल्लेखों को छोड़ दें, तो अपने नाम की ही भाँति आश्रयदाता के नाम का भी उन्होंने कहीं अपने ग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया है। संस्कृत भाषा के कवियों के लिए यह कोई नवीन बात नहीं है। कविता-कामिनी के हास महाकवि भास, भाषा-विभूति भवभूति तथा संस्कृत के क्रान्तिकारी कवि शूद्रक

प्रभृति महाकवियों ने भी अपने सत्ता-काल एवं आश्रयदाता आदि के विषय में कुछ भी, या कुछ भी खास, निर्देश नहीं किया है। अपनी प्रतिभा के प्रकाश से विश्व को आलोकित करने वाले इन महाकवियों ने अपनी दैशिक तथा कालिक परिधि के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही न समझी। इस अकिञ्चित्कर वात की ओर उनका ध्यान ही न गया। इसे वे अहं का प्रकाशन समझते थे। वस्तुतः वे सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक थे। उनकी महत्ता की इयत्ता देश तथा काल से घेरी नहीं जा सकती। अपने स्थान और काल की बात को लिखना वे अधिक महत्त्वपूर्ण न समझते थे।

इसके अतिरिक्त दूसरी वात यह है कि कुछ सदियों पूर्व इस तरह की बात लिखने की परम्परा भारत में प्रचलित न थी। उनकी कृतियों को लेकर कभी इतिहास के भव्य-भवन का निर्माण होगा—कदाचित् यह वात उनके सामने न थी। वे केवल वर्तमानकालिक अपनी कीर्ति से ही सन्तुष्ट थे। यही कारण है कि अन्य कवियों की तरह महाकवि कालिदास ने भी अपने निवास और समय का विवरण नहीं दिया है। फिर भी यहाँ उनके विषय में विचार करके तथ्य को प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया जा रहा है:—

(अ) स्थितिकाल—कालिदास का कालनिर्धारण आरम्भ से आज तक विद्वान् आलोचकों के विवाद का विषय बना हुआ है। विभिन्न आलोचकों ने ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी पर्यन्त इस महाकवि का विभिन्न काल वतलाया है। किन्तु अन्य मत तो केवल थोथी दलील भर हैं। इनमें केवल दो मत प्रधान हैं जिन्हें विद्वानों का आदरसम्मान मिल सका है :—

(१) प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत, और (२) चतुर्थ शताब्दी ई० पू० या गुप्तकालीन मत।

विद्वान् आलोचकों ने महाकवि कालिदास के पूर्वोत्तरवर्ती काल की दो स्पष्ट सीमाएँ स्वीकृत की हैं। उस महाकवि ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' का कथानक शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र के चरित्र से लिया है। अग्निमित्र मौर्यवंश का विनाश कर मगध साम्राज्य का आधिपत्य अपने अधिकार में लेने वाले सेनापति पुष्यमित्र का सुयोग्य पुत्र था। विद्वानों ने उसका समय ईसा से लगभग १५०

वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि कालिदास का समय इससे पूर्व नहीं हो सकता। यह तो हुई पूर्ववर्ती सीमा। अब उत्तरवर्ती सीमा की ओर आइए। कालिदास के नाम का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम कन्नौजाधिपति सम्राट् हर्षवर्धन (६०६–६४७ ई०) के आश्रित कवि गद्य-सम्राट् महाकवि बाण द्वारा विरचित 'हर्षचरित' की प्रस्तावना में किया गया है।[1] पुलकेशी द्वितीय के दक्षिण भारत के 'ऐहोल' नामक ग्राम में प्राप्त हुए शिलालेख (६३४ ई०) में भी इस महाकवि के नाम का सादर उल्लेख हुआ है।[2] ये दोनों ही उल्लेख ईसा की ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के हैं। अतः इसके पूर्व ही कालिदास का आविर्भाव सिद्ध होता है। ईसा की सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अनन्तर इस महाकवि का काल सिद्ध करने का प्रयास उपहासास्पद होगा। इसप्रकार कालिदास का काल ई० पू० १५० वर्ष के बाद तथा सप्तम शताब्दी के पूर्व कहीं होना चाहिए।

इन कतिपय मतों की समीक्षा करने के पूर्व यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भारतीय परम्परा कालिदास का सम्बन्ध किसी 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी प्रतापी राजा से स्थापित करती है। इसके साथ ही यह भी माना गया है कि यही विक्रमादित्य शकों को परास्त कर शकारि या शकाराति होने के यश का भागी बना था। अभिनन्द विरचित रामचरित में कहा गया है कि— "कालिदास की कृतियों को 'शकारि' अथवा 'शकाराति' राजा ने प्रसिद्धि प्रदान की।"[3] सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में विक्रमादित्य के काव्य-प्रेमी होने का उल्लेख

१—निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥
—हर्षचरित ॥

२—स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥
—ऐहोल शिलालेख।

३—हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः।
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना ॥
—रामचरित।

किया है ।[1] सुभाषित के एक श्लोक में यह कहा गया है कि कालिदास ने विक्रमार्क (विक्रमादित्य) का वर्णन अपने काव्य में किया है ।[2] लोकप्रचलित आख्यानों के आधार पर निर्मित ये सुभाषित एक सुदीर्घ परम्परा को द्योतित करते हैं । अतः इन्हें सर्वथा मिथ्या नहीं माना जा सकता । 'ज्योतिर्विदाभरण' में कालिदास को विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनाया गया है ।[3] कुछ लोग ज्योतिर्विदाभरण को कालिदास की ही कृति मानने के पक्षपाती हैं । ये सभी उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि 'शकारि', 'शकाराति', 'विक्रम', 'विक्रमार्क' तथा 'विक्रमादित्य'— ये सभी उपाधियाँ किसी एक ही पराक्रमी राजा से सम्बद्ध हैं । इसी विक्रमादित्य संज्ञाधारी राजा ने शकों का मानमर्दन किया था । इसी ने अपने समय के विद्वानों को आश्रय देकर विद्या तथा कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की लहर पैदा कर दी थी । कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नामकरण में तथा पात्रों के संभाषण में दो स्थानों पर विक्रम शब्द का सहेतुक प्रयोग किया है ।[4] इससे प्रतीत होता है कि वे अपने आश्रयदाता की ओर संकेत कर रहे हैं ।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत—जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि भारतीय परम्परा कालिदास को विक्रमादित्य से सम्बद्ध मानती है । विक्र-

---

१—सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः ।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥
—वासवदत्ता ।

२—वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासिन धर्मात्मजः ।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्को नृपः ॥
—सुभाषित ।

३—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
—ज्योतिर्विदाभरण ।

४—'दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।'
—विक्रमोर्वशीय, अंक १ ।
'अनुत्सेकः ख़लु विक्रमालङ्कारः' ।—वही, अंक १ ।

(२) आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च ।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये ॥

—बुद्धचरित, १०।२३

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥

—रघुवंश२।४७

(३) द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥

—बुद्धचरित ११।४३

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

—उत्तरमेघ,४६

इन उदाहरणों में आश्चर्यजनक साम्य है । इन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ने दूसरे का अनुकरण किया है । पर किसने किसका अनुकरण किया है, इसे सरलता से एकाएक नहीं कहा जा सकता ।

कालिदास के ग्रन्थों का मनन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह महाकवि वहुश्रुत था । इसने अपने पूर्ववर्ती सभी प्रसिद्ध कवियों की कृतियों का सूक्ष्म परिशीलन किया था । उनकी आकर्षक एवं मनपसन्द उक्तियों का सङ्कलन किया था । इन्होंने मधुमक्षिका की वृत्ति स्वीकार कर अपने काव्यों को हृद्य तथा मधुरतम बनाने का प्रयास किया है । और कहना न होगा कि महाकवि को अपने इस उद्देश्य में अभूतपूर्व सफलता भी मिली है । काव्य-निर्माण के क्षेत्र में महाकवि कालिदास तथा हिन्दी के मूर्धन्य कवि तुलसीदास दोनों ही—एक ही पथ के पथिक हैं । दोनों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य को निचोड़ कर अपने काव्यों को अलङ्कृत तथा समृद्ध बनाया है । किन्तु दूसरे कवि की ली गई बात को ये दोनों ही कवि इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उसमें चार चाँद लग जाते हैं, नवीनता आ जाती है । बात उधार ली हुई न होकर निजी बन जाती है ।

उदाहरण के लिये नीचे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं:—

(क) "मृगयायां तु व्यायामः श्लेष्मपित्तमेदःस्वेदनाशश्चले स्थिरे च काये लक्ष्यपरिचयः कोपभयस्थाने हितेषु च मृगाणां चित्तज्ञानमनित्ययानं चेति ।"

—कौटिल्य अर्थशास्त्र, आठवाँ अधिकरण
प्रकरण १२९, अध्याय ३

तुलना—मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युसाहयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥

—शाकुन्तल २।५

अर्थशास्त्र का यह अनुकरण 'रघुवंश' तथा 'कुमारसंभव' में प्रचुर रूप से देखा जा सकता है ।[1] अर्थशास्त्र कालिदास, भास तथा अश्वघोष सबसे प्राचीन है ।

इसीप्रकार शाकुन्तल में कामसूत्र की प्रकट छाया देखी जा सकती है । कण्व के द्वारा शकुन्तला को दिया गया उपदेश कामसूत्र के चतुर्थ अधिकरण के द्वितीय अध्याय का सारांश प्रतीत होता है । नीचे दोनों के कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं:—

(अ) 'परिजने दाक्षिण्यं, न चाधिकमात्मानं पश्येत् ॥' —कामसूत्र ४।२।६६

'न चोपालभेत वामतां च न दर्शयेत् । —कामसूत्र ४।२।६८

'श्वश्रूश्वशुरपरिचर्या तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता परिमिताप्रचण्डालापकरण-मनुच्चैर्हासः ॥' —कामसूत्र ४।१।३७

'भोगेष्वनुत्सेकः ॥' —कामसूत्र ४।१।३९

'परिजने दाक्षिण्यम् ॥ —कामसूत्र ४।१।४०

---

१. तुलना कीजिए—अर्थशास्त्र २।१, १०।७, १७।५५, ७३, ९।१, ७।१५, १।२, ८।३ क्रमशः रघुवंश १५।९, कुमारसंभव ६।७३, रघुवंश १७।४९, १२।५५,१७।५६, १७।७६, १७।८९, १८।५०

'नायकापचारेषु किञ्चित्कलुषता नात्यर्थं निर्वदेत् ॥'

—कामसूत्र ४।१।१९

तुलना कीजियेः—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः ॥

—शाकुन्तल ४।८

काव्यरसिकों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के उत्कृष्टतम चार श्लोकों में इस श्लोक की भी गणना की है। स्पष्टतः इस श्लोक की कल्पना कामसूत्र से ली गई है। वात्स्यायन का समय विद्वानों ने ईसा की तीसरी शताब्दी का मध्यकाल माना है। यदि कोई यह कहे कि कामसूत्र के कर्ता वात्स्यायन ने कालिदास का अनुकरण किया है, तो यह उपहासास्पद होगा। काम सम्बन्धी बातों के प्रस्तुतीकरण के लिए प्राचीन काल से आज तक कविगण कामसूत्र का आश्रय लेते आये हैं। कामसूत्र एतदर्थ आकर ग्रन्थ है। अतः कालिदास ने ही उसका अनुकरण किया है, यही मानना समीचीन है।

जब महाकवि कालिदास अपने पूर्ववर्ती समग्र साहित्य का रसास्वादन कर उनकी चित्ताकर्षक बातों को लेकर अपने साहित्य को सर्वातिशायी बनाने के पक्षपाती हैं, तब उन्होंने यदि अश्वघोष की कल्पनाओं तथा शब्दों का अनुकरण किया है तो कौन-सी आश्चर्यजनक बात है। यह कौन अछूत बात है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि महाकवि कालिदास अर्थ-शास्त्र के प्रणेता कौटिल्य (ई० पू० तृतीय शताब्दी), सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरित के रचयिता अश्वघोष (प्र० शताब्दी का मध्यकाल) के अनन्तर हुए हैं। अश्व-घोष बौद्ध कवि था। कालिदास उस समय हुए थे जब कि ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र का यह कथन पूर्ण निस्तेज नहीं हुआ था—'यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।' ऐसी अवस्था में यह कहना कि परम शैव, वैदिक परम्परा का कट्टर उपासक, आस्तिक कवि कालिदास अपनी कृतियों में वैष्णव कवि भास,

सौमिल्ल आदि कवियों का नाम जिस प्रकार सादर उद्धृत करता है, उसी प्रकार उसने अश्वघोष का नाम क्यों नहीं उद्धृत किया ? किन्तु इससे कालिदास की अश्वघोष से पूर्वभाविता नहीं सिद्ध की जा सकती । कालिदास बौद्धकवि अश्वघोष का नाम अपनी रचनाओं में आस्तिक कवियों के नाम के साथ भला कैसे लेता ? किसी कवि का नाम उद्धृत करना श्रद्धा का प्रकाशन है । ऐसी स्थिति में वैदिक परम्परा का कवि बौद्धदार्शनिक कवि का नाम भला कैसे उद्धृत करता ? उसकी रचनाओं का अध्ययन तो अपनी रचना को उत्कृष्ट वनाने के लिए आवश्यक था ।

कालिदास को ईसा पूर्व प्रथम शतक में रखने के लिए कुछ विद्वानों ने अथक प्रयास किया है । उनकी एक-एक वातों का हम यदि यहाँ उत्तर देने लगें तो एक विशालकाय ग्रन्थ वन जायगा । जो अभीष्ट नहीं है । यदि कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी में रहे होते तो वे शकों के आक्रमणों से अवश्य परिचित होते । शकों के इस रोमाञ्चक आक्रमण का वर्णन ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ गार्गी संहिता के युगपुराण में मिलता है । युगपुराण गार्गीसंहिता का प्राचीनतम अंश है । यह उपलब्ध पुराणों में सबसे प्राचीनतम है । संभवतः इसका रूप ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रस्तुत हो चुका था । क्योंकि उस काल के बाद के इतिहास का वर्णन इसमें नहीं मिलता । इतिहासकारों ने गार्गी संहिता का काल अधिक से अधिक ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व ही माना है । इसका काल तीसरी शताब्दो के वाद तो कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता । कालिदास अपनी इतनी विस्तृत कृतियों में शकों का कहीं भी उल्लेख नहीं करते । यदि वे पहली शती ई० पू० में हुए होते तो निश्चय ही शकों के उस आक्रमण को जानते, जिसका वर्णन युग पुराण ने किया है । इस आक्रमण ने पाटलिपुत्र के समस्त पुरुष-वर्ग का ही विनाश कर दिया था । वह लिखता है कि राजा नष्ट हो गये थे । प्रान्त विखर गये थे । वर्णाश्रम धर्म क्षत-विक्षत हो गया था । कालिदास ने अपने ग्रन्थों में पुराणों का संसार खड़ा कर दिया है । पौराणिक जनविश्वास, पुराणों के देवता, पौराणिक पूजा सभी उस पौराणिक साहित्य से सम्बद्ध हैं, जिसका संग्रह, संकलन और संस्करण गुप्तकाल में हुआ । पहली शती ई० पू० में पौराणिक साहित्य व्यवस्थित न था । उस समय उसका आधार लेकर तात्कालीन समाज का चित्रण संभव न था ।

देवताओं, उनकी मूर्तियों और मन्दिरों का जो विपुल संकेत कालिदास के ग्रन्थों में हैं, वह कुषाण कालीन कला प्रसूत गान्धार शैली और उसकी मूर्तिसम्पदा के बाद ही संभव था। गान्धार शैली की मूर्ति-संपत्ति को बौद्धों के महायान भक्ति-सरणि ने पूर्णतया बहा दिया था। महायान संप्रदाय का उदय ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ।

इस प्रकार देखा गया कि कालिदास का काल ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी के अनन्तर ही किसी समय ठहरता है। इसके पूर्व उन्हें नहीं ढकेला जा सकता। इसी प्रकार उन्हें छठी शती में भी नहीं रक्खा जा सकता, जैसा कि कुछ लोगों ने प्रयास किया है। इसका कारण यह है कि चार सौ बहत्तर (४७२) ई. में कुमार गुप्त द्वितीय के शासनकाल में मन्दसौर का अभिलेख लिखनेवाले कवि वत्सभट्टि ने मेघदूत और ऋतुसंहार का खुले आम अनुकरण किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य हैं:—

"चलत्पताकान्यबलासनाथा-
न्यत्यर्थ शुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट-
कुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि॥"

—वत्सभट्टि

"विद्युद्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥"

—कालिदास (उत्तरमेघ:—१)

"निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गभस्तयः ।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥
न चन्दनं चारु मरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतलाः जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम् ॥"

कालिदास (ऋतुसंहार, ५।२-३) ॥

अतएव कालिदास का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इनके अतिरिक्त आगे कुछ और प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनसे कालिदास का गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन होना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

गुप्तकालीन अभिलेखों तथा सिक्कों की भाषा से कालिदास के काव्यों की भाषा में असाधारण समानता देखी जा सकती है। गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर निर्मित मयूर-पृष्ठ पर बैठे कार्तिकेय का वर्णन कालिदास ने अनेकशः किया है। महाकवि का पद "मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन" उस स्थिति के कितने निकट है। 'कुमार' और 'स्कन्द' का सहेतुक प्रयोग कालिदास के उत्तर काव्यों में सरलता से देखा जा सकता है। ये 'कुमार' और 'स्कन्द' शब्द क्या गुप्त राजा कुमार-गुप्त तथा स्कन्दगुप्त की ओर मूक निर्देश नहीं करते ? इन शब्दों के प्रयोगों की वृद्धि निम्न रेखाचित्र में स्पष्ट देखी जा सकती है।

(क) विक्रमोर्वशीय—

कुमार—चार बार—चौथे अंक की प्रवेशिका, चौथे अंक के अन्त में, फिर चौथे अंक के अन्त में, और पांचवें अंक के श्लोक ७ में।

(ख) रघुवंश —

(१) स्कन्द—दो बार—सर्ग २, श्लोक ३६ और सर्ग ७, श्लोक १।

(२) कुमार—तीन बार—सर्ग ३, श्लोक १६ और ५५ तथा सर्ग ५, श्लोक ३६।

(ग) मेघदूत—

स्कन्द—एक बार-श्लोक ४५।

महाकवि के ग्रन्थों में जिस शान्त, सुखी और समृद्ध वातावरण का वर्णन हुआ है, वह व्यापार आदि से सम्पन्न उदारचेता नृपतियों से सुशासित राष्ट्र में

ही संभव था। ऐसा वातावरण उस समय केवल गुप्त सम्राटों के काल में सुलभ हो सकता है। कालिदास के ग्रन्थों में धार्मिक सहिष्णुता तथा दण्डनीति की विनम्रता का प्रचुर वर्णन हुआ है। "न खरो न च भूयसा मृदुः" जैसे पद इसी मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। चीनी यात्री फाह्यान ने धार्मिक सहिष्णुता तथा दण्डविधान की विनम्रता को गुप्त शासकों के शासन का जीवन बतलाया है। कवि पौराणिक परम्पराओं का कट्टर समादरकर्ता और समर्थक है। उनसे कवि के काव्य भरे पड़े हैं। पौराणिक साहित्य को पूर्णता गुप्तकाल में ही हुई है। हिन्दू बौद्ध तथा जैन मूर्तियों की गुप्त काल में असीम प्रचुरता थी। मूर्तियों का संसार कालिदास में उमड़ पड़ा है। कवि ने शाकुन्तल में भरत की गुँथी अंगुलियों (जालग्रन्थिताङ्गुलिकरः) का वर्णन किया है। इसी प्रकार की गुँथी अंगुलियों वाली मूर्तियाँ केवल गुप्त काल में ही उपलब्ध होती हैं। कालिदास ने गङ्गा-यमुना की चामरग्राहिणी मूर्तियों का उल्लेख किया है। इतिहास के पंडितों का कथन है कि इस प्रकार की मूर्तियों का आरम्भ कुषाण काल के अन्त तथा गुप्त काल के प्रारम्भिक समयों में हुआ है। समुद्रगुप्त की व्याघ्रलाञ्छित मुद्राओं पर गंगा की ऐसी ही मूर्ति बनी हुई है।

महाकवि कालिदास यूनानी शब्दों से भी परिचित हैं। उन्होंने जामित्र (दायामित्र) लग्न का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रवेश इस देश में अन्य ग्रीक ज्योतिष शब्दों के साथ ही पहली सदी ईसवी के आस-पास हुआ। इन शब्दों के इस देश में प्रचलन में भी कुछ समय लगा होगा। कवि के द्वारा इस शब्द का प्रयोग दो-तीन शती बाद ही किया जाना समीचीन है, क्योंकि उस समय तक यह शब्द सामान्य रूप से प्रचलित हो चुका होगा।

'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नाम में विक्रम शब्द का प्रयोग हुआ है। इतिहासकारों ने इस शब्द को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी मान्यता है कि नाटक के नायक पुरूरवा का नाम यहाँ न देकर उसके लिए विक्रम शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि कवि ने प्रच्छन्न रूप से अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य का संकेत किया है। 'कुमारसंभव' में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र बालक कुमार गुप्त की ओर संकेत करता है। संभव है, इस महाकाव्य का

प्रणयन कुमार गुप्त के जन्मोत्सव-प्रसंग पर किया गया हो। 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन है। रघु हूणों को वंक्षु नदी की घाटी में परास्त करता हैं। हूण ईरानी नृपति बहराम गौर से हारने के बाद ४२५ ई० के लगभग वंक्षु नदी की घाटी में आकर बसे थे। उस समय वंक्षु नदी ही फारस और उनकी बस्तियों के बीच की सीमा मान ली गई थी। उसकी दिग्विजय की सीमाएँ दक्षिण दिशा में समुद्रगुप्त की दिग्विजय से मेल खाती हैं और उत्तर दिशा में चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय-सीमा से साम्य रखती हैं। मेहरौली के स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने बंगाल में शत्रुओं को रौंद कर बंगाल की सातों नदियों को पार किया था। शायद उसके कुछ ही वर्ष बाद, संभवतः ४३० ई. में, रघुवंश रचा गया होगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' की विजयों का समवेत स्वरूप कवि के आदर्श नृपति रघु की दिग्विजय में समाहित हो गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास समुद्रगुप्त की विजयों से परिचित होने के साथ-साथ, चन्द्रगुप्त द्वितीय के संरक्षण में रहे और रघु के व्याज से उसी बेजोड़ शूरमा के शौर्य का वर्णन किया है।

अबतक के विवेचनों से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कालिदास ने विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता, सरस्वती के परमाराधक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आश्रय में दुलारपूर्वक पलकर रसभरित काव्यों की रचना की थी। चन्द्रगुप्त का शासनकाल ३८० ई. से लेकर ४१३ ई. तक माना गया है। अतएव कालिदास का स्थिति-काल ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच रहा होगा।[1]

महाकवि कालिदास विषयक स्थिति-काल की चर्चा के समापन के पूर्व कुछ अवशिष्ट बातों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। कालिदास का तीन बातों से दुर्निवार सम्बन्ध था:—

---

१. अधिक जानकारी के लिए पढ़िये—वी. वी. मिराशीकृत 'कालिदास', भगवतशरण उपाध्याय का 'कालिदास और उनका युग' तथा आर. एस. तिवारी कृत 'महाकवि कालिदास'।

१. वे विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे।

२. उनका आश्रयदाता उज्जयिनीपुराधीश्वर था।

३. उनका आश्रयदाता शकारि (शकों का उच्छेदक) था।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य उपाधिकारी था। डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल का कथन है कि मालवा और सुराष्ट्र की विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने चाँदी के सिक्के भी ढलवाये जिनके ऊपर उत्कीर्ण लेख में चन्द्रगुप्त को 'परमभागवत', 'विक्रमादित्य' या 'विक्रमार्क' की उपाधि से मण्डित किया गया है—"परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यस्य। × × श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमाङ्कस्य।"[1] 'यद्यपि स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, पर उसका काल बहुत पीछे है। अतः तीसरी सदी ईसवी के बाद और स्कन्दगुप्त के पहले चूँकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य है। अतः वही महाकवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य है। कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। वह आदि विक्रमादित्य हो, द्वितीय विक्रमादित्य हो या तृतीय विक्रमादित्य हो। विक्रमादित्य नामवाला हो या विक्रमादित्य उपाधिधारी हो इसका कोई प्रश्न नहीं है। इससे कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है। जहाँ तक मैं जानता हूँ महाकवि ने कहीं भूलकर भी ऐसा सङ्केत नहीं किया है कि—'मैं आदि विक्रमादित्य का या संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का आश्रित कवि हूँ। पता नहीं इतिहास के विद्वानों को यह धुन कहाँ से, कैसे और कब सवार हुई कि कालिदास को आदि विक्रमादित्य, संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का आश्रित कवि होना चाहिए। कालिदास ने तो केवल विक्रमालङ्कार तथा विक्रम की ओर ही संकेत किया है।[2] यह विक्रम या विक्रमादित्य कोई भी इस उपाधि या नाम को धारण करने वाला चक्रवर्ती सम्राट् हो सकता है। ऐसी स्थिति में अगर यह मान लिया जाय कि राष्ट्र को

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' विक्रमांक, उत्तरार्ध, पृ. २६९।

२. "अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः।"

"दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।"

विक्रमोर्वशीय, अंक १ ॥,

शान्ति, समृद्धि तथा वृद्धि प्रदान करने वाला चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य है और उसी की ओर महाकवि ने संकेत किया है, तो क्या अनुपपत्ति होगी ? इतिहास की कौन-सी धारा गलत प्रवाहित होने लगेगी ?

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रथम शती ई. पू. में कोई विशिष्ट विक्रमादित्य नहीं मिलता। किंवदन्तियों, कथा-कहानियों तथा स्वयम् अप्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर इतिहास का कोई भी तथ्य दृढ़तापूर्वक नहीं सिद्ध किया जा सकता। सबसे बड़े दुःख की बात यह भी है कि ५७ वर्ष ई. पू. से आरम्भ होने वाले विक्रम संवत् का उल्लेख नवम शताब्दी के पूर्व कहीं मिलता भी नहीं है।

द्वितीय बात के उत्तर में डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी का वह लेखांश उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा जो विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ के पेज २०३ पर छपा है। वे लिखते हैं कि—"चन्द्रगुप्त द्वितीय के साम्राज्य की राजधानी प्रयाग के स्तम्भ अभिलेख में पुष्प कहा गया पाटलिपुत्र नगर था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभियानों एवं विजयों से यह प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा के विदिशानगर से भी उनका सम्बन्ध था, जब कि उनके साथ अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करनेवाले कनारी-प्रदेशों के कुछ शासकों ने उनका वर्णन पाटलिपुत्र के अधीश्वर के साथ-साथ 'उज्जयिनी-पुराधीश्वर' के रूप से किया है। उनका उज्जयिनी के साथ सम्बन्ध परम्परागत शकारि विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता का भी अनुमोदन करता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपनी दूसरी राजधानी उज्जयिनी को ही बनाया था। चूँकि पश्चिम से, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र प्रदेश से, ही शकों के आक्रमण का अधिकतर खतरा रहता था, अतः चन्द्रगुप्त के लिए यह आवश्यक हो गया कि उज्जयिनी को (जो पहले अशोक के समय भी विशेषकर इसलिए कि उसी ओर से अधिकतर विदेशी आक्रमणों का संकट आता था, राजधानी रह चुकी थी) दूसरी राजधानी का वैभव दिया और बाद में यह दूसरी राजधानी प्रथम राजधानी से भी महत्त्वपूर्ण बन गयी। अतः यह कहना कि गुप्त सम्राटों की राजधानी उज्जयिनी नहीं, पटना ही थी, ठीक नहीं है।

तीसरी बात में विशेष दम नहीं है। इतिहास जानता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही प्रधानरूप से शकारि के विरुद से विभूषित किया गया है। यद्यपि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने उत्तराधिकार में सुविस्तृत साम्राज्य पाया था, पर उसके भोगने में एक बड़ा विघ्न था। मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र के शक्तिमान् शक-शासक उसके लिए जबर्दस्त खतरा थे। अतः वह उन्हें निर्मूल कर देना चाहता था। मालवा के शकों और गुप्तों के बीच वाकाटकों का ब्राह्मण राज्य था। उसने वाकाटक राज के साथ अपनी बेटी का ब्याह कर उनसे सन्धि कर ली। फिर क्या था, उसने शकों को निर्मूल कर उदयगिरि में अपनी विजय की प्रशस्ति के साथ वराह-विष्णु की पृथिवी उद्धार करती हुई मूर्ति खुदवायी। वह स्वयं उसके शकों से भारत-भूमि के उद्धार की प्रतीक थी। अब सारा मालवा (जिसकी राजधानी उज्जयिनी संसार के व्यापार का केन्द्र थी), गुजरात और काठियावाड़ उसके हाथ में आ गये एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक। शकराज को मार कर अपनी भाभी ध्रुवदेवी का उद्धार उसने किया था। यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है।[1] इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही शकारि हैं, उज्जयिनी पुराधीश्वर हैं और हैं साथ ही साथ महाकवि कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य भी।

इस तरह हर प्रकार से विचार करने पर हम पाते हैं कि महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। अतः महाकवि को ४०० ई० के लगभग उसी का समकालीन होना चाहिए।

इस समय तक प्रायः सभी प्रसिद्ध स्मृतियों की रचना हो चुकी थी। स्मृति-ग्रंथों से कालिदास पूर्ण परिचित हैं।[2] स्मृतियों की रचना ई० सन् के बाद ही हुई है। अतः कालिदास को ई० पू० में रखना तर्कसङ्गत न होगा।

---

१. 'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपति-मशातयदिति।' हर्षचरित, छठा उच्छ्वास।

२. 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।' रघु० २। २॥

(ख) कालिदास का जन्मस्थान

कोहेनूर हीरे की उत्पत्ति किस देश में हुई ? किस खान को इसे उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है ? यदि आज यह प्रश्न पूछा जाय तो प्रत्येक देश, देश की प्रत्येक खान, प्रत्येक खान का हर मैनेजर, मैनेजर के अधीन काम करने वाले प्रत्येक श्रमिक का साधिकार यही कथन होगा कि यह हीरा मेरी खान से निकला है। इसे पाने का गौरव केवल मुझे ही है। ठीक यही वात महाकवि कालिदास के जन्मस्थान की जिज्ञासा होने पर दृष्टिगोचर होती है। थोथी दलीलों के वल पर बंगाली भाई कालिदास को बंगाल का ही रत्न बतलाते हैं। मैथिल वन्धु इस महाकवि को अपने वीच की विभूति बतलाते हैं। मध्य प्रदेशियों का दावा है कि कालिदास मध्यप्रदेश की कवि माला के मध्यमणि हैं। कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीर तथा मालवा से सम्वद्ध सिद्ध करते हैं। प्रवल प्रमाण के अभाव में अन्य मत उपेक्षणीय हैं। इनमें केवल मालवा (उज्जयिनी जिसकी राजधानी थी) और कश्मीर ही विचार के योग्य जान पड़ते हैं। वस्तुतः महाकवि ने इन दोनों प्रदेशों के लिए जो आत्मीयता प्रदर्शित की है, उससे ज्ञात होता है कि इन प्रदेशों का घनिष्ठ सम्बन्ध उससे रहा होगा। वास्तविकता तो यह है कि आलोचकों तथा इतिहासकारों के प्रधानतया दो ही मत हैं :—१. कालिदास कश्मीर के थे। २. कालिदास उज्जयिनी के थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृत-प्रोफेसर महामहोपाध्याय पं० लक्ष्मीधर कल्ला ने अपने ग्रंथ कालिदास का जन्म-स्थान (The birth place of Kalidas) में यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि कालिदास कश्मीर के ही हीरक थे। उनकी उक्तियों का सार इस प्रकार दिया जा सकता है:—

'कालिदास के ग्रंथों में हिमालय का विस्तृत तथा अतिसूक्ष्म वर्णन किया गया है। कुमारसंभव तो हिमालय के ही वर्णन से आरम्भ होता है। 'मेघदूत' के यक्ष की निवास-भूमि अलका हिमालय के ही गोद में बसी थी। 'विक्रमो-र्वशीय' के पुरूरवा और उर्वशी तथा 'कुमारसंभव' के शिव और पार्वती—दोनों युग्मों की प्रणयलीला कश्मीर के पास गन्धमादन पर्वत पर हुई थी। 'रघु-

वंश' के वशिष्ठ, शाकुन्तल के कण्व तथा मारीच आदि कवियों के आश्रम हिमालय में बसे हैं। ये सभी स्थान कश्मीर के सिन्धु नद की घाटी में ही अवस्थित थे। इन उल्लेखों से हिमालय के प्रति कवि का आगाध प्रेम प्रदर्शित होता है। 'रघुवंश' में वशिष्ठ की गाय पर झपटने वाले सिंह का नाम 'कुम्भोदर' था। वह अपने को निकुम्भ का मित्र बतलाता है। कश्मीर के 'नीलमत' पुराण में कुबेर ने दैत्यों के निष्कासनार्थ निम्कुभ को नियुक्त किया है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास को काश्मीर की प्राचीन कथाओं का पर्याप्त ज्ञान था। उनके काव्यों में कश्मीर के कतिपय रीति-रिवाजों का वर्णन मिलता है। हिमालय का गुफाओं, वहाँ के स्थानों आदि का वर्णन महाकवि की कृतियों में किया गया है। सिन्धु तथा मालिनी नामक नदियों, शचीर्तीर्थ, सोमतीर्थ, ब्रह्मसर तीर्थ तथा शक्रघाट आदि कश्मीर में ही हैं। यक्ष कश्मीर में मेघ को वही मार्ग बतलाता है जो नीलमत पुराण में प्रयाग से हर मुकुट तक शिव के जाने का बतलाया गया हैं। कालिदास के काव्यों पर कश्मीर के शैवदर्शन प्रत्यभिज्ञा का प्रकट प्रभाव देखा जा सकता है। प्रो० कल्ला के अनुसार हरमुकुट की उपत्यका का बसामय ग्राम ही मेघदूत की अलका है। और यही है कवि का जन्म ग्राम।

डा० वासुदेव विष्णु मिराशी आदि कतिपय विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि कालिदास के शैशव की क्रीड़ास्थली उज्जैनी थी। उनके मतों का सार इस प्रकार है:—मालवा के प्रति कालिदास को विशेष अनुराग है, वह मेघदूत में यहाँ को राजनगरी उज्जयिनी का अत्यन्त तन्मयता के साथ पक्षपातपूर्ण वर्णन करता है। कवि ने इसके वैभव, लोक कथानकों, कथाओं, प्रसिद्ध महाकाल के मन्दिर, मन्दिर में होने वाली आरती, आरती के समय सम्पादित वेश्या-नृत्य, आदि का हृदयाकर्षक वर्णन किया है। इस नगरी के सौन्दर्य एवं सौभाग्य पर कवि इतना मुग्ध है कि वह इसे स्वर्ग का एक कान्तिमान् खण्ड समझता है। जिसे स्वर्ग में अपने पुण्यों का फल भोगने वाले पुण्यशाली व्यक्ति, पुण्य समाप्त होने के पहले ही शेष पुण्य के बदले, अपने साथ धरती पर उतार लाये हैं :—

'स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥'

स्पष्ट है कि कवि उज्जयिनी के वर्णन में आचूड रम गया है, मग्न हो गया है। यही कारण है कि रामगिरि से कैलास की ओर जाने में नगरी-ललाम उज्जयिनी के सीधे मार्ग में न पड़ने पर भी कवि मेघ को वहाँ सानुरोध भेजता है:—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥

—(पूर्वमेघ २९)

'यद्यपि उत्तर की ओर जाने में तुम्हारा मार्ग टेढ़ा हो जाएगा, फिर भी तुम उज्जयिनी के प्रासादों के क्रोड में चलनेवाली प्रणय-लीलाओं से विमुख मत होना। तुम्हारी विजली की कौंध से चकित होकर नगरी की सुन्दरियाँ जो चंचल कटाक्ष चलाएँगी, उनमें यदि तुम्हारा मन न रमा, तो समझो कि तुम्हारे नेत्र व्यर्थ हैं। अथवा तुम्हारा जन्म ही निरर्थक है।'

अतः यह सत्य है कि अलका को छोड़कर किसी अन्य नगरी का कवि ने इतना मनोरम वर्णन नहीं किया है। उज्जयिनी के प्रति इस विशाल पक्षपात को देख कर प्रो० मिराशी ने लिखा है कि कि उज्जियिनी के वर्णन में कवि नखशिख तक तल्लीन दिखाई पड़ता है। इन्हीं कतिपय बातों को ध्यान में रखते हुए प्रो० मिराशी ने प्रो० कल्ला के मत का प्रत्याख्यान कर कवि को उज्जयिनीनिवासी वतलाने का प्रयास किया है। उनक कहना है :—

कालिदास नाम कश्मीरी नहीं है। भामह, रुद्रट, कैयट, मम्मट, कल्हण इत्यादि पण्डितों के उल्लेख 'राजतरंगिणी' तथा अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, लेकिन कालिदास का नाम इनमें कहीं उपलब्ध नहीं होता।[1] यदि कालिदास कश्मीर के होते तो कल्हण जैसा सावधान और जिज्ञासु इतिहासकार इसका उल्लेख 'राजतरंगिणी' में अवश्य किये होता। इस पर संक्षेप में केवल इतना ही कहना है कि कश्मीर में सभी विद्वान् कवियों आदि के नाम कैयट,

१. कालिदास (पृ० ६०)।

कल्हण आदि की तरह सभी टकारान्त या णकारान्त ही नहीं होते। क्षेमेन्द्र, अभिनव गुप्त, जयरथ, जयद्रथ, परिमल गुप्त आदि नाम कश्मीरी हैं और कवियों के हैं। अतः नाम के आधार पर कालिदास को गैर-कश्मीरी सिद्ध करने का प्रयास गैर जिम्मेदारी होगी। कालिदास इस नाम को देखकर यह कहना कि कवि शिव-भक्त था। अतः यह नाम ठीक नहीं है। ऐसे स्थलों पर यह ध्यान रखना चाहिए है कि कोई भी व्यक्ति बड़ा हो जाने पर अपना नाम नहीं रखता। नाम रखने का काम माँ-बाप बचपन में करते हैं। नाम और व्यक्ति के काम या स्वीकृत धर्म से कोई मतलब नहीं होता। यदि कालिदास के इस नाम पर बंगाली भाई यह कहते कि काली-पूजा के प्रधान प्रदेश बंगाल में कालिदास हुए थे तब तो विश्व या देश के सभी दुर्गादास, अम्बिकाप्रसाद, चण्डीदास, संकठाप्रसाद आदि बंगाली ही कहे जाएँगे। यौवन की मध्यवेला में कश्मीर का परित्याग करने वाले कालिदास का उल्लेख यदि राजतरंगिणी में नहीं हुआ है तो इससे क्या हुआ। राजतरंगिणी शत प्रतिशत ऐतिहासिक ग्रन्थ है, इसे भला कौन विवेकी व्यक्ति स्वीकार करेगा? इसके साथ ही दूसरी बात यह भी है कि तारुण्य की वेला में, जब कवि प्रसिद्धि के शिखर पर चढ़ रहा था उसका काश्मीर छोड़कर अन्यत्र चला जाना भला किस स्वाभिमानी कश्मीरी को पसन्द आएगा। प्राचीन काल में विशिष्ट राज-नैतिक परिस्थितियों के कारण यह मनोभावना अत्यन्त उग्र रही होगी। अतः कल्हण से हम कालिदास के नामोल्लेख की पूरी-पूरी आशा कैसे कर सकते हैं?

कल्हण की ही भाँति महाकवि बिल्हण ने भी अपने जन्म से कश्मीर को सुशोभित किया है। कल्हण की राजतरंगिणी की ही तरह बिल्हण का विक्रमांक-देवचरित भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसके प्रथम सर्ग में ही कवि साभि-मान लिखता है—

सहोदरा कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

तथा—

काव्यं येभ्यः प्रकृतिसुभगं निर्गतं कुङ्कुमं च,
छायोत्कर्षाद् भवति जगतां वल्लभं दुर्लभं च।

यस्मिन्नन्तः स्थितवति जगत्सारभूते प्रयाताः
काश्मीरास्ते नियतमुरगाधीशरक्षास्पदत्वम् ॥

"निश्चय ही कविता के विलास कुंकुम और केसर के सहोदर हुआ करते हैं। क्योंकि कुंकुम और केशर के देश शारदा प्रदेश (कश्मीर) को छोड़कर अन्यत्र मैंने कविताविलास को अङ्कुरित होते देखा ही नहीं है।"

और भी

"जिस प्रदेश से प्रकृति से ही मनोहर काव्य और कुंकुम निकले हैं।" आदि-आदि।

यदि महाकवि कालिदास काश्मीर के न रहे होते तो विल्हण का यह साभिमान उल्लेख करने का साहस कैसे होता ? विल्हण ११ वीं शती के कवि हैं। इनके समय तक काव्यगगन में कालिदास के काव्यों की प्रभा पूरी स्निग्धता के साथ छा चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में वे कालिदास की ओर से कैसे आँख बन्द करके उक्त घोषणा करते ? स्पष्ट है विल्हण के काल तक लोगों की यह धारणा रही कि महाकवि कालिदास कश्मीर की ही विभूति हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि की लेखनी अलका एवं उज्जयिनी दोनों के ही वर्णन में नखशिख तक तल्लीन दिखाई पड़ती है। परम्परा उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की सभा का उज्ज्वलतम हीरक समझती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की दूसरी और शायद बाद में प्रधान, राजधानी उज्जयिनी थी। अतएव यह मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती कि कालिदास का जन्म कश्मीर में हुआ था। उसी के केसर-कुंकुम की पराग भरी धूलि में लोटपोट कर कालिदास ने शैशव बिताया था। किशोरावस्था की प्रणय-लीला का पूर्वाभ्यास किया था। प्रौढ़ावस्था की ऊषा वेला में रस-क्रीड़ा का अभ्यास आरम्भ किया था। बाद में परिस्थितिवश उसे अपनी जननी की तरह प्राणप्रिया जन्मभूमि को छोड़कर उज्जयिनी आना पड़ा। वहाँ उसे सौभाग्यवश राजपरिषद् का वैभवपूर्ण वातावरण प्राप्त हुआ। यहीं कवि कालिदास ने अपनी काव्य-प्रतिभा के आलोक से तात्कालिक कवि विद्वत्-समूह को मुग्ध कर महाकवि के विरुद को

धारण किया। संस्कृत कविता को विश्ववन्द्य सिंहासन पर बैठाकर भारत का भाल उन्नत किया।

कालिदास का शास्त्रीय ज्ञान—कालिदास की रचनाओं को पढ़ते समय यह ज्ञात होता है कि महाकवि की बुद्धि सकल शास्त्रों का भली-भाँति अवगाहन करनेवाली है। औपनिषदिक वेदान्त-विद्या की छटा यत्र-तत्र बिखेरते चलना उनकी वेदान्त-विद्या-विदग्धता का परिचायक है। जगत् और ब्रह्म की एकात्मकता, ब्रह्म की जगत् रूप कार्यरूप में परिणति आदि बातें कुमारसंभव में कितनी चारुता के साथ, कितनी काव्यात्मक सरल शैली में वर्णित हुई हैं, यह देखते ही बनता है।

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे॥ आदि

इसी प्रकार 'आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव' आदि वचनों से यह यज्ञादि कर्मकाण्ड-कलाप के ज्ञान के साथ ही वेदोच्चारण विधि का प्रकार भी सूचित करता है।

शाकुन्तल में हंसपदिका के सस्वर गीत को सुनकर राजा उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है:—'अहो रागपरिवाहिणी गीतिः' रघुवंश में भी कवि ने अपनी संगीतविदग्धता का परिचय देते हुए लिखा है:—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः॥

कालिदास चित्रकला एवं मूर्तिकला में परम प्रवीण परिलक्षित होते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल का उत्तरार्द्ध उनकी तूलिका की करामातों से भरा पड़ा है। वे रेखाओं, चित्रों तथा शब्दविन्यासों के द्वारा समान रूप से भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं।

इस महाकवि के ग्रन्थों का जब हम सावधान अध्ययन करते हैं तब देखते हैं कि अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा पुराणों की प्रधान-प्रधान बातें, उनके रहस्य, बड़ी पटुता के साथ वर्णित किये गये हैं। ज्योतिषशास्त्र के तो कालिदास बहुत विद्वान् पण्डित लगते हैं। आगे लिखित श्लोक से उनका ज्योतिष-विषयक परिपक्व ज्ञान परिलक्षित होता है।

ग्रहैस्ततः पंचभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदाम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा, त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥

रघुवंश में रघु तथा इन्द्र के युद्ध से तथा शाकुन्तल में दुष्यन्त के शब्दभेदी वाण चलाने की कला से महाकवि के युद्धविषयक ज्ञान की सूचना मिलती है।

साहित्यशास्त्र के मूलबीज महाकवि के ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। रघुवंश के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने काव्य का लक्षण निर्दिष्ट किया है:—'शब्दार्थौ काव्यं' इसीप्रकार कविवर कालिदास अपने व्याकरण की प्रौढ़ता को भी यत्र तत्र सूचित करते चलते हैं। 'वागर्थाविव' में 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक का तथा पितरौ में 'पिता मात्रा' इस सूत्र का स्मरण दिलाते हुए क्या वे अपनी व्याकरण-विदग्धता को प्रदर्शित नहीं करते ? इसी प्रकार व्याकरण में उपमा की साधिकार छटा विखेरना अकेले कालिदास का ही काम है। जरा देखिये तो इस प्रकार की उपमाओं की छटा :—

स हत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्यवेशयत् ॥

यहाँ 'धातोः स्थान इवादेशम्' यह कैसी हृदयाकर्षक उपमा है। जिस तरह 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' तथा 'इण्' के स्थान में 'गा' आदि आदेश स्थानी के सभी कार्यों को करते हैं, उसी प्रकार स्थानी बालि के समस्त राज्यकार्य उसके स्थान पर बैठाया गया सुग्रीव करेगा यही है इस श्लोक का भाव। इस प्रकार की बहुत सी उपमाएँ कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसंभव में भरी पड़ी हैं।[1]

कालिदास की अन्य कृतियाँ

कालिदास की सच्ची कृतियों का निर्णय करना आलोचकों के लिए दुरूह

---

१. इस प्रकार की ओर भी उपमाएँ देखी जा सकती हैं:—

य: कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ रघु० (१५।७)
लब्धप्रतिष्ठः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः ।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥ कुमार० (२।२७)

कार्य है। इसका कारण यह है कि संस्कृत काव्याकाश में कालिदास सर्वाधिक श्रद्धास्पद कविनक्षत्र हुए हैं। अतः उनके वाद होने वाले वहुत से कवियों ने कालिदास का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपाया है। कम से कम राजशेखर (१० शतक) तक तीन कालिदास हो चुके थे–'कालिदासत्रयी किमु'। अतः कालिदास की यथार्थ कृतियों का आकलन अत्यन्त दुरूह कार्य है। फिर भी लोगों ने सर्वसम्मति से परम्परा, ग्रन्थों के उल्लेख, उदाहरण तथा भाषा की शैली एवं भावों की समानता के आधार पर निम्नग्रंथों को कालिदासविरचित माना है।

१. काव्य

(क) ऋतुसंहारः— ऋतुसंहार कालिदास की प्रथम काव्यकृति है। इतिहासकारों के अनुसार बालकवि कालिदास ने काव्य-कला का आरम्भ ऋतुवर्णनपरक इसी लघुकाव्य से किया था।

(ख) कुमारसम्भव—यह कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश यह अधूरा ही उपलब्ध होता है। उसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी से प्रसूत हैं। अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलङ्कारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों से पद्यों को उद्धृत किया हैं। मल्लिनाथ की सञ्जीवनी टीका भी इन्हीं सर्गों पर उपलब्ध है।

(ग) मेघदूत—यह कालिदास की अनुपम प्रतिभा का परिपक्व निदर्शन है। वियोग-विधुरा प्रेयसी के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजना इस गीतिकाव्य का कथ्य है। इस ग्रन्थ ने वाह्य-जगत् के विद्वानों का ध्यान प्रमुखरूप से आकृष्ट किया है। इस पर ५० से अधिक टीकाएँ लिखी गई हैं।

(घ) रघुवंश—भारतीय आलोचक रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं। इस पर प्रभूत ४० टीकाओं की रचना से इसकी महत्ता स्वयमेव प्रकट हो जाती है। १९ सर्गों का यह महाकाव्य काव्य-जगत् का मध्यमणि है।

२. नाटक

कालिदास के तीन नाटक प्रसिद्ध हैं :— (क) मालविकाग्निमित्र, (ख) विक्रमोर्वशीय और (ग) अभिज्ञानशाकुन्तल।

(क) कालिदास क नाटकों में 'मालविकाग्निमित्र' सबसे अवर नाटक है। इसमें शुंगवंशीय नृपति अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर मनोरमता के साथ अंकित किया गया है।

(ख) 'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान की कमनीय प्रेम-छटा विखेरी है। यह प्रेमाख्यान ऋग्वेद (१०।९५) तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में निर्दिष्ट किया गया है।

(ग) अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदास का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इसे नाटकसाहित्य का मध्यमणि बतलाया है:—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।' पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे सर्वोत्कृष्ट नाटक कहा है।

ये ही ग्रन्थ महाकवि के निर्विवाद हैं। कई विद्वान् ज्योतिर्विदाभरण आदि कतिपय ग्रन्थों को भी महाकवि कालिदास की ही कृति मानते हैं, किन्तु अभी तक सभी आलोचक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं।

कालिदास की मान्यताएँ

कालिदास कट्टर वैदिक परम्परा के ब्राह्मण कवि हैं। उनके ग्रन्थों में ब्राह्मण-कालीन यज्ञीय परम्परा का अक्षुण्ण निर्वाह तथा औपनिषदिक पद्धति का अविकल सन्देश मिलता है। उनके काव्य पौराणिक विचारधारा के प्रतिनिधि ग्रंथ प्रतीत होते हैं। सनातन धर्म और ब्राह्मण-दर्शन की, उपमा के व्याज से, यत्र-तत्र झाँकी विखेरते चलना कालिदास की सहजात प्रकृति है। पौराणिक-वाङ्मय एवं स्मृतियों[1] में प्रतिपादित वर्णव्यवस्था के वे परम समर्थक हैं।[2] वे नित्य श्रौतविधि से हवन के पक्षपाती हैं। शाकुन्तल में आश्रम से लेकर राजमहल तक अग्निस्थापन की अनूठी झाँकी देखने को मिलती है। उनके ग्रंथों के आरम्भिक मंगलाचरणों के देखने से सिद्ध होता है कि वे शैवमतानुयायी थे। किन्तु

१. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥ शाकु० (६। १।)

२. श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। रघुवंश (२। २।)

विष्णु एवं वैष्णवों के प्रति भी उनके मन में महान् समादर था। उनका रघुवंश वैष्णव काव्य है। व्रत-उपवास, देवार्चन, सन्ध्या-वन्दन आदि का दृश्य उनके काव्यों में सर्वत्र मोहक दृश्य उपस्थित करता है। वे लोक-प्रचलित शकुन, निमित्त आदि को मानने के पक्षपाती थे। ज्योतिष आदि में उनका प्रगाढ़ विश्वास था। संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक काल तक की परम्पराप्रचलित सारी धर्म-सम्बन्धी बातें उन्हें मान्य थीं, इष्ट थीं। लोकाचार का वे सर्वथा हार्दिक समर्थन करते थे। परलोक, स्वर्ग-नरक आदि में उनका दृढ़ विश्वास था। उनके समक्ष श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित अर्थ-अधर्म की परिभाषा थी। जिसका पालन वे सबके लिए आवश्यक समझते थे। वे स्त्री-शिक्षा तथा पर्दा-प्रथा के पक्षपाती थे। उनकी नायिकाएँ ललित कला के साथ ही साथ काव्य-कला में भी पारङ्गत थीं। शकुन्तला स्वयं कविता करना तथा लिखना-पढ़ना जानती है।

कालिदास कर्मवाद और पुनर्जन्म पर विश्वास करते थे।[1] अपने कर्मों के कारण ही उर्वशी तथा हरिणी को मृत्युलोक में आना पड़ा। पुनर्जन्मवाद का समर्थन उन्होंने जगह-जगह किया है। वस्तुतः कालिदास वर्ण, आश्रम और सनातन धर्म के परम्परावादी कवि थे।

मेघदूत का प्रेरणा-स्रोत

कालिदास के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि वाल्मीकिरामायण तथा पुराणों का उन पर प्रबल प्रभाव पड़ा है। अतः महामहोपाध्याय मल्लिनाथ का यह कथन पूर्ण सत्य है कि भगवान् रामचन्द्र जी ने सीता जी के लिए हनुमान् जी को दूत बनाकर जो सन्देश दिया था उसी से प्रेरणा पाकर महाकवि कालिदास ने मेघदूत की रचना की है। इस तथ्य का समर्थन स्वयं मेघदूत के कतिपय

---

१. तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥
(शाकु० ५। २।)

स्थलों से होता है[1]। उत्तरमेघ के सैंतीसवें श्लोक से तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वयं महाकवि कह रहे हों कि मेघ को दूत बनाकर सन्देश भेजने की यह प्रेरणा मैंने सीता को कहे गये हनुमत्संदेश से ली है :

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैव।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता ! सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात्किञ्चिदूनः ॥

इसी प्रकार रामायण में वर्णित हनुमान जी का हाथी और पर्वत की चोटी से सादृश्य एवं कामरूप होना (अर्थात् इच्छानुसार रूप धारण करना) मेघदूत में भी मेघ के लिए बतलाया गया है। सुवेल पर्वत पर स्थित लङ्का के समान कैलास पर्वत की चोटियों के मध्य में बसी हुई अलका का वर्णन, लङ्का में हनुमान् की तरह अलका में मेघ का सायङ्काल की वेला में प्रवेश, लङ्का-प्रवेश के समय हनुमान् जी के द्वारा अपना शरीर छोटा करने के समान यक्ष का सन्देश कहने के लिए मेघ का लघुरूप धारण करना, राम के वियोग में अशोक-वाटिका में स्थित सीता की करुण-दशा की भाँति यक्ष-पत्नी की मार्मिक अवस्था का वर्णन, एवं हनुमान् जी के द्वारा सन्देश कहने के समय अभिज्ञान देने तथा कहने के समान मेघदूत में भी मेघ के द्वारा अभिज्ञान कहने से तथा अन्य कतिपय समानताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कालिदास ने अपनी कृति मेघदूत में रामायण से ही पर्याप्त प्रेरणा ली है। इतनी प्रचुर समानताओं को आकस्मिक कहना समीचीन न होगा।

किसी व्यक्ति को दूत बनाकर सन्देश भेजने की भारतीय प्रथा अति प्राचीन है। किन्तु स्वतन्त्ररूप से दूतकाव्य का प्रणयन सर्वप्रथम महाकवि कालिदास ने ही किया है। मेघ को दूत बनाने की कल्पना महाकवि की अपनी है। पण्डित हरिनाथ दे ने लिखा है कि "कालिदास के पूर्व चीन के कवि स्यूकाङ् (Hsiukan) ने

---

१. जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु।—पूर्वमेघ १२॥
रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।—पूर्वमेघ १२॥
दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः।—पूर्वमेघ ५८॥

अपने काव्य में सर्वप्रथम मेघ को दूत बनाया था।" किन्तु गमनागमन के साधन से विहीन अतिदुर्गम मार्ग वाले तात्कालिक समय में दूसरे सुदूर देश के एक कोने में किसी के द्वारा कुछ काम करने से महाकवि की मौलिकता का व्याहनन नहीं होता। स्यूकाङ् (Hsiukan) का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी माना गया है।

मेघदूत के कथानक का उपजीव्य

इस प्रकार अब तक देखा गया कि मेघदूत के सन्देशप्रेषण का उपजीव्य 'वाल्मीकिरामायण' है। किन्तु मेघदूत के कथानक का उपजीव्य ब्रह्मवैवर्तपुराण है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में 'योगिनी' नामक आषाढ़ कृष्ण एकादशी का माहात्म्य वर्णित है। उस प्रसङ्ग में वहाँ एक कथा आती है:—"अलका के अधिपति यक्षराज कुबेर शिव जी के परम भक्त थे। शिवजी का अबाध दैनिक अर्चन उनका प्रिय व्रत था। उनकी पूजा में नित नूतन पुष्प लाकर देने के लिए एक सेवक नियुक्त था। उसका नाम था—'हेममाली'। हेममाली की पत्नी 'विशालाक्षी' परम सुन्दरी थी। एक दिन एक घटना घटी। हेममाली मानसरोवर से फूल तो लाया, किन्तु वह सीधे कुबेर के पास न जाकर अपनी प्राणप्रिया पत्नी के पास चला गया। प्रियतमा की प्यारी-प्यारी बातों का आनन्द लेने में हेममाली इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने कर्तव्य की बात भी भूल गई। उधर कुबेर मध्याह्न में शिवजी की पूजा करने के लिए फूलों की प्रतीक्षा में बैठे थे। जब पूजा का नियत समय बीत गया तब कुबेर के मन में क्रोध ने जन्म लिया। उन्होंने शिवजी का तिरस्कार करने के कारण यक्ष हेममाली को कुष्ठ रोगी होने तथा वर्ष भर कान्ता से वियुक्त होकर मर्त्यलोक में रहने के लिए शाप दे डाला।" इसी कथानक के आधार पर महाकवि ने अलकापुरी में रहनेवाले किसी यक्ष को शापवश रामगिरि पर रहने वाला बनाया है। कथानक के आगे के अंश को काव्य के अनुरूप न होने से महाकवि ने छोड़ दिया है।

इस प्रकार महाकवि ने काव्य के अनुकूल पुराण के अंश को लेकर तथा अनुपयुक्त अंश को छोड़कर अपनी अनुपम कल्पनाशक्ति के माध्यम से मेघदूत की रचना की है। मेघ को दूत बनाने तथा वियुक्ता प्रिया को सन्देश कहने में महाकवि की दक्षता तथा अनुपमता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि महाकवि कालिदास ने सन्देश-प्रेषण की प्रणाली में रामायण का तथा कथानक में अंशतः ब्रह्मवैवर्तपुराण का अनुसरण कर इन्हीं दो भित्तियों के सहारे अपने वाग्वैभव का प्रदर्शन किया है। फिर भी मेघदूत का सब कुछ नया है, अनूठा है, प्रशंसार्ह है और है हृदयवन्द्य भी।

मेघदूत : एक परिशीलन

काव्य और उसके भेद—रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (साहित्यदर्पण)। काव्य के दो भेद होते हैं—दृश्यकाव्य तथा श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य उसे कहते हैं, जो मञ्च पर अभिनीत होकर देखा जा सके। शाकुन्तल आदि नाटक इसी कोटि के काव्य हैं। श्रव्य काव्य वह है जिसका अध्ययन कर पाठक स्वयं रसास्वादन कर सकते हैं। यदि कोई दूसरा भी व्यक्ति पढ़कर सुनाता है तब भी इससे श्रोता को रसानुभूति होती ही है। श्रव्यकाव्य के तीन भेद होते हैं—गद्य, पद्य और चम्पू। चम्पू गद्य-पद्यमिश्रित होता है। पद्य काव्य के भी तीन भेद होते हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य।

महाकाव्य—यह एक विशाल प्रबन्ध-काव्य है। इसमें किसी प्रख्यात राजा, देवता तथा एक ही वंश के अनेक राजाओं का पूरा-पूरा जीवनवृत्त वर्णित होता है। नगरों, ऋतुओं, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन-विहार, जल-क्रीडा, यज्ञ तथा यात्रा आदि के वर्णन का भी इसमें विधान होता है। महाकाव्य में शृङ्गार, वीर अथवा शान्त—इनमें से कोई एक रस प्रधान रहता है और दूसरे रस उसके पोषक हुआ करते हैं। समग्र कथानक सर्गों में बँटा रहता है। कुमारसम्भव तथा रघुवंश—कालिदास के महाकाव्य हैं।

खण्डकाव्य—यह आकार में महाकाव्य की अपेक्षा बहुत छोटा होता है। इसे गीतिकाव्य भी कहते हैं। यह महाकाव्य का एक खण्ड ही होता है। इसमें जीवन का समूचा इतिवृत्त न होकर किसी एक ही पहलू या अंश का वर्णन रहता है। जो भेद एक उद्यान तथा उसके अङ्ग एक पौधे में है, वही भेद महाकाव्य एवं खण्डकाव्य में है :—"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।" (साहित्यदर्पण)। मेघदूत एवं ऋतुसंहार इसके उदाहरण हैं।

मुक्तक—स्वच्छन्द रूप से रचे गये काव्य-संग्रह को मुक्तक कहते हैं। इसमें प्रत्येक पद्य अपने आपमें पूर्ण एवं स्वतन्त्र होता है।

मेघदूत—मेघदूत संस्कृत-साहित्य के गीति-काव्यों में मूर्धाभिषिक्त खण्डकाव्य है। कवि की परिपक्व कला, कल्पना की ऊँची उड़ान, परिष्कृत मधुर भाषा, थिरकती हुई धारावाहिक गति एवं गीति की एकतानता के सम्मिश्रण का यह एक ऐसा आदर्श काव्य है, जिसकी टक्कर का दूसरा काव्य, भारत ही नहीं, विश्व में भी अन्वेषण करने पर नहीं मिलेगा। मेघदूत 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में लिखा हुआ एक लघु काव्य है। इसमें कुवेर के शाप से प्रियतमा से बिछुड़े हुए एक यक्ष के व्यथित हृदय की वेदना भरी कहानी है। इसमें हृदय को द्रवित कर देने वाली 'विप्रलम्भ' की एक करुण-गीतिका है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमेघ तथा उत्तरमेघ।

पूर्वमेघ

कोई तरुण यक्ष है। अभी-अभी विवाह कर उसने अपना घर बसाया है। उसकी प्रिया तरुणी तथा अति सुन्दरी है। तरुण यक्षाधिपति की सेवा में नियुक्त है। अपनी प्रियतमा को क्षण भर के लिए छोड़ना भी उसे सह्य नहीं है। फलतः वह अपने मालिक कुवेर की सेवा में असावधानीवश कुछ त्रुटि कर बैठता है। कुवेर क्रुद्ध हो जाते हैं। क्रोध पाप का मूल होता है। अतः वे अपने सेवक यक्ष को शाप दे बैठते हैं:—'वर्ष भर के लिए तुम्हें देशनिकाले की सजा दी जा रही है। इस अवधि में तुम्हें अपनी प्रियतमा से अलग रहना पड़ेगा।' यक्ष ने शाप शिरोधार्य किया। आखिर वह बेचारा कर ही क्या सकता था? डबडबाई आँखों से उसने अपनी हृदयवल्लभा प्रियतमा से विदा ली। अलका से निकल कर वह विन्ध्य की शृङ्खला रामगिरि पर निवास करने लगा। कभी यहीं पर भगवती सीता के साथ भगवान् रामचन्द्र भी, अपने वनवास के दिनों में, डेरा डाले हुए थे। ग्रीष्म अपने अवसान पर था। आषाढ़ मास के वैभव का उमड़-घुमड़ कर आना आरम्भ हो रहा था। एक दिन यक्ष ने पर्वत की चोटी पर उमड़ते हुए मेघ को देखा। देखा तो देखता ही रह गया। उसका हृदय भर आया। प्रियतमा के साहचर्य की सारी बातें उसके हृदय-पटल पर नाचने लगीं। प्रिया-विहीन

उसका हृदय छटपटाने लगा। मेघ के दिखलाई पड़ने पर प्रियतमा की गोद में लेटे हुए व्यक्ति का भी हृदय उत्कण्ठित हो उठता है तो फिर उस व्यक्ति का क्या कहना जो प्रेयसी के कण्ठालिङ्गन का शौकीन है और साथ ही साथ प्रिया से बिछुड़ कर बहुत दूर पड़ा हुआ है। कुछ ही क्षणों में यक्ष सचेत हुआ। उसने सोचा—क्यों न मेघ के ही द्वारा वियोग के दिन गिनती हुई प्रियतमा को सन्देश भेज दिया जाय ? फलतः कुटज के फूल तोड़ कर उसने पूजा के लिए अर्घ्य बिखेर ही दिया। इसके बाद वह विनती भरे स्वर से मेघ की स्तुति करने लगा—'मेघ, सन्तप्त जनों के एकमात्र तुम्हीं सहारा हो। तुम बड़े ऊँचे कुल के व्यक्ति हो। अतः दुःखियों का दर्द दूर करना तुम्हारा काम है। मेघ, तुम मेरी प्रार्थना मान कर उत्तर दिशा में हिमालय की गोद में बसी हुई यक्षाधिपति की राजधानी अलकापुरी में चले जाओ। वहाँ वियोग की आग में झुलस रही मेरी प्रियतमा को मेरा एक छोटा-सा सन्देश पहुँचा देना। देखो, मन्द-मन्द पवन बह रहा है। तुम्हारे वाम भाग में चातक पक्षी बोल रहा है। बगुलों की पंक्तियाँ आकाश में उड़ रही हैं। उधर बाँबी के ऊपर इन्द्रधनुष भी अपनी सतरंगी आभा के साथ निकल रहा है। ये सभी तुम्हारे प्रस्थान के लिए शुभ शकुन हैं। किन्तु मैं सन्देश कहूँ और तुम प्रस्थित होओ—इसके पूर्व मैं तुम्हें मार्ग बतला देना चाहता हूँ।—'यहाँ से उड़कर तुम 'माल' प्रदेश पहुँचोगे। वहाँ ग्रामीण युवतियाँ स्नेहपूरित नेत्रों से तुम्हें सादर देखेंगी, वहाँ से तुम उड़ कर आम्रकूट पहुँच जाना। उसके आगे विन्ध्याचल की ऊँची-नीची तलहटी में बहती हुई रेवा नदी तुम्हें मिलेगी। उसके आगे फिर तुम दशार्ण प्रदेश को चले जाना। वहाँ पके हुए अतः काले-काले जामुन-निकुञ्जों को तुम देखोगे। उसके बाद वहाँ की राजधानी विदिशा (भिलसा) पहुँच कर तुम उस वेत्रवती नदी का साक्षात्कार करोगे जो प्रिया को कुटिल भ्रुकुटि से युक्त लहराती बलखाती चञ्चल तरङ्गों वाली है। तुम खूब छक कर उसका आस्वाद लेना। फिर 'नीचैः' नामक पर्वत पर विश्राम कर अपनी थकान मिटा लेना। वहाँ से चलने के बाद यद्यपि तुम्हारा मार्ग कुछ टेढ़ा अवश्य हो जायगा, तथापि उज्जयिनी गये बिना तुम मत रहना। उज्जयिनी के विषय में तुम से क्या कहूँ ? वह तो मानो स्वर्ग का ही

एक खण्ड हो जो भूतल पर चला आया है। यदि वहाँ प्रासादों के ऊर्ध्व-शिखर पर विलसने वाली ललनाओं की, बिजली की चमक से भयभीत एवं चञ्चल, आँखों का आनंद न लिया तो वस्तुतः तुम्हारी आँखें ही निरर्थक हो जाएँगी। अतः निर्विन्ध्या नदी को पार कर अवन्ती प्रदेश का अवगाहन करते हुए तुम उज्जयिनी पहुँच जाना। इस नगरी के वैभव के बारे में तुम से क्या कहूँ? वहाँ बाजार में विक्रयार्थ सजा कर रक्खे हुए हीरे, पन्ने एवं मोती आदि के ढेर के ढेर देख कर तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा मानो रत्नाकर में अब पानी के अतिरिक्त कुछ बचा ही नहीं। उज्जयिनी के अधीश्वर महाकाल के दर्शन तुम अवश्य करना। उनकी सान्ध्य-पूजा में मन्द-मन्द गर्जन कर तुम अपने जीवन को धन्य-धन्य बना लेना। वह रात तुम उज्जयिनी के किसी प्रासाद पर बिता कर ही आगे बढ़ना। मार्ग में तुम्हें गम्भीरा नदी मिलेगी। उसे पार करके तुम देवगिरि पहुँचोगे। देवगिरि पर भगवान् स्कन्द निवास करते हैं। वहाँ तुम पुष्प-मेघ बन कर उन पर फूलों की वर्षा करना। उसके बाद तुम्हें चर्मण्वती नदी मिलेगी। फिर दशपुर आएगा। दशपुर की सुन्दरियाँ अपने अनुपम सौन्दर्य के लिए जगद्विदित हैं। उसके बाद तुम कुरुक्षेत्र पहुँचोगे। यह वही स्थल है जहाँ पर वीर अर्जुन ने अपने शत्रुओं पर उसी तरह बाण-वृष्टि की थी जैसे तुम कमलों पर जलधार बरसाते हो। वहाँ सरस्वती नदी का सुस्वादु जल पीना और आगे कनखल चले जाना। यहीं पर संसारतारिणी गंगा हिमालय से भूतल पर उतरती है। कनखल में तुम गंगा के पावन जल का पान कर जब बढ़ोगे तब तुम्हें हिमालय के दर्शन होंगे। वहाँ देवदारु वृक्षों की कतारें देखने ही लायक होती हैं। हिमालय में कहीं कस्तूरी मृगों की नाभि से च्युत कस्तूरी की सुगन्ध वायु-मण्डल को सुवासित करती मिलेगी तो कहीं शरभ तुम्हारा गर्जन सुन कर तुमसे टक्कर लेने के लिए आकाश में उछलेंगे। वहाँ तुम्हें मीठे स्वर से गाती हुई किन्नरियों के दर्शन होंगे। वायु से पूरित बाँस अपनी बाँसुरी बजा रहे होंगे। ऐसी दशा में तुम भी, गरज कर मृदङ्ग का काम दे देना। इस प्रकार हिमालय के सौन्दर्य को निरखते हुए विश्राम के लिए तुम उसकी किसी चोटी पर बैठ जाना। फिर वहाँ से तुम उत्तर की ओर बढ़ना। आगे तुम्हें क्रौञ्च-रन्ध्र (नीतिमाणा

दर्रा) मिलेगा । उससे होकर तुम कैलास पहुँच जाओगे । कैलास भगवान् शङ्कर का निवास-धाम है । इसी पर्वत की गोद में हमारी 'अत्यन्त प्यारी नगरी अलका बसी हुई है ।'"

उत्तर मेघ

"भैया मेघ, अलकापुरी के प्रासादों के वैभव के बारे में तुमसे क्या कहूँ ? वे तुम्हारी ही तरह आकाश से बातें करते मिलेंगे । उनकी फर्श मणि-निर्मित है । भित्तियाँ नानाविध चित्रों से सज्जित एवं रत्नमण्डित हैं । वहाँ ऐसी-ऐसी सुंदरियाँ हैं, जैसी तुमने कभी देखी ही न होंगी । वहाँ के वृक्ष बारहों मास फलों से लदे रहते हैं । प्रत्येक संध्या चाँदनी से शुभ्र रहती है । वहाँ आनन्द के ही आँसू गिरते हैं । काम का ही ताप होता है । प्रेम में ही कलह होता है । वहाँ के लोग सर्वदा युवा ही रहते हैं । प्रत्येक घर ऐश्वर्य से जगमगाता रहता है । वहाँ के लोगों की सारी आवश्यकताएँ कल्प-वृक्ष पूरी करता है । यदि संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि वहाँ सर्वत्र सुख, आनन्द, प्रेम तथा आमोद-प्रमोद का ही वातावरण व्याप्त रहता है । इसी नगरी में कुबेर के भवन से उत्तर की ओर मेरा घर है । दूर से ही तुम्हें मेरे घर का तोरण इन्द्रधनुषी आभा के साथ चमकता दिखलाई पड़ेगा । उसके भीतर एक मन्दार वृक्ष है । इसे मेरी प्रिया ने पाल रखा है । इसी के पास एक बावली है । इसकी सीढ़ियाँ मरकत-मणियों से बनी हैं । बावली के किनारे पर ही तुम्हारी जैसी आभावाला एक क्रीडा-पर्वत है । वहाँ मेरे उद्यान में एक रक्ताशोक तथा एक बकुल वृक्ष है । मेरे घर का द्वार शङ्ख एवं पद्म की आकृतियों से अलंकृत है । इस प्रकार इन सभी चिह्नों से तुम मेरे घर को पहचान लेना । मेरा घर मेरी अनुपस्थिति के कारण सूना तथा म्लान-सा प्रतीत होगा, उस घर के भीतर तुम एक तरुणी सुन्दरी को देखोगे । वह तुम्हें ब्रह्मा की पहली रचना जैसी प्रतीत होगी । शरीर से दुबली, कमर से पतली, स्तनों से झुकी हुई, घबराई हुई हिरनी की तरह चञ्चल आँखों वाली एवं विशाल नितम्बों के कारण अलसाई-सी चालवाली उस अनुपम सुंदरी को मेरी प्राण-प्यारी पत्नी समझना । उसकी अवस्था उस चक्रवाकी की तरह होगी, जो अपने प्रियतम से बिछुड़ी हुई रहती है । मेरे वियोग के कारण वह उसी

तरह कुम्हला गई होगी जिस तरह तुषारपात होने पर कमलिनी हो जाती है। उसे तुम कभी तो मेरा चित्र बनाने का विफल प्रयत्न करती हुई पाओगे और कभी देखोगे कि गोद में वीणा रखकर मेरे नाम की गीतिका गाकर मनोविनोद का वह असफल प्रयास कर रही है। कभी मैना से इस प्रकार बातें करती हुई वह तुम्हें दृष्टिगत होगी—"ओ मधुरभाषिणी मैना, क्या तुझे भी कभी अपने स्वामी की याद आती है? उनके लिए तू बड़ी प्यारी थी।" कभी वह वियोग के अवशिष्ट महीनों को देहली पर रक्खे गये पुष्पों से गिनती हुई मिलेगी। तुम पहले तो 'मैं तुम्हारे पति का मित्र हूँ' यह कह कर अपना परिचय देना और फिर मेरा सन्देश इस प्रकार कहना :

"प्रिये, मैं प्रियङ्गु की लताओं में तुम्हारे शरीर की, चकित हरिणियों की दृष्टि में तुम्हारे चितवन की, चाँद में तुम्हारे मुख-सौन्दर्य की, मयूरों के पुच्छों में तुम्हारे केशकलाप की और नदियों की बल खाती तरङ्गों में तुम्हारे भ्रू-विलास की कल्पना करता हूँ। किन्तु दुःख यह है कि इनमें किसीमें भी तुम्हारे अंगों की समता मिलती ही नहीं है। देखो, हृदय में कितनी ही आशाएँ सँजोए हुए मैं भी तो एकाकी इन वियोग की घड़ियों को किसी-किसी तरह काट ही रहा हूँ। अतः हे प्रिये, तुम निराश न होना। जरा सोचो तो सही कि कभी इस जगती तल पर किसी को निरन्तर सुख ही सुख अथवा दुःख ही दुःख मिला भी है? भाग्य का चक्र निरन्तर चलता रहता है। कभी सुखों की वृष्टि होती है तो कभी दुखों की बौछार। अब मेरे शाप के समाप्त होने में केवल चार महीने ही अवशिष्ट हैं। इन्हें आँखें बन्द करके सह लो। फिर तो हम लोग शरद् की धवल चाँदनी में मिल कर अपनी उन-उन अभिलाषाओं को पूरी करेंगे जिन्हें वियोग की अवस्था में ललक कर हम लोगों ने गुना है, सोचा है एवं मिलन होने पर करने के लिए विचारा है।"

इस प्रकार प्रिया के लिए सन्देश देकर यक्ष ने मेघ से कहा—"हे मेघ, मित्रतावश अथवा 'यह बेचारा प्रियतमा से बिछुड़ा हुआ है' ऐसा समझ कर अथवा मुझपर करुणा-बुद्धि से अनुचित प्रार्थना करने वाले मेरे इस प्रिय कार्य को करके ही अपने अभीप्सित प्रदेश को जाना। ईश्वर करें मेरी तरह तुम्हारा अपनी प्रिया

बिजली से क्षण भर के लिए भी वियोग न हो। यही मेरी तुम्हारे लिए शुभेच्छा है। अच्छा, जाओ। तुम्हारा कल्याण हो।"

उपमा कालिदासस्य

कालिदास प्रायः सभी प्रचलित अलंकारों के प्रयोग में दक्ष हैं। किन्तु उपमा पर उनका चामत्कारिक अधिकार है। संस्कृत-जगत् ही नहीं, अपितु विश्व का भी ऐसा कोई कवि नहीं है जो महाकवि की उपमाकला की समता कर सके। इनकी रचनाओं में उपमा की प्रचुरता के साथ ही उसका सौष्ठव भी देखते ही बनता है। इनकी उपमाओं की रसात्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त हृदयावर्जक है, औचित्य तथा सन्दर्भ को सुन्दर बनाने की कला में ये पारङ्गत हैं। यहाँ इनकी उपमाओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं:—

तपस्या के लिए आभूषणों का परित्याग कर केवल वल्कल धारण करने-वाली पार्वती चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित, अरुणोदय से युक्त रजनी के समान बतलायी गयी हैं (कुमार ५। ४४)। स्तनों के भार से किञ्चित् झुकी हुई आतपसदृश लालवस्त्र धारण की हुई पार्वती फूलों के गुच्छों से झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित सञ्चारिणी लता के समान प्रतीत होती हैं —

पर्याप्त-पुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनीलतेव।

स्वयंवर में उपस्थित भूपालों को छोड़ कर जब इन्दुमती आगे बढ़ जाती है तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहाँ निराश राजाओं की विषण्णता तथा खिन्नता की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा बड़ी सुन्दरता से की गयी है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिम्वरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

रघु० ६ ६७॥

इसी उपमा-सौष्ठव पर मुग्ध होकर साहित्यिक-समुदाय ने महाकवि को 'दीप-शिखा कालिदास' कहना आरम्भ किया है।

सम्पूर्ण उपमा का एक और सुन्दर निदर्शन देखिये। सायङ्काल दिलीप गाय लेकर लौट रहे हैं। लालरंग की गाय आगे-आगे है। शुभ्र-वसनधारी दिलीप

पीछे-पीछे हैं। हरितवस्त्रधारिणी सुदक्षिणा अगवानी के लिए आगे बढ़ रही है। अतः वह गाय वैसी ही प्रतीत हो रही है जैसे दिन और रात के मध्य रक्तवर्णी सन्ध्या हो:—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या॥

रघु० २ २०॥

महाकवि अपनी रचनाओं में उपमा के माध्यम से कभी आधुनिक विज्ञान-संमत तत्त्व का संकेत करते हैं,[1] तो कभी इतिवृत्त का निर्देश।[2]

अब यहाँ शाकुन्तल से उपमा के कुछ निदर्शन प्रस्तुत किये जा रहे हैं:— हरिण भाग रहा है। राजा पीछा कर रहा है। उसके धनुष पर बाण चढ़ा हुआ है। तपस्वी राजा को रोकता है। वह कहता है—'पुष्पराशि की तरह सुकोमल शरीरवाला यह हरिण आपके अग्नि-तुल्य निर्मम बाण को क्या बर्दाश्त कर सकेगा?'[3]

इसी प्रकार शकुन्तला को पुष्पित लता के समान बतलाकर कवि ने उसके सौन्दर्य में कितनी मादकता भर दी है। दुष्यन्त की दृष्टि में शकुन्तला लता से जरा भी कम नहीं है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥ १। २१



१. देखिये, रघु० ५। ४
२. देखिये, वही २। ३९
३. देखिये, शाकुन्तल १। १०

प्रस्तुत संस्करण का वैशिष्ट्य

कविता-कामिनी-विलास महाकवि कालिदास संस्कृत के मूर्धाभिषिक्त कवि हैं, भारतीय संस्कृति के उन्नायक हैं, आर्य-सभ्यता के प्रसारक हैं, संस्कृत भाषा सहचरी के लास्य हैं। वस्तुतः संस्कृत कविता कालिदास की कला को पाकर अपने को सौभाग्यवती समझती है, कृतकृत्य मानती है।

यदि आपको कविता की सुकुमारता देखनी हो, भावों की सागर-सदृश गहराई और हिमालय-तुल्य ऊँचाई पर उतरना एवं चढ़ना हो, शारदी ज्योत्स्ना तथा वासन्ती वैभव का एकत्र सम्मिश्रण देखना हः, ग्रीष्म के घर्म-विन्दुओं एवं शिशिर के तुहिन कणों की विशिष्टता का एक साथ आकलन करना हो तो महाकवि की अमृत-निष्यन्दिनी लेखनी के अक्षत फल मेघदूत को आप एक वार अवश्य पढ़े।

विश्व-विश्रुत इस काव्य के पीछे संसार का समग्र शिक्षित समुदाय दीवाना है, पागल है। एकवार भी इसका पारायण करनेवाला व्यक्ति जीवन भर के लिए इसे कण्ठहार वनाने हेतु लालायित रहता है, अपने को धन्य-धन्य समझता है। क्या द्राक्षा की माधुरी जीवन में कभी भुलाई जा सकती है ?

यद्यपि इस काव्य-कण्ठहार के कतिपय संस्करण निकल चुके हैं। फिर भी इस संस्करण को सर्वथा अनुपम वनाने का प्रयास किया गया है। सञ्जीवनी, आचार्य मिश्रकृत पद्यानुवाद एवं सरस्वती व्याख्या की त्रिवेणी का पावन संगमस्थल यह हो गया है। यह संस्करण कालिदास की कविता-कामिनी के सौन्दर्य का यथार्थ आस्वादन कराता है। किसी भी श्रेणी के व्यक्ति के लिए—चाहे वह अध्येता हो या राजनेता, अध्यापक हो या विचारक, विद्यार्थी हो या ज्ञानार्थी—यह संस्करण अवश्य ही संग्रहणीय है, पठनीय है और है दुर्निवार भी।

लेखक

●

महाकवि-कालिदास-विरचितं

मेघदूतम्

(पूर्वमेघः)

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

धनपति ने सेवा से बेसुध एक यक्ष पर कोप किया,
उसे वर्ष भर प्रिया-विरह का कारण दूभर शाप दिया।
तब निरस्त हो उसने डेरे रम्य रामगिरि पर डाले,
जो सीता-मज्जन से शुचि जल और घनी छाया वाले ॥ १ ॥

अन्वयः—स्वाधिकारात्, प्रमत्तः, (अतः), कान्ताविरहगुरुणा, वर्षभोग्येण, भर्तुः, शापेन, अस्तङ्गमितमहिमा, कश्चित्, यक्षः, जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु, स्निग्धच्छायातरुषु, रामगिर्याश्रमेषु, वसतिम्, चक्रे ॥ १ ॥

शब्दार्थः—स्वाधिकारात् = अपने कर्तव्य-पालन में, प्रमत्तः = असावधान, (अतः = इसीलिए), कान्ताविरहगुरुणा=प्रिया के वियोग से दुःसह, वर्षभोग्येण= वर्ष पर्यन्त भोगे जानेवाले, भर्तुः=स्वामी के, शापेन=शाप से, अस्तङ्गमितमहिमा= शक्ति-विहीन, कश्चित् = किसी, यक्षः = यक्ष ने, जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु = जानकी के स्नान करने से पावन जलवाले, स्निग्धच्छायातरुषु = घने नमेरु वृक्षों से युक्त, रामगिर्याश्रमेषु = रामगिरि (नामक पर्वत के) आश्रमों में, वसतिम् = निवास, चक्रे = किया ॥ १ ॥

अर्थः—अपने कर्तव्य पालन में असावधान, (अतः) प्रिया के वियोग के कारण दुःसह, वर्षपर्यन्त भोगे जानेवाले, स्वामी के शाप से शक्ति-विहीन किसी यक्ष ने, जानकी के स्नान करने से पावन जलवाले तथा घने नमेरु वृक्षों से युक्त राम-गिरि (नामक पर्वत के) आश्रमों में निवास किया ॥ १ ॥

श्रीमल्लिनाथकृता सञ्जीवनी

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसंकुचद्वामदृष्टये ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥
शरणं करवाणि कामदं ते चरणं वाणि चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब कृतार्थसार्थवाहम् ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति शास्त्रात् काव्यादौ वस्तुनिर्देशात्कथां प्रस्तौति—**कश्चिदिति** ॥ **स्वाधिकारात्** स्वनियोगात् **प्रमत्तोऽ**नवहितः । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इत्यपादानत्वम् । तस्मात्पञ्चमी । अत एवापराधाद्धेतोः **कान्ताविरहेण गुरुणा** दुर्भरेण । दुस्तरेणेत्यर्थः । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवे । **वर्षभोग्येण** संवत्सरभोग्येण । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । 'अत्यन्तसंयोगे च' इति समासः । 'कुमति च' इति णत्वम् । **भर्तुः** स्वामिनः **शापेन** । अस्तंगमितो महिमा सामर्थ्यं यस्य **सोऽस्तङ्गमितमहिमा** । अस्तमिति मकारान्तमव्ययम् । तस्य 'द्वितीया' इति योगविभागात्समासः । **कश्चि**दनिर्दिष्टनामा **यक्षो** देवयोनिविशेषः । 'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।' इत्यमरः । **जनकतनयायाः** सीतायाः **स्नानै**रवगाहनैः **पुण्यानि** पवित्राण्युदकानि येषु तेषु । पावनेष्वित्यर्थः । छायाप्रधानास्तरवश्छायातरवः । शाकपार्थिवादित्वात्समासः । स्निग्धाः सान्द्राश्**छायातरवो** नमेरुवृक्षा येषु तेषु । वसतियोग्येष्वित्यर्थः । 'स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रः' इति । 'छायावृक्षो नमेरुः स्यात्' इति च शब्दार्णवे । **रामगिरेश्चित्रकूटस्याश्रमेषु वसतिम्** । 'वहिवस्यर्तिभ्यश्च' इत्यौणादिकोऽतिप्रत्ययः । **चक्रे** कृतवान् । अत्र रसो विप्रलम्भाख्यः शृङ्गारः । तत्राप्युन्मादावस्था । अतएवैकत्रानवस्थानं सूचितमाश्रमेष्विति बहुवचनेन । सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवानि-

त्याहुः । अत्र काव्ये सर्वत्र मन्दाक्रान्तावृत्तम् । तदुक्तम्—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौं नतौ ताद् गुरू चेदिति' ॥ १ ॥

टिप्पणी—कान्ताविरहगुरुणा—यक्षाधिपति कुबेर का एक अति सम्पन्न एवं समृद्ध उद्यान था। उद्यान की रक्षा में एक तरुण यक्ष नियुक्त था। उसे स्वामी का कठोर निर्देश था—'इसमें अनधिकृत व्यक्ति प्रवेश न करने पावें। एक दिन उद्यान-रक्षक यक्ष प्रियतमा की बाहों में देर तक उलझा रह गया। वह अपने कर्तव्य-कर्म पर विलंब से पहुँचा। तब तक इंद्र के ऐरावत हाथी ने बगीचे में प्रवेश कर उसे क्षत-विक्षत कर दिया था। समाचार कुबेर के पास पहुँचा। उद्यान यक्षाधिपति कुबेर को अतिशय प्रिय था। अतः समाचार पाते ही वे क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने रखवाली करनेवाले यक्ष को दंड देने का निश्चय किया। उसे सामने बुलाकर कुबेर ने कहा—'तुम एक वर्ष तक अलका से दूर, प्रियतमा से वियुक्त एवं अपनी शक्ति से विहीन होकर रहोगे।' बस क्या था, यक्ष शक्ति-विहीन हो यक्षपुरी से निकल आया और रामगिरि पर रहने लगा।

कुछ लोग इसे इस प्रकार भी कहते हैं:—कुबेर का एक सेवक यक्ष था। उसका कार्य था प्रतिदिन कुबेर को पूजा के लिये ताजे फूल लाकर देना। जाड़े का समय था। प्रियतमा नवोढा थी। अतः प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठना, फूल तोड़ना उसके लिये असह्य हो गया। फलतः उसने एक युक्ति निकाली। सायंकाल कलियों को वह चुन लेता था। प्रातः होते-होते वे विकसित हो जाती थीं। उन्हें ही वह कुबेर को पूजा के लिए दे आता था। जब इसका पता कुबेर को लगा तब उन्होंने उस युवक यक्ष-सेवक को उपर्युक्त शाप दे डाला।

जनकतनया०—सतीशिरोमणि जानकी अपने पति श्री राम के साथ वनवास कर रही थीं। वहाँ वे निर्झरों और सरोवरों में नहाती थीं। उनके स्नान से जलाशयों का जल पवित्र हो गया था।

रामगिर्याश्रमे०—रामगिरि पर्वत कहाँ था? कौन है? इस विषय के लिये देखिये—भूमिका ॥ १ ॥

इस श्लोक में शाप के प्रति 'स्वाधिकारात् प्रमत्तः' इसकी हेतुता होने से पदार्थ-हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। पूरे मेघदूत में प्रयुक्त छंद का नाम है—मंदाक्रांता। छंद का लक्षण—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौं नतौ ताद् गुरू चेत् ॥' १ ॥

व्युत्पत्तिः—**प्रमत्तः**—प्र + √मद् + क्त कर्तरि + विभक्तिः = प्रमत्तः । **वर्षभोग्येण**—भोक्तुं योग्यः भोग्यः—√भुज् + 'ऋहलोर्ण्यत्' + ण्यत् + 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वे+विभक्तिः=भोग्येन । **वसतिम्**—√वस् + अति (उणादिः)+ विभक्तिः ॥ १ ॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

उसी शैल पर उस विरही के आठ मास रोते बीते,
कृश होने से कंचन-कंकण गिर कर हाथ हुए रीते ।
अब असाढ़ आते ही उसने चोटी पर बादल देखा,
क्रीडा में झुक ढूह ढाहते हाथी सा उसको लेखा ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्मिन्, अद्रौ, अबलाविप्रयुक्तः, (अतः, दौर्बल्येन), कनकवलय-भ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः, कामी, सः, (यक्षः), कतिचित्, मासान्, नीत्वा, आषाढस्य, प्रथमदिवसे, आश्लिष्टसानुम्, वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्, मेघम्, ददर्श ॥ २ ॥

शब्दार्थः—तस्मिन्=उस, अद्रौ=पर्वत पर, अबलाविप्रयुक्तः=प्रियतमा से बिछुड़ा हुआ, (अतः=इसीलिए, दौर्बल्येन=दुर्बलता के कारण), कनकवलयभ्रंश-रिक्तप्रकोष्ठः=सुवर्ण-कङ्कण के खिसक कर गिर जाने से खाली कलाई वाले, कामी=कामुक, सः=उस, (यक्षः=यक्ष ने), कतिचित्=कुछ, मासान्=महीनों को, नीत्वा=बिता कर, आषाढस्य = आषाढ के, प्रथमदिवसे = पहले दिन, आश्लिष्ट-सानुम्=पहाड़ की चोटी पर स्थित, वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्=वप्रक्रीडा में तिरछा दंत-प्रहार करनेवाले हाथी की तरह दर्शनीय, मेघम्=मेघ को, ददर्श= देखा ॥ २ ॥

अर्थः—उस पर्वत पर प्रियतमा से वियुक्त (अतः दुर्बलता के कारण) सुवर्ण कंकण के खिसककर गिर जाने से खाली कलाई वाले, कामुक उस (यक्ष) ने कुछ महीने (आठ महीने) बिता कर आषाढ के प्रथम दिन पहाड़ की चोटी

पर स्थित, वप्रक्रीडा (ढूसा मारने) में तिरछा दंत-प्रहार करने वाले हाथी की तरह दर्शनीय मेघ को देखा ॥ २ ॥

सञ्जीवनी—तस्मिन्निति। **तस्मिन्नद्रौ** चित्रकूटाद्रौ **अबलाविप्रयुक्तः** कान्ताविरही **कनकस्यवलयः** कटकम् 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। तस्य **भ्रंशेन** पातेन **रिक्तः** शून्यः **प्रकोष्ठः** कूर्परादधः प्रदेशो यस्य स तथोक्तः। 'कक्षान्तरे प्रकोष्ठः स्यात्प्रकोष्ठः कूर्परादधः' इति शाश्वतः। विरहदुःखात्कृश इत्यर्थः। **कामी** कामुकः स यक्षः। **कतिचिन्मासान्**। अष्टौ मासानित्यर्थः। 'शेषान्मासान्गमय चतुरः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। **नीत्वा** यापयित्वा। आषाढानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमास्याषाढी। 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण्। 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीप्। साषाढ्यस्मिन्पौर्णमासीत्याषाढो मासः। 'सास्मिन्पौर्णमासीति संज्ञायाम्' इत्यण्। तस्य **प्रथमदिवस आश्लिष्टसानुमाक्रान्तकूटम्**। **वप्रक्रीडा** उत्खातकेलयः। "उत्खातकेलिः क्रीडाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवे। तासु **परिणतस्तिर्यग्दन्तप्रहारः**। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः" इति हलायुधः। स चासौ **गजश्च तमिव प्रेक्षणीयं** दर्शनीयं **मेघं ददर्श**। 'प्रत्यासन्ने नभसि' इति वक्ष्यमाणनभोमासस्य गजप्रेक्षणीयमित्यत्रेवलोपाल्लुप्तोपमा। केचित् 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इत्यत्र प्रत्यासत्त्यर्थं 'प्रशमदिवसे' इति पाठं कल्पयन्ति। तदसङ्गतम्। प्रथमातिरेके कारणाभावान्नभोमासस्य प्रत्यासत्त्यर्थमित्युक्तमिति चेन्न। प्रत्यासत्तिमात्रस्य मासप्रत्यासत्त्यैव प्रथमदिवसस्याप्युपपत्तेः। अत्यन्तप्रत्यासत्तेरुपयोगाभावेनाविवक्षितत्वात्। विवक्षितत्वे वा स्वपक्षेऽपि प्रथमदिवसातिक्रमेण मेघदर्शनकल्पनायां प्रमाणाभावेन तदसम्भवात्। प्रत्युतास्मत्पक्ष एव कुशलसन्देशस्य भाव्यनर्थप्रतीकारार्थस्य पुरत एवानुमानं युक्तं भवतीत्युपयोगसिद्धिः। ननून्मत्तस्य नायं विवेक इति चेन्न। उन्मत्तस्य नानर्थस्य प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिरपीति सन्देश एव मामूत्। तथा च काव्यारम्भ एवाप्रसिद्धः स्यादित्यहो मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्षः। कथं तर्हि "शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ" इत्यादिना भगवत्प्रबोधावधिकस्य शापस्य मासचतुष्टयावशिष्टस्योक्तिः। दशदिवसाधिक्यादिति चेत्स्वपक्षेऽपि कथं सा विंशतिदिवसैर्न्यूनत्वादिति सन्तोष्टव्यम्। तस्मादीषद्वैषम्यमविवक्षितमिति सुष्ठूक्तम् 'प्रथमदिवसे' इति ॥ २ ॥

टिप्पणी—कतिचित्— यहाँ कतिचित्=कुछ का अर्थ है—आठ। यह मासान्

का विशेषण है। अतः अर्थ होगा—आठ महीनों को बिताकर। आगे कहा गया है—'शेषान् मासान् गमय चतुरः'। एक वर्ष का निर्वासन था जिसमें अभी चार मास शेष हैं। अतः आठ महीने बीत चुके हैं, यह निश्चित होता है।

कनकवलयभ्रंश०—इससे उस यक्ष की अत्यंत दुर्बलता सूचित की गयी है।

आषाढस्य प्रथमदिवसे—इसके स्थान पर कहीं-कहीं 'आषाढस्य प्रशमदिवसे' ऐसा पाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा—आषाढ के अंतिम दिन। कुछ लोग चौथे श्लोक के 'प्रत्यासन्ने नभसि'='श्रावण मास के निकट होने पर' इसके सामंजस्य के लिये उक्त पाठ उपयुक्त समझते हैं। उनका कहना है कि आषाढ के बीतने पर ही श्रावण निकट होता है। किंतु यह पाठ कालिदास के काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ को अभीष्ट नहीं है। उनका कहना है कि यहाँ सामान्य प्रत्यासत्ति (अर्थात् श्रावण की सामान्य समीपता) ही कही गयी है, न कि कल होने वाली निकटता।

वप्रक्रीडा०—हाथी अपने दाँत से तथा साँड, मस्त बैल आदि अपने सींगों से नदी के उभरे तटों को, ऊँची मिट्टी को तथा बिमौट आदि को उछालते हैं। यही है वप्रक्रीडा।

०परिणत०—हलायुध कोश के अनुसार तिरछा दंत प्रहार करनेवाले हाथी को 'परिणत' कहते हैं। ऐसी दशा में 'परिणत' पद से ही गज का भी बोध हो जाता है। फिर 'गज' पद निरर्थक-सा लगता है। इसका समाधान यह है—कि यहाँ 'परिणत' पद का सामान्य अर्थ 'तिरछा दन्त प्रहार करने वाला' ही है और 'गज' के साथ उसका संबंध होने पर 'वप्रक्रीडाओं में तिरछा दंत-प्रहार करने-वाला हाथी' ऐसा अर्थ किया जायगा। अतः 'गज' पद निरर्थक न होगा और न पुनरुक्त दोष ही आयेगा।

यहाँ 'परिणतगजप्रेक्षणीयं' में समास के कारण औपम्यवाचक पद 'इव' का लोप होने से 'लुप्तोपमा' अलंकार है।

व्युत्पत्तिः—**विप्रयुक्तः**—वि+प्र+√युज्+क्त+विभक्त्यादिः। **कामी**—कामयते तच्छीलः—√कमु+णिनि+विभक्तिः। अथवा कमनं कामः—√कम् +घञ् भावे+इनिः+विभक्त्यादिः। **नीत्वा**—√नी+क्त्वा। **आश्लिष्ट०**—

आ + √श्लिष् + क्त + विभक्तिः। प्रेक्षणीयम्—प्र + √ईक्ष् + अनीयर् + विभक्तिः ॥ २ ॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

उसे देख वह उत्कण्ठित हो जैसे तैसे खड़ा रहा,
जी भर आया, बड़ी देर तक दीन सोच में पड़ा रहा।
जब सुहावनी घटा देखकर सुखी अनमने हो जाते,
तब आलिंगन-रसिक कभी क्या रह कर दूर चैन पाते? ॥ ३ ॥

अन्वयः—राजराजस्य, अनुचरः, अन्तर्बाष्पः (सन्), कौतुकाधानहेतोः, तस्य, पुरः, कथमपि, स्थित्वा, चिरम्, दध्यौ, मेघालोके, सुखिनः, अपि, चेतः, अन्यथावृत्ति, भवति, कण्ठाश्लेषप्रणयिनि, जने, दूरसंस्थे (सति), किं पुनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—राजराजस्य=यक्षराज कुबेर का, अनुचरः=सेवक, अन्तर्बाष्पःसन्= आँखों में आँसू रोक कर, कौतुकाधानहेतोः=उत्कण्ठा की उत्पत्ति करने वाले, तस्य=उस (मेघ) के, पुरः=सामने, कथमपि=किसी-किसी तरह अर्थात् बड़े कष्ट से, स्थित्वा=खड़े होकर, रुककर, चिरम्=बड़ी देर तक, दध्यौ=ध्यान किया, सोचा, चिंतामग्न रहा, मेघालोके = मेघ-दर्शन होने पर, सुखिनः=सुखी व्यक्ति का, प्रियतमा से सनाथ व्यक्ति का, अपि=भी, चेतः=चित्त, अन्यथा-वृत्ति=विकृत, चंचल, भवति=हो उठता है, कण्ठाश्लेषप्रणयिनि = गले से लिपट जाने की अभिलाषा वाली, जने=प्रिय व्यक्ति के, प्रियतमा के, दूरसंस्थे (सति)= दूर रहने पर, किं पुनः=फिर क्या कहना? ॥ ३ ॥

अर्थः—यक्षराज कुबेर का सेवक आँखों में आँसू रोककर उत्कंठा की उत्पत्ति करनेवाले उस (मेघ) के सामने किसी-किसी तरह (अर्थात् बड़े कष्ट से) खड़ा होकर बड़ी देर तक चिंतामग्न रहा। मेघ-दर्शन होने पर (जब) प्रियतमा से सनाथ व्यक्ति का भी चित्त चञ्चल हो उठता है (तो) गले से लिपट जाने की

अभिलाषावाली प्रियतमा के दूर रहने पर फिर क्या कहना ? ॥ ३ ॥

सञ्जीवनी—तस्येति । राजानो यक्षाः । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः । राज्ञां राजा **राजराजः** कुबेरः । 'राजराजो धनाधिपः' इत्यमरः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्ययः । **तस्यानुचरो** यक्षः । **अन्तर्बाष्पो** धीरोदात्तत्वादन्तःस्तम्भिताश्रुः सन् । **कौतुकाधानहेतोरभिलाषोत्पादकारणस्य** 'कौतुकं चाभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः' इति विश्वः । **तस्य** मेघस्य **पुरोऽग्रे कथमपि** । गरीयसा प्रयत्नेनेत्यर्थः । 'ज्ञानहेतुविवक्षायामप्यादिकथमव्ययम् । कथमादि तथाप्यन्तं यत्नगौरवबाढयोः ॥' इत्युज्ज्वलः । **स्थित्वा चिरं दध्यौ** चिन्तयामास । 'ध्यै चिन्तायाम्' इति धातोर्लिट् मनोविकारोपशमनपर्यन्तमिति शेषः । विकारहेतुमाह—मेघालोके इति । **मेघालोके** मेघदर्शने सति **सुखिनोऽपि** प्रियादिजनसङ्गतस्यापि **चेतश्चित्तमन्यथाभूता वृत्तिर्व्यापारो यस्य तदन्यथावृत्ति भवति** । विकृतिमापद्यत इत्यर्थः । **कण्ठाश्लेषप्रणयिनि** कण्ठालिङ्गनार्थिनि **जने** । दूरे संस्था स्थितिर्यस्य तस्मिन्दूरसंस्थे सति **किं पुनः** । विरहिणः किमुत वक्तव्यमित्यर्थः । विरहिणां मेघसन्दर्शनमुद्दीपनं भवतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तदुक्तं दण्डिना—'ज्ञेयःसोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन । तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः" इति ॥ ३ ॥

टिप्पणी—राजराजस्य—कुबेर को 'राजराज' कहा जाता है। राजा का अर्थ यक्ष भी होता है। इस प्रकार राजराज का अर्थ हुआ 'यक्षराज'।

सुखिनः—यहाँ सुखी का अर्थ है—'प्रियतमा से युक्त व्यक्ति'। साहित्यकारों ने प्रियतमा के सतत सान्निध्य की प्राप्ति को ही सुख का कारण माना है।

इस श्लोक में उत्तरार्ध से पूर्वार्ध स्थित चितारूप पदार्थ का समर्थन करने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है और उत्तरार्ध में 'किं पुनर्दूरसंस्थे' इस कथन से कैमुतिक न्याय से अर्थापत्ति अलंकार है। इस प्रकार अर्थांतरन्यास तथा अर्थापत्ति की इस श्लोक में, निरपेक्षभाव से स्थिति होने के कारण संसृष्टि अलंकार है ॥ ३ ॥

व्युत्पत्तिः—अनुचरः—अनु = पश्चात् चरति=गच्छति इति अनु + √चर् + अच् + विभक्तिः । **कौतुकाधान०**—कुतुक + अण् + विभक्त्यादिः । आङ् + √धा + ल्युट् + विभक्त्यादिः । **सुखिनः**—सुख+इनि+विभक्तिः । **आश्लेषः**—आङ् + √श्लिष् + घञ् = विभक्तिः आश्लेषः ॥ ३ ॥

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

जी में जी आने पर, घन से समाचार निज भिजवाना
प्रिया-प्राण-रक्षा का उसने एक मात्र साधन माना।
लेकर टटके कुसुम कुटज के प्रथम उसे उपहार दिया,
फिर प्रसन्न हो प्रिय वचनों से स्वागत-शिष्टाचार किया ॥ ४ ॥

अन्वयः—नभसि, प्रत्यासन्ने (सति), दयिताजीवितालम्वनार्थी, सः, जीमूतेन, स्वकुशलमयीम्, प्रवृत्तिम्, हारयिष्यन्, प्रत्यग्रैः, कुटजकुसुमैः, कल्पितार्घाय, तस्मै, प्रीतः (सन्), प्रीतिप्रमुखवचनम्, स्वागतम्, व्याजहार ॥ ४ ॥

शब्दार्थः— नभसि = श्रावण मास के, प्रत्यासन्ने (सति) = अति निकट होने पर, दयिताजीवितालम्वनार्थी = प्रियतमा की जीवनरक्षा चाहनेवाले, सः = उस (यक्ष) ने, जीमूतेन = मेघ के द्वारा, स्वकुशलमयीम् = अपने कुशलमय, प्रवृत्तिम् = समाचार को, हारयिष्यन् = भेजने की इच्छा से, भेजने की इच्छावाला होकर, प्रत्यग्रैः = तत्काल तोड़े गये, कुटजकुसुमैः = गिरिमल्लिका के पुष्पों से, कल्पितार्घाय = पूजा किये गये, जिसकी पूजा की गयी है ऐसे, तस्मै = उस (मेघ) के प्रति, प्रीतः (सन्) = प्रसन्न होकर, प्रीतिप्रमुखवचनम् = प्रणय-भरे वचनों से पूर्ण, स्वागतम् = स्वागत, व्याजहार = कहा ॥ ४ ॥

अर्थः—श्रावण मास के अतिनिकट होने पर प्रियतमा की जीवन-रक्षा चाहने वाले उस (यक्ष) ने मेघ के द्वारा अपने कुशलमय समाचार को भेजने की इच्छा से, तत्काल तोड़े गये गिरिमल्लिका के पुष्पों से (पहले) पूजा करके उस (मेघ) के प्रति, प्रसन्न होकर प्रणयभरे वचनों से पूर्ण स्वागत कहा (अर्थात् प्रणयभरे वचनों से मेघ का स्वागत किया) ॥ ४ ॥

सञ्जीवनी—**प्रत्यासन्न इति**। स यक्षः। यश्चिरं दध्यौ स इत्यर्थः। **नभसि** श्रावणे 'नभः खं श्रावणो नभाः' इत्यमरः। **प्रत्यासन्ने** आषाढस्यानन्तरं संनिकृष्टे। प्राप्ते सतीत्यर्थः। **दयिताजीवितालम्बनार्थी सन्**। वर्षाकालस्य विरहदुःखजनकत्वात् 'उत्पन्नार्थप्रतिकारादनर्थोत्पत्तिप्रतिबन्ध एव वरम्' इति न्यायेन प्रागेव प्रिया-

प्राणधारणोपायं चिकीर्षुरित्यर्थः। जीवनस्योदकस्य मूतः पटवन्धो वस्त्रवन्धो जीमूतः। पृषोदरादित्वात्साधुः। 'मूतः स्यात्पटवन्धेऽपि' इति रुद्रः। तेन **जीमूतेन** जलधरेण। प्रयोज्येन। **स्वकुशलमयीं** स्वक्षेमप्रधानां **प्रवृत्तिं** वार्ताम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। **हारयिष्यन्**प्रापयिष्यन्। 'ऌट् शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थक्रियोपपदाल्लृट्प्रत्ययः। जीवनार्थं कर्म जीवनपदेनैव कर्तव्यमिति भावः। 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति कर्मसंज्ञाया विकल्पात् पक्षे कर्तरि तृतीया। **प्रत्यग्रैः**रभिनवैः **कुटजकुसुमैः**गिरिमल्लिकाभिः। 'कुटजो गिरिमल्लिका' इति हलायुधः। **कल्पितार्घाय** कल्पितोऽनुष्ठितोऽर्घः पूजाविधिर्यस्मै तस्मै। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। **तस्मै** जीमूताय। 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। प्रीतिप्रमुखानि प्रीतिपूर्वकाणि वचनानि यस्मिन्कर्मणि **तत्प्रतिप्रमुखवचनं** यथा तथा। शोभनमागतं स्वागतं स्वागतवचनं **प्रीतः** सन् **व्याजहार**। कुशलागमनं पप्रच्छेत्यर्थः। नाथेन त्वत्र 'प्रत्यासन्ने मनसि' इति साधीयान्पाठः कल्पितः। प्रत्यासन्ने प्रकृतिमापन्ने सतीत्यर्थः। यस्तु तेनैव पूर्वपाठविरोधः प्रदर्शितः सोऽस्माभिः 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इत्येतत्पाठविकल्पसमाधानेनैव समाधाय परिहृतः॥ ४॥

टिप्पणी—प्रत्यासन्ने नभसि—'अनन्तशयनग्रन्थमाला' में प्रकाशित दक्षिणावर्तनाथ-कृत टीकासहित मेघसंदेश में 'प्रत्यासन्ने नभसि' के स्थान पर 'प्रत्यासन्ने मनसि' पाठ माना गया है; जिसका अर्थ होता है—'जी में जी आने पर, जी ठिकाने होने पर।' किंतु आलोचकों एवं विद्वानों का प्रवल समूह मल्लिनाथ द्वारा स्वीकृत 'प्रत्यासन्ने नभसि' पाठ का ही समर्थन करता है, और यही तर्कसंगत भी है। यक्ष ने आषाढ के प्रथम दिन मेघ देखा है। अव श्रावण उसे नजदीक प्रतीत हुआ। श्रावण वियोगिनी अवलाओं के लिये प्राणांतक होता है। अतः वह अपनी प्रियतमा को धैर्य दिलाने के लिये संदेश भेज रहा है। मेघ को रामगिरि से अलका तक का मार्ग तय करने में प्रायः महीने भर के आस-पास लग जायगा। क्योंकि वह आषाढ का जलभरित मंथरगति मेघ है।

संस्कृत एवं हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा हिंदी के मान्य आलोचक स्व० केशवप्रसाद मिश्र ने नाथ के पाठ को ही समीचीन मानते हुए मल्लिनाथ के 'प्रत्यासन्ने नभसि' पाठ की आलोचना में लिखा है—"यक्ष ने श्रावण आते-आते प्रिया की जीवन-रक्षा के हेतु (मेघ के द्वारा संदेश भेजने का विचार किया),

किंतु इससे जी नहीं भरता। यक्ष ने आषाढ़ के पहले दिन तो बादल देखा और सावन आने पर संदेश भेजने का विचार किया। बीच में? मालूम नहीं क्या करता रहा। शायद बैठा-बैठा इष्ट-सिद्धि के लिये अनुष्ठान करता रहा हो। नाथ ने 'प्रत्यासन्ने नभसि' के स्थान पर 'प्रत्यासन्ने मनसि' पाठ माना है। जिसका अर्थ होता है—'जी में जी आने पर, जी ठिकाने होने पर'। यही अर्थ ठीक जान पड़ता है। इसके पहले मेघदर्शन से यक्ष की चिंता का वर्णन है—

उसे देख वह उत्कंठित हो जैसे तैसे खड़ा रहा,
जी भर आया, बड़ी देर तक दीन सोच में पड़ा रहा।

पश्चात् जी ठिकाने होने पर उसने संदेश भेजना चाहा। मल्लिनाथ ने 'प्रत्यासन्ने नभसि' पाठ कायम करने के लिये बड़ा तूमार बाँधा है, पर कुछ जँचता नहीं।" पता नहीं श्री मिश्र जी ने **'प्रत्यासन्ने नभसि'** का अर्थ **'सावन आने पर'** यह कैसे और किस युक्ति के आधार पर किया है। संस्कृत का एक साधारण विद्यार्थी भी इसका अर्थ 'श्रावण के नजदीक आने पर' यही करेगा।

जीमूतेन—जीवनस्य = जलस्य मूतः = पटबन्धः जीमूतः तेन। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र से 'जीवन' पद के 'वन' का लोप होकर 'जीमूत' पद बना है।

व्युत्पत्तिः—प्रत्यासन्ने—प्रति + आङ् + √सद् + क्तः (कर्तरि) + भावे सप्तमीविभक्तिः। **हारयिष्यन्**—√हृ + णिच् + शतृ + विभक्त्यादिः। **प्रीतः**—√प्रीञ् + क्तः + विभक्तिः॥ ४॥

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥ ५॥

धूम पवन पानी पावक का मेघ निरा संघात कहाँ!
चतुर सचेत जनों के द्वारा कहलाने की बात कहाँ।
उत्कंठा से हुआ यक्ष वह निर्विचार याचन में लीन;
जड़ हो या चेतन हो सबसे आर्त्त कामिजन बनते दीन॥ ५॥

अन्वयः—धूमज्योतिःसलिलमरुताम्, सन्निपातः, (जडः), मेघः, क्व?

(तथा), पटुकरणैः, प्राणिभिः, प्रापणीयाः, सन्देशार्थाः, क्व ? इति, औत्सुक्यात्, अपरिगणयन्, गुह्यकः, तम्, ययाचे; हि, कामार्ताः; चेतनाचेतनेषु, प्रकृतिकृपणाः, (भवन्ति) ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—धूम-ज्योतिः-सलिल-मरुताम् = धुआँ, तेज, जल और वायु का, सन्निपातः = समूह, (जडः = निर्जीव), मेघः = मेघ, क्व = कहाँ ! (तथा = और), पटुकरणैः = कुशल इंद्रिय वाले, प्राणिभिः = प्राणियों के द्वारा, प्रापणीयाः = भेजे जाने वाले, भेजे जाने के योग्य, सन्देशार्थाः = संदेशरूपी वस्तु, संदेश, क्व = कहाँ ? इति = इस बात का, औत्सुक्यात् = उत्कंठा के कारण, अपरिगणयन् = विचार न करते हुए, गुह्यकः = यक्ष ने, तम् = उस (मेघ) से, ययाचे = याचना की; हि = क्योंकि, कामार्ताः = कामातुर व्यक्ति, चेतनाचेतनेषु = सजीव और निर्जीव के विषय में, प्रकृतिकृपणाः=स्वभाव से ही अतिदीन, विवेक-शून्य, (भवन्ति = होते हैं) ॥ ५ ॥

अर्थः—धुँआ, तेज, जल और वायु का समूह (निर्जीव) मेघ कहाँ और कुशल इंद्रियवाले प्राणियों के द्वारा भेजे जाने योग्य संदेश कहाँ ? इस बात का उत्कंठा के कारण विचार न करते हुए यक्ष ने उस (मेघ) से याचना की; क्योंकि कामातुर व्यक्ति सजीव और निर्जीव के विषय में विवेकशून्य (होते हैं) ॥ ५ ॥

सञ्जीवनी—ननु चेतनसाध्यमर्थं कथमचेतनेन कारयितुं प्रवृत्त इत्यपेक्षायां कविः समाधत्ते—धूमेति । **धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुद्वायुश्च** तेषां **सन्निपातः** संघातो **मेघः क्व** । अचेतनत्वात्संदेशानर्ह इत्यर्थः । **पटुकरणैः** समर्थेन्द्रियैः 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः । **प्राणिभिश्चेतनैः** । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी' इत्यमरः **प्रापणीयाः** प्रापयितव्याः । संदिश्यन्त इति **सन्देशास्त एवार्थाः । क्व इत्येवमौत्सुक्या**दिष्टार्थोद्युक्तत्वात् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः । संप्रदानत्वात्कुशलप्रश्नेनाभि-मुखीचकारेत्यर्थः । **अपरिगणयन्न**विचारयन्**गुह्यको** यक्षस्तं मेघं याचितवान् । 'टुयाचृ याच्ञायाम्' । तथाहि । **कामार्ता** मदनातुराश्**चेतनाचेतनाश्च** तेषु विषये **प्रकृतिकृपणाः** स्वभावदीनाः । कामान्धानां युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वादचेतनयाच्ञा न विरुध्यत इत्यर्थः । अत्र मेघ-संदेशयोर्विरूपयोर्घटनाद्विषमालङ्कारः । तदुक्तम्—'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना चासौ विषमालङ्कृति-

स्त्रिधा ॥' इति। सा चार्थान्तरन्यासानुप्राणिता, तत्समर्थकत्वेनैव चतुर्थपादे तस्योपन्यासात् ॥ ५ ॥

टिप्पणी—धूमज्योतिः.... सन्निपातः—कालिदास के इस कथन से कि—'मेघ धुआँ, तेज, जल और वायु का सम्मिलित रूप हैं'—यह सिद्ध होता है कि यह देश कालिदास के काल में भी रसायनशास्त्र का परिपक्व ज्ञान रखता था। स्वयं महाकवि भी इसके जानकार थे।

गुह्यकः—गूहति = निधिं रक्षति इति गुह्यकः = यक्षः। संवरणार्थक "गुहू" धातु से 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्र से यक् (य) का आगम होने पर यह शब्द बनता है।

अमरकोश के अनुसार यक्ष और गुह्यक दो अलग-अलग देवयोनियाँ हैं। इस प्रकार यक्ष और गुह्यक पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। किंतु महाकवि ने प्रथम श्लोक में यक्ष तथा इस श्लोक में गुह्यक शब्द का प्रयोग एक ही व्यक्ति के लिए किया है। वे इन दोंनो को पर्यायवाची शब्द मानते हैं। कोशकार व्याडि 'निधिं रक्षन्ति ये यक्षास्ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः।" कहकर निधि की रक्षा करने वाले यक्ष को गुह्यक तथा अन्य यक्ष को यक्ष कहा है। महाकवि का यह विरही यक्ष भी कुबेर की उद्यान-निधि का रक्षक था। अतः कवि ने अपने इस यक्ष को गुह्यक भी कहा है।

कामार्ता.... चेतनाचेतनेषु—काम के प्रबल वेग से प्रताडित व्यक्ति विवेक खो देता है। उसे जड-चेतन का भेद भी नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि कभी-कभी विरही व्यक्ति अपनी प्रियतमा के वस्त्राभूषण आदि को भी गले लगाकर उसे उलाहना देता है। उससे बातें करता है।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के प्रथम और द्वितीय चरण में मेघ और संदेश दो भिन्न पदार्थों का संघटन होने से विषम अलंकार है। चतुर्थ चरण में सामान्य अर्थ से विशेष का समर्थन किया गया है। अतः अर्थान्तरन्यास है। इस प्रकार इस श्लोक में दोनों अलंकारों के अंगांगिभाव होने से संकर अलंकार है ॥ ५ ॥

व्युत्पत्तिः—सन्निपातः—सम् + नि + √पत् + घञ् (भावे) + विभक्तिः। **प्रापणीयाः**—प्र + √आप् + अनीयर् + विभक्तिः ॥ ५ ॥

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुगतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥

बोला–विदित पुष्करावर्त्तक–कुल ने तुझको जन्म दिया,
बना प्रधान पुरुष सुरपति का, जब जो चाहा रूप लिया ।
विधिवश स्वजनों से बिछुड़ा, मैं हुआ आज याचक तेरा;
नहीं अधम से मांगा मिलना, उत्तम से अच्छा फेरा ॥ ६ ॥

अन्वयः—(हे मेघ ! अहम्), त्वाम्, भुवनविदिते, पुष्करावर्तकानाम्, वंशे, जातम्, कामरूपम्, मघोनः, प्रकृतिपुरुषम्, जानामि । तेन, विधिवशात्, दूरबन्धुः, अहम्, त्वयि, अर्थित्वम्, गतः । अधिगुणे, याच्ञा; मोघा, अपि, वरम्; (किन्तु), अधमे, लब्धकामा, अपि, न, (वरम्) ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ = हे बादल ! अहम् = मैं), त्वाम् = तुझे, भुवनविदिते = जगद्विख्यात, पुष्करावर्तकानाम् = पुष्कर और आवर्तक (नाम वाले मेघों) के, वंशे = कुल में, जातम्=उत्पन्न, कामरूपम्=अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाला, मघोनः=इंद्र का, प्रकृतिपुरुषम्=प्रधान पुरुष, जानामि=जानता हूँ । तेन=यही कारण है कि, विधिवशात्=भाग्यवश, दूरबन्धुः=प्रियतमा से बिछुड़ा हुआ, अहम्=मैं, त्वयि=तुम्हारे पास, तुम्हारे विषय में, अर्थित्वम्=याचकपन को, गतः=प्राप्त हुआ हूँ । अधिगुणे=अधिक गुणशाली व्यक्ति से (की गई), याच्ञा=याचना, मोघा=निष्फल, अपि=भी, वरम्=श्रेष्ठ है, (कुछ ठीक है,) किन्तु=परन्तु, अधमे=निर्गुण व्यक्ति से, लब्धकामा=सफल, सार्थक, अपि=भी, न=नहीं, (वरम्=श्रेष्ठ है) ॥ ६ ॥

अर्थः—(हे मेघ ! मैं) तुझे जगद्विख्यात पुष्कर और आवर्तक (नामवाले मेघों) के कुल में उत्पन्न, अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाला, इंद्र का प्रधान पुरुष जानता हूँ । यही कारण है कि भाग्यवश प्रियतमा से बिछुड़ा हुआ मैं तुम्हारे पास याचना करने आया हूँ । क्योंकि अधिक गुणशाली व्यक्ति से (की गयी) याचना निष्फल होने पर भी कुछ ठीक है । परंतु निर्गुण व्यक्ति से की गयी याचना सफल होने पर भी अच्छी नहीं है ॥ ६ ॥

सञ्जीवनी—जातमिति। हे मेघ! त्वां भुवनेषु विदिते **भुवनविदिते**। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः। 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमानार्थत्वेऽपि 'क्तस्य च वर्तमाने' इति भुवनशब्दस्य षष्ठ्यन्ततानियमात्समासो न स्यात्। 'क्तेन च पूजायाम्" इति निषेधात्। **पुष्कराश्चावर्तकाश्च** केचिन्मेघानां श्रेष्ठास्तेषां **वंशे जातम्**। महाकुलप्रसूतमित्यर्थः। **कामरूपमि**च्छाधीनविग्रहम्। दुर्गादिसञ्चारक्षममित्यर्थः। **मघोनः** इन्द्रस्य **प्रकृतिपुरुषं** प्रधानपुरुषं **जानामि**। तेन महाकुलप्रसूतत्वादिगुणयोगित्वेन हेतुना **विधि वशाद्**दैवायत्तत्वात्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। वशमायत्ते 'वशमिच्छाप्रभुत्वयोः' इति विश्वः। दूरे बन्धुर्यस्य स **दूरबन्धुर्**वियुक्तभार्योऽहं **त्वय्यर्थित्वं गतः**। ननु याचकस्य याच्ञाया याच्यगुणोत्कर्षः कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्य दैवाद्याच्ञाभङ्गेऽपि लाघवदोषाभाव एवोपयोग इत्याहुः—याच्ञेति। तथाहि **अधिगुणे**ऽधिकगुणे पुंसि विषये **याच्ञा मोघा** निष्फलापि **वरमी**षत्प्रियम्। दातुर्गुणाढ्यत्वात्प्रियत्वं याच्ञावैफल्यादीषत्प्रियत्वमिति भावः। **अधमे** निर्गुणे **याच्ञा लब्धकामापि** सफलापि **न वरम्**। ईषत्प्रियमपि न भवतीत्यर्थः। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिये' इत्यमरः॥ अर्थान्तरन्यासानुप्राणितः प्रेयोऽलंकारः। तदुक्तं दण्डिना—'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इति। एतदाद्ये पादस्येनार्थान्तरन्यासेनोपजीवितमिति सुव्यक्तमेतत्॥ ६॥

टिप्पणी—भुवनविदिते—भुवनेषु विदिते (सप्तमी तत्पुरुष)। 'विदिते' में ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'निष्ठा' इस सूत्र से भूतार्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है। यदि 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इस सूत्र से 'क्त' प्रत्यय होगा तो 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से भुवन में षष्ठी विभक्ति होगी। ऐसी अवस्था में 'क्तेन च पूजायाम्' सूत्र से समास का निषेध होगा। फिर 'भुवनानां विदिते' यह असमस्त रूप बनेगा।

पुष्करावर्तकानाम्—महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने यहाँ की ही भाँति कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग—'तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु—' की व्याख्या में इस पद को द्वन्द्व समासान्त बतलाते हुए लिखा है—पुष्कराश्च आवर्तकाश्च पुष्करावर्तकाः, तेषाम्। प्रलयकाल में जलवृष्टि के द्वारा संसार का संहार करनेवाले मेघ 'पुष्करावर्तक' कहे गये हैं। यही कारण है कि पुष्कर और आवर्तक को मेघजाति में श्रेष्ठ माना जाता है। परंतु प्रश्न यह है कि एक ही व्यक्ति दो मेघों

के कुल में कैसे उत्पन्न हो सकता है? इस आशंका के समाधान के लिये कुछ लोगों ने वाचस्पत्य में उद्धृत विष्णुपुराण के—'पुष्करा नाम ये मेघा बृहन्तस्तोयमत्सराः। पुष्करावर्तकास्तेन कारणेनेह शब्दिताः ॥' इस श्लोक के अनुसार पुष्करम्=जलम् आवर्तयन्तीति पुष्करावर्तकाः—ऐसी व्युत्पत्ति की है। इन लोगों का कथन है कि पुष्कर नाम के मेघ जल का आवर्तन (भ्रमण) कराने से ही पुष्करावर्तक कहे जाते हैं। ज्योतिष शास्त्र में भी मेघों के एक नायक को पुष्कर कहा गया है। कुछ लोगों का कथन है कि यक्ष के समक्ष स्थित मेघ पुष्कर वंश का था और आवर्तक उसके नाना के कुल का था। इस प्रकार यह मेघ दोनों कुल का कहा जा सकता है।

प्रकृतिपुरुषम्—प्रकृतौ=पौरवर्गे पुरुषः=प्रधानजनस्तम्।

अर्थित्वम्—असन्निहितः अर्थः=धनम् अस्यास्तीति अर्थी=धनहीनो याचकः। यहाँ 'अर्थाच्चाऽसन्निहिते' इस सूत्र से अर्थ के असन्निधान (अभाव) में अर्थ शब्द से इनि (इन्) प्रत्यय होता है। अर्थ+इनिः=अर्थिन् (अर्थी) अर्थ के सन्निधान (उपस्थिति) में इसका प्रत्युदाहरण मतुप्प्रत्ययान्त 'अर्थवान्' शब्द बनता है। इस प्रकार अर्थ=धन से विहीन व्यक्ति को अर्थी=याचक और अर्थ=धन वाले को अर्थवान् कहते हैं। अर्थिनः भावः अर्थित्वम्।

इस श्लोक के चौथे चरण में वर्तमान सामान्य अर्थ से अर्थित्वगमनरूप विशेष अर्थ का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥ ६ ॥

व्युत्पत्तिः— जातम्—√जन्+क्त+विभक्तिः। बन्धुः—बध्नाति मनः स्नेहादिना इति बन्धुः। √बन्ध=उः+विभक्तिः। याच्ञा—√याच्+नङ्+श्चुत्वे टाप्+विभक्तिः। याच्ञा इति शुद्धं पदं याञ्चा इत्यशुद्धमिति ॥ ६ ॥

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद! प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

संतप्तों का शरण! जलद! तू अतः प्रिया से कह संदेश,
धनपति के कारण वियोग में भोग रहा हूँ ऐसे क्लेश।
यक्षपुरी अलका को जाना जहाँ महल कर रही उदोत-
बाहर के उपवन में बैठे भव के भालचंद्र की जोत ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे पयोद ! त्वम्, सन्तप्तानाम्, शरणम्, असि, तत्, धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य, मे, सन्देशम्, प्रियायाः, हर, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या, अलका नाम, यक्षेश्वराणाम्, वसतिः, ते, गन्तव्या ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—हे पयोद=हे मेघ, त्वम्=तुम, सन्तप्तानाम्=संतापयुक्तों के, शरणम्=रक्षक, असि=हो, तत्=अतः, इसलिए, धनपति-क्रोध-विश्लेषितस्य=कुबेर के कोप से (पत्नी से) बिछुड़े हुए, मे=मेरे, सन्देशम्=संदेश को, प्रियायाः=प्रिया के पास, हर=पहुँचा दो, बाह्योद्यानस्थित-हर-शिरश्चन्द्रिका-धौत-हर्म्या=बाहर के उद्यान में विद्यमान शिव जी के शिर पर स्थित चंद्रिका के कारण धवल प्रासादों से संपन्न, अलका नाम=अलका नाम वाली, यक्षेश्वराणाम्=यक्षेश्वरों की, वसतिः=नगरी, ते=तुम्हारी, गन्तव्या=मंजिल होगी ॥ ७ ॥

अर्थः—हे मेघ ! तुम संतप्तजनों के रक्षक हो । अतः कुबेर के कोप के कारण (पत्नी से) बिछुड़े हुए मेरे संदेश को प्रिया के पास पहुँचा दो । बाहर के उद्यान में विद्यमान शिव जी के शिर पर स्थित चंद्रिका के कारण धवल प्रासादों से संपन्न अलका नाम वाली, यक्षेश्वरों की नगरी में तुम्हें जाना है ॥ ७ ॥

सञ्जीवनी—संतप्तानामिति । हे पयोद ! त्वं संतप्तानामातपेन वा प्रवासविरहेण वा संज्वरितानाम् । 'संतापः संज्वरः समौ' इत्यमरः । शरणं पयोदानेनातपखिन्नानां प्रोषितानां स्वस्थानप्रेरणया च रक्षकोऽसि । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । तत्तस्मात्कारणाद्धनपतेः कुबेरस्य क्रोधेन विश्लेषितस्य प्रियया वियोजितस्य मे मम सन्देशं वार्तां प्रियाया हर प्रियां प्रति नयेत्यर्थः । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । सन्देशहरणेनावयोः सन्तापं नुदेत्यर्थः । कुत्र स्थाने सा स्थिता तत्स्थानस्य वा किं व्यावर्तकं तत्राह—गन्तव्येति । बहिर्भवं बाह्यम् । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च' इति यञ् । बाह्य उद्याने स्थितस्य हरस्य शिरसि या चन्द्रिका तया धौतानि निर्मलानि हर्म्याणि धनिकभवनानि यस्यां सा तथोक्ता । 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः । अनेन व्यावर्तकमुक्तम् । अलका नामालकेति प्रसिद्धा यक्षेश्वराणां वसतिः स्थानं ते तव गन्तव्या । त्वया गन्तव्येत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अलका—यह यक्षाधिपति कुबेर की नगरी मानी गई है। इसमें बड़े-बड़े धनी यक्षों का निवास माना गया है। यह कैलास पर्वत की गोद में बसी हुई मानी जाती है। यही कारण है कि इसके महल शिव के शिर पर स्थित चंद्र की चंद्रिका से धवल बतलाये गये हैं।

व्युत्पत्तिः—संतप्तानाम्—सम् + √तप्+क्त+विभक्तिः। अलका—अल+क्वुन्+टाप् + विभक्तिकार्यम् ॥ ७ ॥

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसत्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

आँखों पर से बाल उठाकर देख हवा पर तुझे सवार,
पथिक-रमणियाँ धैर्य धरेंगी प्रियजन का आगमन विचार।
भला कौन तेरे घिरने पर सकता है बिरहिन को भूल,
यदि न हमारी ऐसी उसको पराधीनता हो दुखमूल ॥ ८ ॥

अन्वयः—पवनपदवीम्, आरूढम्, त्वाम्, पथिकवनिताः, प्रत्ययात्, आश्वसत्यः, उद्गृहीतालकान्ताः (सत्यः), प्रेक्षिष्यन्ते, त्वयि, सन्नद्धे (सति), अहम्, इव, यः, जनः, पराधीनवृत्तिः, न, स्यात्, (सः), कः, अन्यः, विरहविधुराम्, जायाम्, उपेक्षेत ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—पवनपदवीम्=आकाश मार्ग पर. आकाश मार्ग से, आरूढम्=चढ़े हुए, जाते हुए, त्वाम्=तुम्हें, पथिकवनिताः=परदेशियों की स्त्रियाँ, प्रोषितभर्तृकाएँ, प्रत्ययात्=(पति के शीघ्र आगमन के) विश्वास से, आश्वसत्यः=आश्वस्त होकर, आश्वस्त होती हुई, उद्गृहीतालकान्ताः सत्यः=घुँघराले केशों के अग्रभागों को उठाकर, प्रेक्षिष्यन्ते=देखेंगी। त्वयि=तुम्हारे, सन्नद्धे सति=(आकाश में) उमड़ने पर, अहम् इव=मेरी तरह, यः=जो, जनः=व्यक्ति, पराधीनवृत्तिः=पराधीन, परवश आचरणवाला, न=नहीं, स्यात् =होगा, (सः=ऐसा), कः=कौन, अन्यः=दूसरा व्यक्ति, विरहविधुराम्=वियोग से दुर्बल, जायाम् =प्रियतमा को, पत्नी को, उपेक्षेत=भुला सके, उपेक्षित करे ॥ ८ ॥

अर्थः—आकाश मार्ग से जाते हुए तुम्हें प्रवासियों की स्त्रियाँ (पति के शीघ्र आगमन के) विश्वास से आश्वस्त होकर (अपने) घुंघराले केशों के अग्रभागों को उठाकर देखेंगी। तुम्हारे आकाश में उमड़ने पर मेरी तरह जो व्यक्ति पराधीन नहीं होगा, (ऐसा) कौन दूसरा व्यक्ति है जो वियोग से दुर्बल पत्नी को भुला सकेगा ? ॥ ८ ॥

सञ्जीवनी—मदर्थं प्रस्थितस्य ते पथिकाङ्गनाजनाश्वासनमानुषङ्गिकं फलमित्याह—त्वामिति। **पवनपदवीमाकाशमारूढं त्वाम्**। पन्थानं गच्छन्ति ये ते **पथिकाः**। 'पथः ष्कन्' इति ष्कन्प्रत्ययः। **तेषां वनिताः** प्रोषितभर्तृकाः। **प्रत्ययात्** प्रियागमनविश्वासात्। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। **आश्वसत्यो** विश्वसिताः। श्वसिधातोः शत्रन्तात् 'उगितश्च' इति ङीप्। तथोद्गृहीतालकान्ता दृष्टिप्रसारार्थमुन्नमय्य धृतालकाग्राः सत्यः **प्रेक्षिष्यन्ते** अत्युत्कण्ठतया द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः। मदागमनेन पथिकाः कथमागमिष्यन्तीत्यत्राह। तथा हि। **त्वयि सन्नद्धे** व्यापृते सति **विरहेण विधुरां** विवशां **जायां क उपेक्षेत**। न कोऽपीत्यर्थः। **अन्योऽपि** मद्व्यतिरिक्तोऽपि यो जनोऽहमिव **पराधीनवृत्तिः** परायत्तजीवनको न **स्यात्**। स्वतन्त्रस्तु न कोऽप्युपेक्षेतेति भावः। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तम्—'कार्यकारणसामान्यविशेषाणां परस्परम्। समर्थनं यत्र सोऽर्थान्तरन्यास उदाहृतः।' इति लक्षणात् ॥ ८ ॥

टिप्पणी—पवनपदवीम्—वायु सर्वदा आकाश में ही बहता है। आकाश में ही चलता है। अतः आकाश को वायु-मार्ग कहते हैं। मेघ का पवनपदवी पर आरूढ़ होने का अर्थ है—मेघ का आकाश में उमड़कर चलना।

उद्गृहीतालकान्ताः—जिन स्त्रियों के पति परदेश चले गये हैं। वे शारीरिक शृङ्गार नहीं करती हैं। उनके घुँघराले केश छितराये रहते हैं। जब वे ऊपर की ओर मेघों को ध्यान से देखती हैं, उस समय अपने केशों के छोर को पकड़कर ऊपर की ओर उठा लेती हैं।

पथिकवनिता''''प्रत्ययात्—पथिक कहते हैं परदेशियों को, प्रवासियों को। प्राचीन काल में मानव दिवाली या विजया दशमी बीतते ही आठ महीने के लिए व्यापार अथवा नौकरी के संदर्भ में बाहर चले जाते थे। वर्षा के आरंभ होने के

साथ ही वे पुनः अपने घरों को वापस आते थे। आकाश में मेघों को देखकर उनकी स्त्रियाँ अपने पतियों के शीघ्र लौटने का विश्वास करती थीं। वर्षा की विरह-वेदना भी उन्हें घर वापस आने के लिए बाध्य करती थी।

आश्वसत्यः—आश्वसन्तीति, आङ् उपसर्गपूर्वक 'श्वस्' धातु से लट् लकार के स्थान में शतृ प्रत्यय होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'उगितश्च' इस सूत्र से ङीप् होकर प्रथमा के बहुवचन में 'आश्वसत्यः' यह रूप बनता है।

'श्वस्' धातु अदादिगणी है। अतः 'अदि प्रभृतिभ्यः शपः' सूत्र से शप् का लुक् हो गया है। यही कारण है कि 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इस सूत्र से नुम् आगम न होने पर आश्वसत्यः यह रूप बनता है। मल्लिनाथ को भी यही पाठ अभीष्ट है। परंतु कुछ लोग महाभारत का 'न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।' और भट्टिकाव्य का 'आश्वसेयुर्निशाचराः' तथा किसी एक और श्लोक 'न विश्वसेत् पूर्वविरोधितस्य' इत्यादि प्रयोगों को देखकर तथा 'भ्वादिस्तु आकृतिगणः, तेन चुलुम्पतीत्यादिसंग्रहः' सिद्धान्तकौमुदी के इस कथन को प्रमाण मान कर श्वस् धातु का भ्वादिगण में भी पाठ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार धातु के भ्वादिगणी मान लेने पर 'आश्वसन्त्यः' यह पाठांतर भी बन जाता है। कुछ लोग इसी पाठ को स्वीकार करते हैं ॥ ८ ॥

इस श्लोक में अर्थांतरन्यास अलंकार है।

व्युत्पत्तिः—आरूढम्—आ+√रुह्+क्त कर्तरि+विभक्तिः। उद्गृहीत०—उद्+√ग्रह्+क्त कर्मणि+विभक्त्यादिः। प्रत्ययात्—प्रति + √इ + अच् भावे+विभक्तिः। आश्वसत्यः—आ + √श्वस् (अदादिः) + शतृ लटः स्थाने + ङीप् स्त्रियाम् आश्वसती, बहुवचने आश्वसत्यः। सन्नद्ध०—सम् + √नह् (बन्धने)+क्त कर्तरि+विभक्त्यादिः। विरहविधुराम्—विगता अथवा विघटिता धूः अस्या इति विधुरा—वि + धुर् + अ + टाप् + स्त्रीलिङ्गे विभक्तिः ॥ ८ ॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नुदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥

मन्द मन्द अनुकूल पवन यह तुझको सीधे बहा रहा,
तेरा सगा पपीहा बायें पिहक रहा चहचहा रहा।
तो अवश्य प्रिय-दर्शन ! तेरा नभ में बहुत करेंगी मान,
पाँत बाँध कर उड़ी बगुलियाँ गर्भाधान समय को जान ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनुकूलः, पवनः, यथा, मन्दं मन्दम्, त्वाम्, नुदति, च, सगन्धः, ते, वामः, अयम्, चातकः, मधुरम्, नुदति, गर्भाधानक्षणपरिचयात्, खे, आबद्धमालाः, बलाकाः, नयनसुभगम्, भवन्तम्, नूनम्, सेविष्यन्ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—अनुकूलः=अनुकूल, पीछे की ओर से बहनेवाला, पवनः=वायु, यथा=भावी फल के अनुरूप ही, मन्दं मन्दम्=अत्यंत धीरे-धीरे, त्वाम्=तुम्हें, नुदति=प्रेरित कर रहा है, च=तथा, सगन्धः=सगर्व, गर्वीला, ते=तुम्हारे, वामः=बाईं ओर स्थित, अयम्=यह, चातकः=चातक पक्षी, मधुरम्=मधुर, नदति=शब्द कर रहा है, गर्भाधानक्षणपरिचयात्=गर्भाधान के आनंद के समय परिचय होने से, खे=आकाश में, आबद्धमालाः=पंक्तिवद्ध, कतार लगाई हुई, बलाकाः=वगुलियाँ, वकपंक्तियाँ, नयनसुभगम्=नेत्रों को सुंदर लगने वाले, भवन्तम्=आपका, नूनम्=निश्चय ही, सेविष्यन्ते=सेवन करेंगी, आश्रय लेंगी ॥ ९ ॥

अर्थः—अनुकूल (अर्थात् पीछे की ओर से बहनेवाला) वायु भावी फल के अनुरूप ही अत्यंत धीरे-धीरे तुम्हें प्रेरित कर रहा है। तथा गर्वीला, तुम्हारे वायीं ओर स्थित, यह चातक मधुर शब्द कर रहा है। गर्भाधान के आनंद के समय परिचय होने से, आकाश में पंक्तिवद्ध वगुलियाँ नेत्रों को सुंदर लगनेवाले आपका निश्चय ही आश्रय लेंगी ॥ ९ ॥

सञ्जीवनी—निमित्तान्यपि ते शुभानि दृश्यन्त इत्याह—मन्दं मन्दमिति। अनुकूलः पवनो वायुस्त्वां मन्दं मन्दम्। अतिमन्दमित्यर्थः। अत्र कथञ्चिद्वीप्सायामेव द्विरुक्तिर्निर्वाह्या। 'प्रकारे प्रवचनस्य' इत्येतदाश्रयणे तु कर्मधारयवद्भावे सुब्लुकि मन्दं मन्दमिति स्यात्। तदेवाह वामनः—'मन्दं-मन्दमित्यत्र प्रकारार्थे द्विर्भावः।' इति यथा सदृशम्। भाविफलानुरूपमित्यर्थः। 'यथा सादृश्ययोग्यत्ववीप्सास्वार्थानतिक्रमे' इति यादवः। नुदति प्रेरयति। अयं सगन्धः सगर्वः। संबन्धीति केचित्। 'गन्धो गन्धज आमोदे' 'लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। ते तव वामो

वामभागस्थः । 'वामस्तु वक्रे रम्ये स्यात्सव्ये वामगतेऽपि च' इति शब्दार्णवे । **चातकः** पक्षिविशेषश्च **मधुरं** श्राव्यं **नुदति** व्याहरति । इदं निमित्तद्वयं वर्तते वर्तिष्यते चापरं निमित्तमित्याह—**गर्भेति** । **गर्भः** कुक्षिस्थो जन्तुः । 'गर्भोपकारके ह्यग्नौ सुखे पनसकण्टके । कुक्षौ कुक्षिस्थजन्तौ च' इति यादवः । तस्याधानमुत्पादनं तदेव **क्षणम्** उत्सवः । सुखहेतुत्वादिति भावः । 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः । तस्मिन्परिचयादभ्यासाद्धेतोः **खे** व्योम्नि । **आबद्धमालाः** । गर्भाधानसुखार्थं त्वत्समीपे बद्धपङ्क्तय इत्यर्थः । उक्तं च कर्णोदये—'गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्' इति । **बलाका** बलाकाङ्गना **नयनसुभगं** दृष्टिप्रियं **भवन्तं** नूनं सत्यं **सेविष्यन्ते** । अनुकूलमारुतचातकशब्दितबलाकादर्शनानां शुभसूचकत्वं शकुनशास्त्रे दृष्टं तद्विस्तरभयान्नालेखि ॥ ९ ॥

टिप्पणी--मन्दं मन्दम्—मल्लिनाथ जिस किसी तरह वीप्सा में यहाँ द्विरुक्ति मानते हैं । वे 'मन्दं मन्दं नुदति' ऐसा अन्वय करते हैं । किंतु कुछ लोगों का कहना है कि मंद शब्द गुणवाचक है । अतः इसका वीप्सा अर्थ असंभव है । गुणवाचक होने से 'प्रकारे गुणवचनस्य' इस सूत्र से प्रकार अर्थ में द्वित्व होकर 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इस सूत्र से विभक्ति का लोप हो जाने पर 'मन्दमन्दं' ऐसा रूप होगा । अतः 'मन्दं यथा त्वां मन्दं नुदति' ऐसा अन्वय कर व्याख्या करनी चाहिए । इससे महाकवि की प्रामाणिकता सुरक्षित रह जाएगी । किंतु इस प्रकार की अनियमितता कभी-कभी कवि लोग कर भी दिया करते हैं । भवभूति ने उत्तररामचरित में लिखा है--'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगात् ।' (उत्तरराम० १।२७) । किंतु हमारा कवि ऐसी असावधानी बहुत कम करता है । उत्तर मेघ में उसने लिखा है--'संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा, सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्द मन्दातपं स्यात् । ॥ ४५ ॥ वायु का मंद-मंद बहना शुभसूचक माना गया है ।

वामः—वाम का अर्थ है--वामस्थ । यह चातक का विशेषण है । यात्रा के आरंभ में चातक का बायीं ओर होना शुभसूचक माना गया है । 'बर्हिणश्चातकाश्चाषा ये च पुंसंज्ञिताः खगाः । मृगा वा वामगा दृष्टाः सैन्यसम्पद्बलप्रदाः' ॥ विल्सन के द्वारा उद्धृत ।

सगन्धः—विश्वकोष के अनुसार गन्ध का अर्थ संबंध एवं गर्व। हलायुध सगंध का अर्थ 'बंधु' करता है।

गर्भाधानक्षण०—वलाकाएँ अर्थात् वगुलियाँ उस समय गर्भ धारण करती हैं, जव कि आकाश में वर्षा के नवीन मेघ मँडराना आरंभ करते हैं। गर्भाधान के आनंद के समय वे मेघ को सानंद देखती हैं, पहचानती हैं। अतः आषाढ़ में जव-जव मेघ आकाश में प्रथम वार दिखलायी पड़ता है, तव-तव वे पंक्ति वना कर उसका सेवन करती हैं, आनंद लेती हैं॥ ९॥

व्युत्पत्तिः—आवद्ध०—आ+वन्ध्+क्त+विभक्त्यादिः। वलाकाः—वल+√अक् + अच् + स्त्रियां टाप् + विभक्तिः॥ ९॥

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥१०॥

दिन गिन गिन कर धीरज धरती पतिव्रता भावज तेरी,
जीती ही दिखलाई देगी जो न लगी तुझको देरी।
कुसुम-समान हृदय रमणी का जब वियोग में कुम्हलाता,
आशा-रूप-वृन्त के कारण गिरते गिरते रुक जाता॥१०॥

अन्वयः—(हे मेघ), अविहतगतिः, (त्वम्), दिवसगणनातत्पराम्, अव्यापन्नाम्, एकपत्नीम्, ताम्, भ्रातृजायाम्, अवश्यम्, द्रक्ष्यसि, च (यतः), आशाबन्धः, प्रणयि, कुसुमसदृशम्, विप्रयोगे, सद्यःपाति, अङ्गनानाम्, हृदयम्, प्रायशः, रुणद्धि॥ १०॥

शब्दार्थः—(हे मेघ=हे वादल), अविहतगतिः=निर्विघ्न गति, विघ्नरहित गतिवाले, (त्वम्=तुम), दिवसगणनातत्पराम्=(विरह के अवशिष्ट) दिनों की गणना में लगी हुई, अव्यापन्नाम्=(मेरे आने की आशा से) जीवन धारण की हुई, एकपत्नीम्=पतिव्रता, ताम्=उस, भ्रातृजायाम्=भाभी (मेरी पत्नी) को, अवश्यम्=निश्चय ही, द्रक्ष्यसि=देखोगे, च=ही, अथवा यह यहाँ पादपूर्ति के

लिए है, (यतः=क्योंकि), आशावन्धः=आशारूप वन्धन, प्रणयि=प्रेमपूर्ण, कुशुमसदृशम्=फूलों की तरह (सुकुमार), विप्रयोगे=वियोग की अवस्था में, सद्यःपाति=तत्क्षण गिर जाने वाले, नष्ट हो जाने वाले, अंगनानाम्=सुन्दरियों के हृदयम्=जीवन को, प्रायशः=प्रायः, अकसर, रुणद्धि=रोक रखता है ॥ १० ॥

अर्थः—(हे मेघ), विघ्नरहित गतिवाले तुम (विरह के अवशिष्ट) दिनों की गणना में लगी हुई, (मेरे आने की आशा से) जीवन धारण की हुई, पति-व्रता उस (अपनी) भाभी (अर्थात् मेरी पत्नी) को निश्चय ही देखोगे, क्योंकि आशारूप बंधन प्रेमपूर्ण, फूलों की तरह (सुकुमार), वियोग की अवस्था में तत्क्षण नष्ट हो जाने वाले, सुंदरियों के जीवन को प्रायः रोक रखता है ॥ १० ॥

सञ्जीवनी—तां चेति । हे मेघ ! **दिवसानामवशिष्टदिनानां गणनायां** संख्याने **तत्परामासक्ताम्** । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः । अतएव**अव्यापन्नाम**मृताम् । शापावसाने मदागमनप्रत्याशया जीवन्तीमित्यर्थः । एकः पतिर्यस्याः **सैकपत्नी** ताम् । पतिव्रतामित्यर्थः । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च । भ्रातुर्मे जायां **भ्रातृजायाम्** । मातृवन्निःशङ्कं दर्शनीयामित्याशयः । तां मत्प्रियाम **विहतगतिरविच्छि-न्नगतिः** सन्नवश्यं **द्रक्ष्यसि** चालोकयिष्यस्येव । तथाहि । आशातितृष्णा 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति यादवः । बध्यतेऽनेनेति वन्धो वन्धनम् वृन्तमिति यावत् । आशैव वन्धः **आशाबन्धः** कर्ता । **प्रणयि** प्रेमयुक्तमत एव **कुसुमसदृशम्** सुकुमार-मित्यर्थः । अत एव **विप्रयोगे** विरहे **सद्यः पाति** सद्योभ्रंशनशील**मङ्गनानां हृदयं** जीवितम् । 'हृदयं जीविते चित्ते वक्षस्याकूतहृद्ययोः' इति शब्दार्णवे । **प्रायशः** प्रायेण **रुणद्धि** प्रतिवध्नाति । अर्थान्तरन्यासः ॥ १० ॥

टिप्पणी—दिवसगणनातत्पराम्—यह सर्वत्र देखा जाता है कि जब प्रियतम कुछ निश्चित दिनों के लिए कहीं वाहर चला जाता है, तव तरुणी प्रियतमा दिनों को गिन-गिन कर उसके वापस आने की प्रतीक्षा करती है । दिनों की यह गणना ही उसे जीवित रखने का साधन होती है । यक्ष का शाप एक वर्ष के लिए है । अतः यक्षपत्नी दिनों को गिन-गिन कर आशापूर्वक जी रही है ।

अव्यापन्नाम्—यक्ष की प्रियतमा आशापूर्वक दिनों को गिन रही है । अतः उसके जीवन-त्याग की आशा नहीं करनी चाहिए ।

भ्रातृजायाम्—यक्ष ने मेघ के साथ भाई का रिश्ता जोड़ लिया है। अतः उसकी पत्नी मेघ की भौजाई हुई। भौजाई बड़े भाई की पत्नी को कहते हैं। बड़े भाई की पत्नी माँ की तरह समादरणीय हुआ करती है। अतः इस कथन के द्वारा उक्त तथ्य को बतलाकर यक्ष निश्चित होना चाहता है। अन्यथा पावन सम्बन्ध न होने के कारण मेघ यक्षप्रिया से छेड़-छाड़ भी कर सकता था। भौजाई को देखने, उससे बातें करने तथा उसके साथ कुछ क्षण बिताने पर भी मेघ को परस्त्री के साथ संभाषण से होनेवाला पाप नहीं लगेगा। यह अर्थ भी सूचित होता है ॥ १० ॥

व्युत्पत्तिः—०गणना—√गण् + विच् + युच् + टाप् + विभक्त्यादिः । अव्यापन्नाम्—नञ् (अ) + वि + आ + √पद् + क्तः (कर्तरि) + टाप् + विभक्त्यादिः । ०गतिः—√गम् + क्तिन् + विभक्त्यादिः । आशाबन्धः—बध्यते अनेनेति बन्धः, √बन्ध् + घञ् । आशा एव बन्धः रूपकसमासः ॥ १० ॥

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामबन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ ११ ॥

छत्रक उपजा कर धरती को शस्यशालिनी जो करता,
श्रुति सुख सुन वह तेरा गर्जन जब हंसों का मन भरता।
कमलनाल के मृदुल दलों का संबल तब वे ले लेकर,
मानसगामी नभ में होंगे हरगिरि तक तेरे सहचर ॥ ११ ॥

अन्वयः—यत्, महीम्, उच्छिलीन्ध्राम्, च, अबन्ध्याम्, कर्तुम्, प्रभवति, श्रवणसुभगम्, ते, तत्, गर्जितम्, श्रुत्वा, मानसोत्काः, बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः, राजहंसाः, नभसि, आकैलासात्, भवतः, सहायाः, संपत्स्यन्ते ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—यत्=जो, महीम्=धरती को, उच्छिलीन्ध्राम्=उगते हुए शिलीन्ध्रों से युक्त, च =अतः; अबन्ध्याम्=शस्यशालिनी, कृषि से भरपूर, कर्तुम्=करने में,

बनाने में, प्रभवति = समर्थ होता है, श्रवणसुभगम् = कानों को सुख देने वाले, ते = तुम्हारे, तत् = उस, गर्जितम् = गर्जन को, श्रुत्वा = सुनकर, मानसोत्का: = मानसरोवर को जाने के लिए उत्कंठित, बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः = मार्ग में खाने के लिए मृणाल के कोमल भाग के टुकड़ों को लिये हुए, राजहंसा: = राजहंस, उत्तम जाति के हंस, नभसि = आकाश में, आकैलासात् = कैलास पर्वत पर्यंत, भवत: = तुम्हारे, सहाया: = सहचर, साथी, संपत्स्यन्ते = होंगे, बनेंगे ॥ ११ ॥

अर्थ:—जो धरती को उगते हुए शिलीन्ध्रों (छत्रकों) से युक्त अतः शस्यशालिनी बनाने में समर्थ होता है, कानों को सुख देने वाले तुम्हारे उस गर्जन को सुनकर मानसरोवर जाने के लिए उत्कठित, मार्ग में खाने के लिए मृणाल के कोमल भाग के टुकड़ों को लिये हुए राजहंस आकाश में कैलास पर्वत पर्यंत तुम्हारे सहचर बनेंगे ॥ ११ ॥

सञ्जीवनी—सम्प्रति सहायसम्पत्तिश्चास्तीत्याह—**कर्तुमिति**। **यद्** गर्जितं **कर्तुं**। **महीमुच्छिलीन्ध्रामुद्भूतकन्दलिकाम्**। 'कन्दल्यां च शिलीन्ध्रः स्यात्' इति शब्दार्णवे। अत **एवावन्ध्यां सफलां कर्तुं प्रभवति** शक्नोति। शिलीन्ध्राणां भाविसस्यसम्पत्तिसूचकत्वादिति भावः। यदुक्तं निमित्तनिदाने—'कालाभ्रयोगादुदिताः शिलीन्ध्राः सम्पन्नसस्यां कथयन्ति धात्रीम्' इति। **तच्छ्रवणसुभगं** श्रोत्रसुखम्। लोकस्येति शेषः। **ते** तव **गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्का** मानसे सरस्युन्मनसः। उत्सुका इति यावत्। 'उत्क उत्सुक उन्मनाः' इति निपातनात्साधु। कालान्तरे मानसस्य हिमदुष्टत्वाद्धिमस्य च हंसानां रोगहेतुत्वादन्यत्र गता हंसाः पुनर्वर्षासु मानसमेव गच्छन्तीति प्रसिद्धिः। **बिसकिसलयानां** मृणालाग्राणां **छेदैः** शकलैः **पाथेयवन्तः** पथि साधु पाथेयं पथि भोज्यम्। 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्।' तद्वन्तः। मृणालकन्दशकलसम्बलवन्त इत्यर्थः **राजहंसा** हंसविशेषाः। 'राजहंसास्तु ते चंचुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः। **नभसि** व्योम्नि। **भवतस्तव**। **आकैलासात्कैलासपर्यन्तम्**। पदद्वयं चैतत्। **सहायाः** सयात्राः। 'सहायस्तु सयात्रः स्यात्' इति शब्दार्णवे। **सम्पत्स्यन्ते** भविष्यन्ति ॥ ११ ॥

टिप्पणी—**यत्**—यह पद गर्जन के लिए आया है और यही कर्ता है।

शिलीन्ध्र—शिलीन्ध्र को छत्रक तथा कुकुरमुत्ता भी कहते हैं। यह मेघ के प्रथम आगमन के समय ही धरती को फाड़कर निकलता है। इसका निकलना या अधिक निकलना भावी कृषि-संपत्ति को सूचित करता है।

मानसोत्काः—मेघों के प्रथम आलोक के समय ही उत्तम जाति के हंस मानसरोवर जाने के लिए उत्कंठित हो उठते हैं। भूतल पर वर्षा की गन्दगी उन्हें पसन्द नहीं हैं। राजहंस शरद् ऋतु के आगमन के साथ ही भूतल पर आते हैं और वर्षा के पूर्व ही पुनः मानसरोवर के लिए प्रस्थान कर जाते हैं।

किसलयः—हंस कमलनाल को खाते हैं। उसका दूध पीते हैं। अतः मार्ग में खाने के लिए कमलनाल के कोमल खंडों को लेकर वे प्रस्थान करते हैं॥ ११ ॥

व्युत्पत्तिः—श्रवणः —√ श्रु + ल्युट् करणे+विभक्तिः। छेदः—√छिद् + घञ् कर्मणि+विभक्तिः ॥ ११ ॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ १२ ॥

जिसके ऊपर रघुनायक के वन्दनीय चरणों की छाप,
उस प्रियबन्धु तुंग गिरिवर से मिलकर बिदा माँग तू आप।
समय-समय पर ही तुझको पा जो चिर-विरह-जन्य तत्काल,
उष्ण बाष्प मोचन कर करके कहता व्यथित हृदय का हाल ॥१२॥

अन्वयः—प्रियसखम्, तुङ्गम्, पुंसाम्, वन्द्यैः, रघुपतिपदैः, मेखलासु, अङ्कितम्, अमुम्, शैलम्, आलिङ्ग्य, आपृच्छस्व, काले काले, भवतः, संयोगम्, एत्य, चिरविरहजम्, उष्णम्, बाष्पम्, मुञ्चतः, यस्य, स्नेहव्यक्तिः, भवति ॥१२॥

शब्दार्थः—प्रियसखम्=प्रिय मित्र, तुंगम्=उन्नत, ऊँचे, पुंसाम्=पुरुषों के लिए, प्राणियों के लिए, = वन्द्यैः=वन्दनीय, रघुपतिपदैः=श्रीराम के चरणों से, मेखलासु=ढलानों पर, अथवा मध्य प्रदेशों में, अङ्कितम्=चिह्नित, अमुम्=इस, उस, शैलम्=पर्वत को अलिङ्ग्य=आलिङ्गन करके, आपृच्छस्व=बिदा माँग

लो, काले काले=समय समय पर, भवतः=तुम्हारे, संयोगम्=साहचर्य को, एत्य=पाकर, चिरविरहजम्=बहुत दिनों के विरह से उत्पन्न, उष्णम्=गरम, वाष्पम्=आँसू या भाप को, मुञ्चतः=छोड़ने वाले, वहाने वाले, यस्य = जिसकी, स्नेहव्यक्ति = प्रेमाभिव्यक्ति, भवति = होती है ॥ १२ ॥

अर्थः—(अपने) प्रिय मित्र, उन्नत और प्राणियों के लिये वन्दनीय श्रीराम के चरणों से चिह्नित, इस पर्वत का आलिङ्गन करके विदा माँग लो। समय-समय पर तुम्हारे साहचर्य को पाकर वहुत दिनों के विरह से उत्पन्न गरम वाष्प (आँसू, भाप) को छोड़ने से जिस (रामगिरि पर्वत) के स्नेह की अभिव्यक्ति होती है ॥ १२ ॥

सञ्जीवनी—आपृच्छस्वेति । प्रियं सखायं **प्रियसखम्** । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः । **तुङ्गमुन्नतं पुंसां वन्द्यैराराधनीयै रघुपतिपदै** रामपादन्यासैर्**मेखलासु** कटकेषु । 'अथ मेखला । श्रोणिस्थानेऽद्रिकटके कटिवन्धेभवन्धने' इति यादवः । **अङ्कितं** चिह्नितम् । इत्थं सखित्वान्महत्वात्पवित्रत्वाच्च सम्भावनार्हम् । **अनुं शैलं** चित्रकूटाद्रिमालिङ्ग्यापृच्छस्व साधो यामीत्यामन्त्रणेन सभाजय । 'आमन्त्रणसभाजने आप्रच्छनम्' इत्यमरः । 'आङिनुपृच्छयोरुपसंख्यानम्' इत्यात्मनेपदम् । सखित्वं निर्वाहयति—काल इति । **काले काले** प्रतिप्रावृट्कालम् । सुहृत्समागमः कालश्च कालशब्देनोच्यते । वीप्सायां द्विरुक्तिः । **भवतः संयोगं** सम्पर्कमेत्य **चिरविरहजमुष्णं वाष्पमू**ष्माणं नेत्रजलं च । 'वाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः । **मुञ्चतो यस्य** शैलस्य **स्नेहव्यक्तिः** प्रेमाविर्भावो **भवति** । स्निग्धानां हि चिरविरहसङ्गतानां वाष्पपातो भवतीति भावः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—मेखलासु—पर्वत की ढलान को मेखला कहते हैं । कुछ लोगों ने मेखला का अर्थ पर्वत का मध्यभाग अथवा ऊपरी भाग किया है । रामचन्द्र जी ने अपने वनवास के समय रामगिरि पर निवास किया था ।

मुञ्चतो वाष्पम्—ग्रीष्म की प्रचण्ड ऊष्मा पर्वत को तपा डालती है । उसका पत्थर-पत्थर अंगारा वन जाता है । वर्षा के प्रथम बिन्दु जव पर्वत पर पड़ते हैं, उस समय वाष्प (भाप) निकलने लगता है । कवि की कल्पना है कि आषाढ़ में वहुत

दिनों के वाद पर्वत अपने मित्र मेघ से मिलता है। अतः वह अपने विरहजन्य दुःख को व्यक्त करने के लिए आँसू वहा रहा है॥ १२॥

व्युत्पत्तिः—वन्द्यैः—√वन्द + ण्यत् + विभक्तिः। आलिङ्ग्य—आ + √लिङ्ग + क्त्वा (ल्यप्)। संयोगम्—सम् + √युज् + घञ् + विभक्तिः। एत्य—आ + √इण् + (इ) + क्त्वा तत्स्थाने ल्यप्। मुञ्चतः—√मुच् + लट् (शतृ) + विभक्तिः। व्यक्तिः—वि + √अञ्ज् + क्तिन् + विभक्तिः॥ १२॥

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य॥ १३॥

प्रिय पयोद! प्रस्थान योग्य पथ बतला दूँ पहले तुझको,
श्रवण-योग्य सन्देश कहूँगा फिर जो कहना है मुझको।
उस पथ में थकने पर करना गिरिवर-शिखरों पर विश्राम,
और क्षीण होने पर पीना सरिता-सलिल सरस गुणधाम॥ १३॥

अन्वयः—हे जलद, तावत्, कथयतः, (मत्तः), त्वत्प्रयाणानुरूपम्, मार्गम्, शृणु, तदनु, श्रोत्रपेयम्, मे, सन्देशम्, श्रोष्यसि, यत्र, खिन्नः खिन्नः, (त्वम्), शिखरिषु, पदम्, न्यस्य, क्षीणः क्षीणः (सन्), स्रोतसाम्, परिलघु, पयः, च, उपभुज्य, गन्ता, असि॥ १३॥

शब्दार्थः—हे जलद = हे पयोद, तावत् = पहले, कथयतः = बतलाने वाले, (मत्तः = मुझसे), त्वत्प्रयाणानुरूपम् = तुम्हारी (अपनी) यात्रा के योग्य, मार्गम् = मार्ग को, शृणु = सुन लो, तदनु = फिर, तदनन्तर, श्रोत्रपेयम् = कर्ण-प्रिय, मे = मेरे, सन्देशम्=सन्देश को, श्रोष्यसि = सुनना। यत्र = जिस मार्ग में, खिन्नः खिन्नः = अत्यन्त श्रान्त हुए, (त्वम् = तुम), शिखरिषु = पर्वतों पर, पदम् = पैर, न्यस्य = रखकर, क्षीणः क्षीणः (सन्) = अति क्षीण होकर, स्रोतसाम् = सरिताओं के, परिलघु = हलके, पयः = जल को, च = भी, उपभुज्य = पीकर, गन्ता = जाने वाले, असि = हो, होओगे॥ १३॥

अर्थः—हे पयोद, पहले बतलाने वाले मुझसे अपनी यात्रा के योग्य मार्ग को सुन लो। फिर मेरे मधुर सन्देश को सुनना। जिस मार्ग में अत्यन्त श्रान्त हुए (तुम) पर्वतों पर पैर रखकर (अर्थात् पर्वत-शिखरों पर विश्राम कर) अति क्षीण होकर सरिताओं के हलके जल को पीकर (पुनः आगे) जाओगे ॥ १३ ॥

सञ्जीवनी—सम्प्रति तस्य मार्गं कथयति—**मार्गमिति**। हे **जलद** ! **तावदि**-दानीं **कथयतः**। मत्त इति शेषः। **त्वत्प्रयाणस्यानुरूपमनकूलं मार्गमध्वानम्**। 'मार्गो मृगपदे मासि सौम्यर्क्षेऽन्वेपणेऽध्वनि' इति यादवः। **शृणु**। **तदनु** मार्ग-श्रवणानन्तरं **श्रोत्राभ्यां पेयं** पानार्हम्। अतितृष्णया श्रोतव्यमित्यर्थः। पेयग्रहणा-त्संदेशस्यामृतसाम्यं गम्यते। **मे सन्देशं** वाचिकम्। 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। **श्रोष्यसि**। **यत्र** मार्गे **खिन्नः** खिन्नोऽभीक्ष्णं क्षीणबलः सन्। 'नित्य-वीप्सयोः' इति नित्यार्थे द्विर्भावः। **शिखरिषु** पर्वतेषु **पदं न्यस्य** निक्षिप्य। पुनर्ब-ललाभार्थं क्वचिद्विश्रम्येत्यर्थः। **क्षीणः** क्षीणोऽभीक्ष्णं कृशाङ्गः सन्। अत्रापि कृदन्त-त्वात्पूर्ववद्द्विरुक्तिः। **स्रोतसां परिलघु** गुरुत्वदोषरहितम्। उपलास्फालनखेदितत्वा-त्पथ्यमित्यर्थः। वाग्भट्टः—'उपलास्फालनक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मल-योद्भूताः पथ्या नद्यो भवन्त्यमूः।' इति **पानीयमुपभुज्य** शरीरपोषणार्थमभ्यवहृत्य च **गन्तासि** गमिष्यसि। गमेर्लुट् ॥ १३ ॥

टिप्पणी—मार्गं ···· शृणु—कोई भी व्यक्ति मार्ग के सरल तथा सुखप्रद होने पर ही यात्रा के लिए प्रस्तुत होता है। अतः यक्ष सर्वप्रथम मार्ग की सरलता तथा सुखप्रदता बतला रहा है। अब आरामदायक मार्ग को सुनकर जब मेघ वहाँ जाना स्वीकार करेगा तब यक्ष सन्देश कहेगा।

श्रोत्रपेयम्—एक तरुण, उस पर प्रवासी व्यक्ति अपनी प्रियतमा के लिए सन्देश भेज रहा है, कह रहा है। अब आप ही सोचिए कि उसका साहित्यिक सन्देश कर्ण-प्रिय नहीं तो क्या कर्णकटु होगा ? ॥ १३ ॥

व्युत्पत्तिः—कथयतः—√कथ् + णिच् + शतृ + पञ्चमी विभक्तिः। **प्रया-णम्**—प्र + √या + ल्युट् + विभक्त्यादिः। **सन्देशम्**—सम् + √दिश् + घञ् + विभक्तिः। **न्यस्य**—नि + √अस् + क्त्वा (ल्यप्)। **क्षीणः**—√

क्षि + क्त + 'क्षियो दीर्घात्' इति दीर्घे + विभक्त्यादिः। उपभुज्य—उप + √भुज् + क्त्वा (ल्यप्) ॥ १३ ॥

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥ १४ ॥

'कहीं वायु गिरिशिखर उड़ाये तो यह नहीं लिये जाता ?'
यों तू चकित मुग्ध सिद्धों की वधुओं से देखा जाता।
पथ में दिङ्नागों की भूषण सूंडों का हरते अभिमान
सरस-निचुलवाले इस थल से उत्तर को करना प्रस्थान ॥ १४॥

अन्वयः—पवनः, अद्रेः, शृङ्गम्, हरति, किंस्वित् ? इति, उन्मुखीभिः, मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः, चकितचकितम्, दृष्टोत्साहः, (त्वम्), सरसनिचुलात्, अस्मात्, स्थानात्, पथि, दिङ्नागानाम्, स्थूलहस्तावलेपान्, परिहरन्, उदङ्मुखः (सन्), खम्, उत्पत ॥ १४ ॥

शब्दार्थः– पवनः = वायु, अद्रेः = पर्वत के, शृङ्गम् = चोटी को, शिखर को, हरति = उड़ाकर ले जा रहा है, किंस्वित् = क्या ? इति = ऐसा सोच कर, उन्मुखीभिः = ऊपर मुख उठाई हुई, मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः = सिद्धों की भोली-भाली सुन्दरियों के द्वारा, चकितचकितम् = आश्चर्यपूर्वक, दृष्टोत्साहः = देखा जा रहा है उत्साह जिसका ऐसे, (त्वम् = तुम), सरसनिचुलात् = हरित स्थलवेतसों से भरे हुए, अस्मात् = इस, स्थानात् = स्थान से, पथि = मार्ग में, दिङ्नागानाम् = दिग्गजों की, स्थूलहस्तावलेपान् = मोटी-मोटी सूँड़ों के प्रहारों को, परिहरन् = बचाते हुए, उदङ्मुखः (सन्) = उत्तर की ओर मुख करके, खम् = आकाश में, उत्पत = उड़ो ॥ १४ ॥

अर्थः—'वायु पर्वत के शिखर को उड़ाकर ले जा रहा है क्या ?' ऐसा सोच कर ऊपर मुख उठाई हुई सिद्धों की भोली-भाली सुन्दरियाँ साश्चर्य (तुम्हारे उत्साह को देखें)। यह दृश्य देखते हुए (तुम) हरित स्थल वेतसों से भरे हुए

इस स्थान से, मार्ग में दिग्गजों की मोटी-मोटी सूँड़ों के प्रहारों को बचाते हुए, उत्तर की ओर मुख करके आकाश में उड़ो ॥ १४ ॥

सञ्जीवनी—अद्रेरिति । पवनो वायुरद्रेश्चित्रकूटस्य **शृङ्गं हरति किंस्वित्** । किंस्विच्छब्दो विकल्पवितर्कादिषु पठितः शङ्कयोन्मुखी**भिरु**न्नतमुखीभिः । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीप् । **मुग्धाभिर्मूढाभिः** । 'मुग्धाः सुन्दरमूढयोः' इत्यमरः । **सिद्धानां** देवयोनिविशेषाणा**मङ्गनाभिश्चकितचकितं** चकितप्रकारं यथा तथा । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । **दृष्टोत्साहो** दृष्टोद्योगः सन् । **सरसा** आर्द्रा **निचुलाः** स्थलवेतसा यस्मिंस्तस्मात् । 'वानीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे' इति शब्दार्णवे । **अस्मात्स्थाना**दाश्रमात्**पथि** नभोमार्गे **दिङ्नागानां** दिग्गजानां **स्थूला ये हस्ताः** करास्तेषामवलेपानाक्षेपान्परि**हरन्** । 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इति । 'अवलेपस्तु गर्वे स्यात्क्षेपणे दूषणेऽपि च' इति च विश्वः । **उदङ्मुखः सन्** । अलकाया उदीच्यत्वादित्याशयः **खमा**काश**मुत्पतो**द्गच्छ । अत्रेदमप्यर्थान्तरं ध्वनयति—रसिको निचुलो नाम महाकविः कालिदासस्य सहाध्यायः परापादितानां कालिदासप्रबन्धदूषणानां परिहर्त्ता यस्मिन्स्थाने तस्मात्स्थानादुदङ्मुखो निर्दोषत्वादुन्नतमुखः सन् पथि सारस्वतमार्गे दिङ्नागानाम् । पूजायां बहुवचनम् । दिङ्नागाचार्यस्य कालिदासप्रतिपक्षस्य हस्तावलेपान्हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः । अद्रेरद्रिकल्पस्य दिङ्नागाचार्यस्य शृङ्गं प्राधान्यम् । 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः । हरति किंस्विदिति हेतुना सिद्धैः सारस्वतसिद्धैर्महाकविभिरङ्गनाभिश्च दृष्टोत्साहः सन्खमुत्पतोच्चैर्भवेति स्वप्रबन्धमात्मानं वा प्रति कवेरुक्तिरिति । "संसर्गतो दोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि । स्थित्वानुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात् ।' इत्येतच्छ्लोकनिर्माणात्तस्य कवेर्निचुलसंज्ञेत्याहुः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—दिङ्नागानाम्—महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने इस श्लोक से एक अन्य अर्थ भी ध्वनित किया है । उनका कहना है कि—'सरसनिचुलात्' पद के द्वारा महाकवि कालिदास ने उन साहित्यिक कवि निचुल की ओर सङ्केत किया है जो उनके सहाध्यायी थे । ये महाकवि के अनन्य भक्त मित्र थे । यदि कोई आलोचक कालिदास की कविता में दोष निकालता था तो निचुल उसका

परिहार किया करते थे। सम्भवतः ये रामगिरि के आसपास ही कहीं के रहने-वाले थे। सरसनिचुल के स्थान से निर्दोष होने के कारण ऊँचा सिर करके मार्ग में अर्थात् सारस्वत मार्ग में 'दिङ्नाग' नामक बौद्ध आचार्य के हस्तविन्यासपूर्वक आक्षेपों का परिहार करते हुए आगे जाना। देखिए टीका ॥ १४ ॥

व्युत्पत्तिः—दृष्टः—√दृश् + क्तः कर्मणि + विभक्तिकार्यम्। **परिहरन्**—परि + √हृ + लट् (शतृ) + विभक्तिः। उत्पत—उद् + √पत् + लोट् ॥१४॥

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

बाँबी के ऊपर से सम्मुख देख निकलता आता है,
रत्नों के द्युति-मण्डल सा यह इन्द्रधनुष छवि पाता है।
इससे रुचिर साँवली सूरत वह तेरी मन भाएगी,
मोरपंख धर गोपवेश कर हरि की याद दिलाएगी ॥ १५ ॥

अन्वयः—रत्नच्छायाव्यतिकर इव, प्रेक्ष्यम्, एतत्, आखण्डलस्य, धनुःखण्डम्, पुरस्तात्, वल्मीकाग्रात्, प्रभवति; येन, ते, श्यामम्, वपुः, स्फुरितरुचिना, बर्हेण, गोपवेषस्य, विष्णोः, (श्यामम्, वपुः), इव, अतितराम्, कान्तिम्, आपत्स्यते।१५।

शब्दार्थः—रत्नच्छायाव्यतिकरः = (पद्मराग आदि) मणियों की प्रभा के संमिश्रण (की), इव = तरह, प्रेक्ष्यम् = दर्शनीय, एतत् = यह, आखण्डलस्य = इन्द्र के, धनुःखण्डम् = धनुष का टुकड़ा, पुरस्तात् = सामने, वल्मीकाग्रात् = वल्मीक (बाँबी) के ऊपर से, प्रभवति = निकल रहा है; येन = जिससे, ते = तुम्हारा, श्यामम् = श्यामल, वपुः = शरीर, स्फुरितरुचिना = उज्ज्वल कान्ति वाले, बर्हेण = मोरपङ्ख से, गोपवेशस्य = गोपवेश धारण करनेवाले, विष्णोः = विष्णु के, कृष्ण के, (श्यामम् = श्याम, वपुः = शरीर के), इव = समान, अतितराम् = अत्यन्त, कान्तिम् = शोभा को, आपत्स्यते=प्राप्त करेगा ॥१५॥

अर्थः—(पद्मराग आदि) मणियों की प्रभा के संमिश्रण की तरह दर्शनीय

यह इन्द्र के धनुष का टुकड़ा सामने वल्मीक (बाँबी) के ऊपर से निकल रहा है; जिससे तुम्हारा श्यामल शरीर, उज्ज्वल कान्तिवाले मोरपङ्ख से गोपवेश धारण करने वाले विष्णु के (श्याम शरीर के) समान अत्यन्त शोभायमान होगा ॥ १५ ॥

सञ्जीवनी—रत्नेति। रत्नच्छायानां पद्मरागादिमणिप्रभाणां **व्यतिकरो** मिश्रणमिव **प्रेक्ष्यं** दर्शनीयम**आखण्डलस्ये**न्द्रस्यै**तद्धनुःखण्डम्**। एतदिति हस्तेन निर्देशो विवक्षितः। **पुरस्ता**दग्रे **वल्मीकाग्रा**द्वामलूरविवरात्। 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। **प्रभव**त्याविर्भवति। **येन** धनुःखण्डेन **ते** तव **श्यामं वपुः**। **स्फुरितरुचिनो**ज्ज्वलकान्तिना **बर्हेण** पिच्छेन 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। **गोपवेषस्य विष्णो**र्गोपालस्य कृष्णस्य श्यामं वपुरिव **अतितरां कान्तिं** शोभाम**आपत्स्यते** प्राप्स्यते ॥ १५ ॥

टिप्पणी—वल्मीकाग्रात्—इस श्लोक में प्रयुक्त 'वल्मीक' शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद है। सामान्यरूप से 'वल्मीक' का अर्थ है 'बाँबी'। अधिकांश टीकाकारों ने यही अर्थ किया है। मल्लिनाथ ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है। किन्तु नाथ ने इस पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि—"वल्मीकाग्रात् प्रभवति, तदन्तर्गतसर्पशिरोरत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्षणीयं धनुःखण्डं वल्मीकाग्रात् प्रभवतीत्यर्थः" "अर्थात् बाँबी में निवास करनेवाले सर्पों की मणियों के कान्तिमण्डल-सा दिखलाई पड़ने वाला यह इन्द्रधनुष बाँबी के सिरे से प्रकट हो रहा है। बहुमत के आधार पर मैंने भी 'वल्मीक' का अर्थ 'बाँबी' किया है। किन्तु 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में इस विषय का अत्यन्त सुन्दर विवेचन हुआ है। कारक प्रकरण में अपादान का अर्थ बतलाते हुए प्रसङ्गवश जगदीश ने लिखा है। वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्येत्यत्र धातोर्थः प्राक् प्रकाशनम्, तत्र पञ्चम्या अधिकरणत्वं..................प्रत्याय्येत। ...... एवञ्च वल्मीकाग्रवृत्तिप्रथमप्रकाशनवदाखण्डलस्य धनुःखण्डमित्याकारकस्तत्र बोधः। "वल्मीकः सातपो मेघः।" आखण्डलः शक्र इति। इसका अर्थ यह है कि—मेघ! तुझ पर आतप पड़ने से तेरे ऊपर से ही इन्द्रधनुष पहले-पहले प्रकाशित हो रहा है—इत्यादि। यह अर्थ प्रकृतिविज्ञान सम्मत भी है ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—व्यतिकरः—वि + अति √कृ + अप् (अ) + विभक्तिः । प्रेक्ष्यम्—प्र + √ईक्ष + ण्यत् + विभक्तिः ॥ १५ ॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यःसीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ १६ ॥

जलद ! गाँव की बारी भोरी तुझे जान कृषि का आधार,
नेह भरी भोली चितवन से देख करेंगी तेरा प्यार।
नये जुते खेतों से सोंधी माल-भूमि पर घेरा डाल,
चटपट उत्तर को चल देना वहाँ बिता कर थोड़ा काल ॥ १६ ॥

अन्वयः—कृषिफलम्, त्वयि, आयत्तम्, इति, प्रीतिस्निग्धैः, भ्रूविलासाऽनभिज्ञैः, जनपदवधूलोचनैः; पीयमानः, (त्वम्) सद्यः, सीरोत्कषणसुरभि, मालम्, क्षेत्रम्, आरुह्य, किञ्चित्, पश्चात्, लघुगतिः (सन्), भूयः, उत्तरेण, एव, व्रज ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—कृषिफलम् = खेती का फल, त्वयि = तुम्हारे, आयत्तम् = अधीन है, आश्रित है, इति = इसलिए, प्रीतिस्निग्धैः = स्नेह से आर्द्र, स्नेहभरी, भ्रूविलासानभिज्ञैः = भ्रूविलासों से अनभिज्ञ, कटाक्ष-पातों से अपरिचित, जनपदवधूलोचनैः = गाँव की वधुओं की आँखों से, पीयमानः = पिये जाते हुए, प्यारपूर्वक देखे जाते हुए, (त्वम्) = तुम, सद्यः = तत्काल, सीरोत्कषणसुरभि = हल से जोतने के कारण सोंधी, मालम् = मालव नामक, क्षेत्रम् = भूमि प्रदेश में, आरुह्य = चढ़कर, घेरा डालकर, पहुँचकर, किञ्चित् = कुछ समय के, पश्चात् = अन्तर, लघुगतिः (सन्) = वेग से, शीघ्रगामी होकर, चटपट, भूयः = फिर, पुनः, उत्तरेण = उत्तर की ओर, एव = ही, व्रज = चल देना ॥ १६ ॥

अर्थः—खेती का फल तुम्हारे ही अधीन है, इसलिए स्नेहभरी, भ्रूविलासों से अनभिज्ञ, गाँव की वधुओं की आँखों से प्यारपूर्वक देखे जाते हुए (तुम) तत्काल हल से जोतने के कारण सोंधी मालव-भूमि में घेरा डालकर कुछ समय के पश्चात् वेग से फिर उत्तर की ओर चल देना ॥ १६ ॥

सञ्जीवनी—त्वयीति। **कृषेर्हलकर्मणः फलं सस्यं त्वयि।** अधिकरणविवक्षायां सप्तमी। **आयत्तमधीनम्।** 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः। इति हेतोः **प्रीत्या स्निग्धैः।** अकृत्रिमप्रेमार्द्रैरित्यर्थः। **भ्रूविलासानां** भ्रूविकाराणामनभिज्ञैः पामरत्वादिति शेषः। **जनपदवधूनां** पल्लीयोषितां **लोचनैः पीयमानः** सादरं वीक्ष्यमाणः सन्। **मालं** मालाख्यं **क्षेत्रं** शैलप्रायमुन्नतस्थलम्। मालमुन्नभूततलम् इत्युत्पलमालायाम्। **सद्यस्तत्कालमेव सीरैर्हलैरुत्कषणेन** कर्षणेन **सुरभि** घ्राणतर्पणं यथा तथा**रुह्य।** तत्राभिवृष्येत्यर्थः। 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इत्यमरः। **किञ्चित्पश्चाल्लघुगतिस्तत्र** निर्वृष्टत्वात्क्षिप्रगमनः सन् 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। **भूयः** पुनरप्य्**युत्तरेणैवोत्तर-मार्गेणैव व्रज गच्छ।** तृतीयाविधाने 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया। यथा कश्चिद्बहुवल्लभः पतिः कुत्रचित्क्षेत्रे कलत्रे गूढं विहृत्य, 'क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः' इति विश्वः। दाक्षिण्यभङ्गभयान्नीचमार्गेण निर्गत्य पुनः सर्वाध्यक्ष इव संचरति तद्वदिति ध्वनिः॥ १६॥

टिप्पणी—भ्रूविलासानभिज्ञैः—गाँवों की स्त्रियाँ भोली-भाली होती हैं। उनमें स्वाभाविक सौन्दर्य और मस्ती रहती हैं। वे कटाक्षपात और हावभाव की कलाओं में उतनी पारङ्गत नहीं होतीं जितनी कि नागरिक स्त्रियाँ होती हैं।

प्रीतिस्निग्धैः—मेघ वर्षा करता है। वर्षा कृषक की कृषि का जीवनाधार है। अतः जब आषाढ़ में मेघ आकाश में आने लगते हैं तब कृषक-वधुएँ प्यारभरी आँखों से उन्हें देखती हैं।

पीयमानः—अति उत्कट प्यार भरी आँखों से देखने को 'आँखों से पीना कहते हैं।'

क्षेत्रमारुह्य मालम्—विभिन्न टीकाकारों ने माल का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। स्वयं मल्लिनाथ ने इसका अर्थ ऊँची पठारी भूमि किया है किन्तु यहाँ माल का अर्थ मालव प्रदेश किया गया है। सब तरह से विचार करने पर यही अर्थ ठीक ठहरता है। श्लोक के उत्तरार्द्ध का सूक्ष्म परिशीलन करने पर यह अर्थ स्वयं चमक उठता है॥ १६॥

व्युत्पत्तिः—आयत्तम्—आ + √ यत् + क्त + विभक्तिः। **प्रीति०**—√ प्री + क्तिन् + विभक्तिः। **स्निग्ध०**—√स्निह् + क्त + विभक्तिः। **पीयमानः**—

पीयते इति—√पा + लट् (शानच्) + विभक्तिः । आरुह्य—आ + √रुह् + क्त्वा (ल्यप्) ॥ १६ ॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥ १७ ॥

बरस बरस कर तुझने की हैं जिसकी दव-ज्वालाएँ शान्त,
आम्रकूट वह सिर आँखों पर लेगा तुझे देखकर क्लान्त ।
नहीं कृपण भी पीछे हटता पहले के उपकार विचार—
विधिवश मिली मित्र-सेवा से, फिर कैसे वह उच्च उदार ! ॥१७॥

अन्वयः—आम्रकूटः, सानुमान्, आसारप्रशमितवनोपप्लवम्, अध्वश्रमपरिगतम्, त्वाम्, मूर्ध्ना, साधु, वक्ष्यति; संश्रयाय, मित्रे, प्राप्ते (सति), क्षुद्रः, अपि, प्रथमसुकृतापेक्षया, विमुखः, न, भवति, पुनः, यः, तथा, उच्चैः, (आस्ते, तस्य) किम् ! ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—आम्रकूटः = आम्रकूट नामक, सानुमान् = पर्वत, आसारप्रशमितवनोपप्लवम् = मूसलधार वृष्टि से वनाग्नि को बुझाने वाले, अध्वश्रमपरिगतम् = मार्गश्रम से क्लान्त, मार्ग के श्रम से थके हुए, त्वाम् = तुझे, मूर्ध्ना = मस्तक पर (शिखर पर), साधु = भली-भाँति, वक्ष्यति = धारण करेगा । संश्रयाय = आश्रय के लिए, मित्रे = मित्र के, प्राप्ते (सति) = आने पर, क्षुद्रः = कृपण, छोटा तुच्छ व्यक्ति, अपि = भी, प्रथमसुकृतापेक्षया = पहले के उपकार की अपेक्षा से, पहले के उपकार को सोचकर, विमुखः = विमुख, न = नहीं, भवति = होता है, पुनः = फिर तो, यः = जो, तथा = उस प्रकार, उच्चैः = ऊँचा, महान्, (अस्ति = है, तस्य = उसका), किम् = क्या कहना ! ॥ १७ ॥

अर्थः—आम्रकूट नामक पर्वत मूसलधार वृष्टि से (अपनी) वनाग्नि को बुझाने वाले तथा मार्ग के थके हुए तुझे (अपने) मस्तक पर (शिखर पर) भली-भाँति धारण करेगा । आश्रय के लिए मित्र के (अपने पास) आने पर

तुच्छ व्यक्ति भी (उस मित्र के द्वारा किये गये) पहले के उपकार को सोचकर विमुख नहीं होता है, तो फिर जो उस प्रकार ऊँचा (महान्) है उसका क्या कहना ! ।। १७ ।।

सञ्जीवनी—त्वामिति । आम्राश्चूता कूटेषु शिखरेषु यस्य स **आम्रकूटो** नाम **सानुमान्पर्वतः** । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इति, 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति चामरः । **आसारो** धारावृष्टिः । 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । तेन **प्रशमितो वनोपप्लवो** दावाग्निर्येन तम् । कृतोपकारमित्यर्थः । **अध्वश्रमेण परिगतं** व्याप्तं **त्वां साधु** सम्यङ् **मूर्ध्ना वक्ष्यति** वोढा । वहेर्लृट् । तथाहि । **क्षुद्रः** कृपणोऽपि । 'क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे नृशंसे' इति यादवः । **संश्रयाय** संश्रयणाय **मित्रे** सुहृदि । 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः । **प्राप्त** आगते सति । **प्रथमसुकृतापेक्षया** पूर्वोपकारपर्यालोचनया **विमुखो न भवति** । **यस्तथा** तेन प्रकारेणोच्चैरुन्नतः स आम्रकूटः **किं** पुनर्विमुखो न भवतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । एतेन प्रथमावसथे सौख्यलाभात्ते कार्यसिद्धिरस्तीति सूचितम् । तदुक्तं निमित्तनिदाने—'प्रथमावसथे यस्य सौख्यं तस्याखिलेऽध्वनि । शिवं भवति यात्रायामन्यथा त्वशुभं ध्रुवम् ।' इति ।। १७ ।।

टिप्पणी—आम्रकूटः—आम्राः कूटेषु यस्य सः = जिसकी चोटियों पर आम के वृक्ष हैं, उसे आम्रकूट कहते हैं । विलसन ने इसे "अमरकण्टक" वतलाया है । नर्मदा नदी इसी से निकलती है ।

व्युत्पत्तिः—सानुमान्—सानु + मतुप् + विभक्त्यादिः । **प्रशमितः**—प्र + √शम् + णिच् + क्तः (कर्मणि) + विभक्तिः ।। १७ ।।

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ।। १८ ।।

उस पर छा जाएगा जब तू चिकनी चोटी जैसा श्याम,
तब वह अचल पके आमों से पीला त्यों होगा अभिराम ।
ज्यों अचला-कुच मध्य भाग में मेचक शेष भाग में गौर,
विहरणशील देव-देवी की चाह भरी चितवन का चौर ।। १८ ।।

अन्वयः—परिणतफलद्योतिभिः, काननाम्रैः, छन्नोपान्तः, (आम्रकूटः), अचलः, स्निग्धवेणीसवर्णे, त्वयि, शिखरम्, आरूढे (सति), मध्ये, श्यामः, शेषविस्तारपाण्डुः, भुवः, स्तनः, इव, अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्, अवस्थाम्, नूनम्, यास्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—परिणतफलद्योतिभिः = पके फलों से प्रकाशमान, काननाम्रैः = वन के आम्रवृक्षों से, छन्नोपान्तः = आच्छादित पार्श्व भागों वाला, (आम्रकूटः = आम्रकूट नामक), अचलः = पर्वत, स्निग्धवेणीसवर्णे = चिकनी चोटी जैसे श्याम वर्णवाले, त्वयि = तुम्हारे, शिखर पर, आरूढे (सति) = चढ़ जाने पर, मध्ये = बीच में, श्यामः = श्यामल, शेषविस्तारपाण्डुः = शेष स्थानों में चारों ओर गौर, भुवः = पृथिवी के, स्तनः = स्तन की, इव = तरह, अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम् = देव-दम्पतियों के लिए अवलोकनीय, अवस्थाम् = अवस्था को, नूनम् = निश्चय ही, यास्यति = प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

अर्थः—पके फलों से प्रकाशमान वन के आम्र-वृक्षों से आच्छादित पार्श्वभागों वाला (आम्रकूट) पर्वत, चिकनी चोटी जैसे श्याम वर्णवाले तुम्हारे शिखर पर चढ़ जाने पर, बीच में श्यामल तथा शेष स्थानों में चारों ओर गौर, (अतः) पृथिवी के स्तन की तरह (प्रतीत होता हुआ) देव-दम्पतियों के लिए निश्चय ही अतिशय दर्शनीय हो जायगा। (अवलोकनीय अवस्था को निश्चयही प्राप्त होगा)। १८।

सञ्जीवनी—छन्नेति। हे मेघ! परिणतैः परिपक्वैः फलैर्द्योतन्त इति तथोक्तैः। आषाढे वनचूताः फलन्ति पच्यन्ते च मेघवातेनेत्याशयः। काननाम्रैर्वनचूतैश्छन्नोपान्त आवृतपार्श्वोऽचल आम्रकूटाद्रिः स्निग्धवेणीसवर्णे मसृणकेशबन्धच्छाये। श्यामवर्ण इत्यर्थः। 'वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति यादवः। त्वयि शिखरं शृङ्गमारूढे सति। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी। मध्ये श्यामः शेषे मध्यादन्यत्र विस्तारे परितः पाण्डुर्हरिणः। 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः। भुवः स्तन इव। अमरमिथुनानाम्। खेचराणामिति भावः। प्रेक्षणीयां दर्शनीयामवस्थां नूनं यास्यति। मिथुनग्रहणं कामिनामेव स्तनत्वेनोत्प्रेक्षा संभवतीति कृतम्। यथा परिश्रान्तः कश्चित्कामी कामिनीनां कुचकलशे विश्रान्तः सन्स्वपिति तद्वद् भवानपि भुवो नायिकायाः स्तन इति ध्वनिः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मध्ये श्यामः स्तन इव—गौर वर्ण वाली सुन्दरी तरुणी के स्तन मध्य में श्याम तथा शेष विस्तृत भाग में गौर होते हैं। आम्रकूट पर्वत के पार्श्व भागों में पके अतः पीले आमों का समूह है। ऊपर उठा हुआ समग्र पर्वत अपने पार्श्व भागों में पीले पके आमों से आच्छन्न है। जब उस पर काला मेघखण्ड आकर बैठ जायगा तो आम्रकूट एकदम पृथिवी-तरुणी के स्तन जैसा प्रतीत होगा। क्योंकि अगल-बगल पीला आम्रकूट कृष्ण मेघ के बीच में बैठ जाने से ऊपर श्यामवर्ण का हो जायगा। ऐसा ही तो होता है तरुणी का स्तन ॥ १८ ॥

व्युत्पत्तिः—परिणत०—परि + √णम् + क्तः + विभक्त्यादिः। **छन्न०** + √छद्+क्त + विभक्त्यादिः। **स्निग्ध०**—√स्निह् + क्त + टाप्+विभक्त्यादिः। **आरूढः**—आ + √रुह् + क्त + विभक्त्यादिः। **प्रेक्षणीयाम्**—प्र + √ईक्ष् + अनीयर् + टाप् + विभक्तिः ॥ १८ ॥

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ १९ ॥

जिन-जिन कुंजों में वनवासी कामिनियों ने किया विहार,
तनिक ठहर कर वहाँ बरसने से द्रुतगति हो उसके पार।
विन्ध्यपाद की विषम शिलाओं पर बिखरी रेवा की धार,
देख पड़ेगी गज के तन पर खिंची खौर ज्यों रुचिराकार ॥१९॥

अन्वयः—वनचरवधूभुक्तकुञ्जे, तस्मिन्, मुहूर्तम्, स्थित्वा, तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः (सन्), तत्परम्, वर्त्म, तीर्णः, (त्वम्), उपलविषमे, विन्ध्यपादे, विशीर्णाम्, रेवाम्, गजस्य, अङ्गे भक्तिच्छेदैः, विरचिताम्, भूतिम्, इव, द्रक्ष्यसि ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—वनचरवधूभुक्तकुञ्जे = वनवासियों की कामिनियों के द्वारा उपभुक्त कुञ्जों से युक्त, तस्मिन् = उस पर्वत पर, मुहूर्तम् = तनिक, स्थित्वा = ठहर कर, तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः (सन्) = जल की वृष्टि कर देने से अतिशीघ्रगामी

होकर, तत्परम् = आम्रकूट के वाद वाले, वर्त्म = मार्ग को, तीर्णः = पार कर, (त्वम् = तुम), उपलविषमे = ऊँचे-नीचे पत्थरों के कारण विषम (ऊबड़खावड़), विन्ध्यपादे = विन्ध्याचल के चरण-प्रान्त में, विशीर्णाम् = विखरी हुई, रेवाम् = नर्मदा नदी को, गजस्य = हाथी के, अङ्गे = शरीर में, विरचिताम् = वनायी गयी, भूतिम् = धवल शृङ्गार रेखा के, इव = समान, द्रक्ष्यसि = देखोगे ॥१९॥

अर्थः—वनवासियों की कामिनियों के द्वारा उपभुक्त कुञ्जों से युक्त उस (आम्रकूट) पर्वत पर तनिक ठहर कर, जल की वृष्टि कर देने से अति शीघ्र-गामी होकर, आम्रकूट के वाद वाले मार्ग को पार कर (तुम) ऊँचे-नीचे पत्थरों के कारण विषम (ऊवड़-खावड़) विन्ध्याचल के चरण-प्रान्त में विखरी हुई नर्मदा नदी को, हाथी के शरीर में वनायी गयी शृङ्गार रेखा के समान, देखोगे ॥ १९ ॥

सञ्जीवनी—स्थित्वेति । हे मेघ ! वने चरन्ति ते **वनचराः** । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणाल्लुग्भवति । तेषां **वधूभिर्भुक्ताः कुञ्जलतागृहा यत्र** तस्मिन् । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । तत्र ते नयन-विनोदोऽस्तीत्यर्थः । **तस्मिन्नाम्रकूटे मुहूर्तमल्पकालम्** । न तु चिरं स्वकार्यविरोधा-दिति भावः । 'मुहूर्तमल्पकाले स्याद् घटिकाद्वितयेऽपि च' इति शब्दार्णवे । **स्थित्वा** विश्रम्य । **तोयोत्सर्गेण** 'त्वामासार—' इत्युक्तवर्षणेन **द्रुततरगतिर्लाघवाद्धेतोरति-**क्षिप्रगमनः सन् । तस्मादाम्रकूटात्परमनन्तरं **तत्परं वर्त्म** मार्गं **तीर्णो**ऽतिक्रान्तः । **उपलैः** पाषाणै**र्विषमे विन्ध्यस्याद्रेः पादे** प्रत्यन्तपर्वते । 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । **विशीर्णां** समन्ततो विसृमराम् । एतेन कस्याश्चित्कामुक्याः प्रियतम-चरणपातोऽपि ध्वन्यते । **रेवां** नर्मदाम् । 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । **गजस्याङ्गे** शरीरे **भक्तयो** रचनाः । रेखा इति यावत् । 'भक्तिर्निषेवणे भागे रचनायाम्' इति शब्दार्णवे । तासां **छेदैर्भङ्गिभिर्भाभिर्विरचितां भूतिं** शृङ्गार-मिव भसितमिव वा । 'भूतिर्मातङ्गशृङ्गारे जातौ भस्मनि संपदि' इति विश्वः । **द्रक्ष्यसि** । अयमपि महांस्ते नयनकौतुकलाभ इति भावः ॥ १९ ॥

टिप्पणी–वनचरवधूभुक्तकुञ्जे–कोल, किरात आदि वनचर जातियाँ जङ्गल में भ्रमण करती रहती हैं । इनकी तरुणियाँ जङ्गल में फल, काष्ठ, शहद आदि का संग्रह

करती हुई दिन भर घूमती रहती हैं। वहाँ कहीं प्रेमी तरुण के मिल जाने पर वे लतानिकुञ्जों में पत्र आदि बिछाकर रमण कर लेती हैं। कभी-कभी वे दोपहरी बिताने के समय अपने पति के ही साथ पत्रशय्या पर लेट इन निकुञ्जों में रमण करती हैं। यक्ष मेघ से कह रहा है कि इन निकुञ्जों को भी जरा देखकर आनन्द लेते जाना। तरुणों को इन वस्तुओं को देखने में महान आनन्द आता है। यहाँ यक्ष और मेघ दोनों ही तरुण हैं।

तोयोत्सर्ग०—मेघ जब जल से भरे रहते हैं तब मन्थर गति से आगे बढ़ते हैं। किन्तु जब वर्षा करके कुछ हलके हो जाते हैं, तब शीघ्रगामी हो जाते हैं। ठीक ही है, बोझविहीन व्यक्ति द्रुतगामी हो ही जाता है।

भूतिमङ्गे गजस्य—विवाह आदि अवसरों पर हाथी के शरीर को धवल रङ्ग से रेखाएँ खींच कर अलंकृत करते हैं। हाथी के शरीर पर खींची गयी ये रेखाएँ जैसी मालूम पड़ती हैं वैसी ही मालूम पड़ेगी विन्ध्य के चरणवर्ती पर्वत-प्रदेश में कतिपय धाराओं में बिखरी हुई नर्मदा।

व्युत्पत्तिः—**वनचर॰**—वन + √चर् + ट (अ) + विभक्त्यादिः। वनेचरः इत्यपि भवति। **स्थित्वा**—√स्था + क्त्वा। **तीर्णः**—√तॄ + क्तः (कर्तरि) + विभक्त्यादिः। **विशीर्णाम्**—वि + √शॄ + क्त + टाप् + विभक्तिः। **विरचिताम्**—वि + √रच् + णिच् + क्तः + टाप् + विभक्तिः ॥१९॥

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन ! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २० ॥

वृष्टि उगल कर तिक्त वनज-गज-मद से सुरभित उसका नीर,
पीकर चलना जो जामुन के कुंजों से रुककर अतिधीर।
तब घन ! पवन नहीं हो सकता सारपूर्ण तुझसे प्रतिकूल,
रीतापन लघुता का कारण पूरापन गुरुता का मूल ॥ २० ॥

अन्वयः—वान्तवृष्टिः, (त्वम्), तिक्तैः, वनगजमदैः, वासितम्, जम्बूकुञ्ज-

प्रतिहतरयम्, तस्याः, तोयम्, आदाय, गच्छेः; (तदा), अन्तःसारम्, त्वाम्, अनिलः, तुलयितम्, न, शक्ष्यति; हि, रिक्तः, सर्वः, लघुः, भवति, पूर्णता, गौरवाय, (भवति) ॥ २० ॥

शब्दार्थः—वान्तवृष्टिः = वृष्टि उगल कर, जल-वृष्टि करके (त्वम् = तुम), तिक्तैः = कड़वे, वनगजमदैः = जङ्गली हाथियों के मदों से, वासितम् = वासित, सुरभित, सुगन्धित, जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयम् = जामुन के कुञ्जों से टकरा कर बहने वाले, तस्याः = उसके, तोयम् = जल को, आदाय = लेकर, पीकर, गच्छेः = जाना, (तदा = उस समय), अन्तःसारम् = सारगर्भित, भीतरी बल से सम्पन्न, त्वाम् = तुझे, अनिलः = वायु, तुलयितुम् = इधर से उधर उड़ा देने में, न = नहीं, शक्ष्यति = समर्थ होगा; हि = क्योंकि, रिक्तः = खाली, खोखला, आन्तरिक बल से रहित, सर्वः = सभी, लघुः = हलका, लघु, भवति = होते हैं; पूर्णता = पूरापन, सारवत्ता, गौरवाय = गुरुता का कारण (भवति = होती है) ॥ २० ॥

अर्थः—जल-वृष्टि कर (तुम) जंगली हाथियों के कड़वे मदों से सुरभित, जामुन के कुञ्जों से टकरा कर बहने वाले उस (नर्मदा) के जल को पीकर जाना। (उस समय) अन्तर्बल बढ़ जाने पर वायु तुम्हें इधर से उधर उड़ा देने में समर्थ नहीं होगा। क्योंकि आंतरिक बल से रहित होकर सभी हलके होते हैं और पूर्णता गौरव प्रदान करती है॥ २० ॥

संजीवनी—तस्या इति। मेघ ! वान्तवृष्टिरुद्गीर्णवर्षः सन्। कृतवमनश्च व्यज्यते। तिक्तैः सुगन्धिभिस्तिक्तरसवद्भिश्च। 'तिक्तो रसे सुगन्धौ च' इति विश्वः। वनगजमदैर्वासितं सुरभितं भावितं च। 'हिमवद्विन्ध्यमलया गजानां प्रभवाः' इति विन्ध्यस्य गजप्रभवत्वादिति भावः। जम्बूकुञ्जैः प्रतिहतरयं प्रतिबद्धवेगम् सुखपेयमित्यर्थः। अनेन लघुत्वं कषायभावना च व्यज्यते। तस्या रेवायास्तोयमादाय गच्छेर्व्रज। हे घन मेघ ! अन्तः सारो बलं यस्य तं त्वामनिल आकाशवायुः शरीरस्थश्च गम्यते। तुलयितुं न शक्ष्यति शक्तो न भविष्यति। तथाहि। रिक्तोऽन्तःसारशून्यः सर्वोऽपि लघुर्भवति। प्रकम्प्यो भवतीत्यर्थः। पूर्णता सारवत्ता गौरवायाप्रकम्प्यत्वाय भवतीत्यर्थः। अयमत्र ध्वनिः-आदौ

शोधितस्य पुंसः पश्चाच्छ्लेष्मशोषणाय लघुतिक्तकषायाम्बुपानाल्लब्धबलस्य वातप्रकम्पो न स्यादिति। यथाह वाग्भट्टः—'कषायाश्चाहिमास्तस्य विशुद्धौ श्लेष्मणो हिताः। किमु तिक्तकषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः॥ कृतशुद्धेः क्रमात्पीतपेयादेः पथ्यभोजिनः। वातादिभिर्न बाधा स्यादिन्द्रियैरिव योगिनः॥' इति॥ २०॥

टिप्पणी—तिक्तैः—हाथियों के गंडस्थल से बहने वाला मद कड़वा तथा अति सुगंधित होता है। जंगली हाथी नर्मदा के जल में विहार करते हैं। अतः उसका जल सुगंधित रहता है।

जम्बूकुञ्ज०—आषाढ़ में जामुन पकते हैं। नर्मदा जामुन के निकुञ्जों में होकर बहती है। अतः जामुन के पके फल उसकी धाराओं में पड़ते हैं। इसलिए नर्मदा का जल जामुन के रस से मिश्रित रहता है। जामुन का रस स्वास्थ्य और पेट के लिए अति लाभकर बतलाया गया है।

तुलयितुम्—बादल जब जलरहित रहते हैं, उस समय वायु का झोंका उन्हें इधर से उधर उड़ा देता है। किंतु जब उनमें जल भरा रहता है, तब वायु उन्हें मार्गच्युत नहीं कर पाता।

इसी से मिलता जुलता एक और श्लोक है:—

'गुणयुक्तोऽप्यधो याति रिक्तः कूपे यथा घटः।
गुणहीनोऽपि संपूर्णो जनैः शिरसि धार्यते॥

इस श्लोक के वान्तवृष्टि आदि पदों से मल्लिनाथ ने एक दूसरा अर्थ भी निकाला है। उसका सारांश यह है—आयुर्वेद के अनुसार वमन करने के अनंतर कफ के शोषण के लिए हलका, कड़वा और चरपरा पानी पीना चाहिए। इससे व्यक्ति को वायु से कंप नहीं होता।

इस श्लोक में तीसरे चरण के विशेष अर्थ का चौथे चरण के सामान्य अर्थ से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है॥ २०॥

व्युत्पत्तिः—वासितम्—√वास् + क्तः कर्मणि + विभक्तिः। **प्रतिहत०**—प्रति + √हन् + क्त कर्तरि + विभक्त्यादिः। **तुलयितुम्**—तुलां करोति इति तुला + णिच् + तुमुन्। **गौरवाय**—गुरु + अण् + विभक्त्यादिः॥ २०॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केशरैरर्द्धरूढै-
रार्विर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २१ ॥

हरित-पीत अर्धस्फुट-केसर निरख नीप कुसुमों का रूप,
नोच कछारों में कलियाई नवल कन्दली-राशि अनूप ।
और जंगलों में वर्षा से सोंधी लेकर फैली बास,
भृङ्ग कुरंग मतंग करेंगे पथ दिखलाकर बड़ा सुपास ॥ २१ ॥

अन्वयः--सारङ्गाः, अर्धरूढैः, केसरैः, हरितकपिशम्, नीपम्, दृष्ट्वा, अनुकच्छम्, आविर्भूतप्रथममुकुलाः, कन्दलीः, च, जग्ध्वा, अरण्येषु, अधिकसुरभिम्, उर्व्याः, गंधम्, आघ्राय, जललवमुचः, ते, मार्गम्, सूचयिष्यन्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—सारङ्गाः = भृङ्ग, कुरङ्ग और मतङ्ग, अर्धरूढैः = अर्धस्फुट; केसरैः = केसरों से, हरितकपिशम् = हरित-पीत, नीपम् = कदम्ब को, दृष्ट्वा= देखकर, अनुकच्छम् = कछारों में, आविर्भूतप्रथममुकुलाः = उत्पन्न नवीन कलियों से युक्त, कन्दलीः = कदली-राशि को; च = यह पादपूर्ति के लिये यहाँ प्रयुक्त है, जग्ध्वा = चबाकर, अरण्येषु = जङ्गलों में, अधिकसुरभिम् = अधिक सोंधी, उर्व्याः = पृथिवी की, गन्धम् = मँहक को, आघ्राय = सूँघकर, जललवमुचः = जल की बूँदों को बरसाने वाले, ते = तुम्हारे, मार्गम् = पथ को, सूचयिष्यन्ति= दिखलाएँगे, सूचित करेंगे ॥ २१ ॥

अर्थः—भृङ्ग, कुरङ्ग और मतङ्ग (क्रमशः) अर्धस्फुट केसरों से, हरित-पीत कदम्ब को देखकर, कछारों में उत्पन्न नवीन कलियों से युक्त, कदली-राशि को चबाकर, जङ्गलों में अधिक सोंधी पृथिवी की मँहक को सूँघ कर, जलबिन्दुओं को बरसाने वाले तुम्हारे पथ को सूचित करेंगे ॥ २१ ॥

संजीवनी—नीपमिति । सारङ्गः मतङ्गजाः कुरङ्गा भृङ्गा वा । 'सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे' इति विश्वः । अर्धरूढैरेकदेशोद्गतैः केसरैः किञ्जल्कैर्हरितं पलाशवर्णं कपिशं कृष्णपीतं च । 'पालाशो हरितो हरित्' इति ।

'श्यावः स्यात्कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इति चामरः। श्यामवर्णमिति यावत्। 'वर्णो वर्णेन' इति समासः। **नीपं** स्थलकदम्बकुसुमम्। 'अथ स्थल-कदम्बके। नीपः स्यात्पुलके' इति शब्दार्णवे। **दृष्ट्वा** संप्रेक्ष्य। विदित्वेति यावत्। तथा कच्छेष्वनूपेष्वनुकच्छम्। 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः'। इत्यमरः। **आविर्भूताः प्रथमाः** प्रथमोत्पन्ना **मुकुला** यासां ताः **कन्दलीर्भूमिकदलीः**। 'द्रोणपर्णी स्निग्ध-कन्दा कन्दली भूकदल्यपि' इति शब्दार्णवे। **जग्ध्वा** भक्षयित्वा। 'अदो जग्धिः' इति जग्ध्यादेशः। **अरण्येष्वधिकसुरभिमतिघ्राणतर्पणम्**। 'दग्धारण्येषु' इति पाठे 'दग्धम्' इत्यधिकविशेषणम्। अर्थवशात्कन्दलीश्च दृष्ट्वैवेत्यन्वयो द्रष्टव्यः। **उर्व्या भूमेर्गन्धमाघ्राय जललवमुचो** मेघस्य **ते** तव **मार्गं सूचयिष्यन्त्यनुमापयिष्यन्ति**। यत्र यत्र वृष्टिकार्यं कन्दलीमुकुलनीपकुसुमादिकं दृश्यते तत्र तत्र त्वया वृष्टमित्यनुमीयत इति भावः॥ २१॥

टिप्पणी – सूचयिष्यन्ति–अनुमापयिष्यन्ति। किस-किस मार्ग से जल बरसाता हुआ मेघ गया है इसकी सूचना भृङ्ग, कुरङ्ग और मतङ्ग देंगे। प्रथम वृष्टि के साथ ही साथ कदम्ब विकसित होते हैं। उस समय भ्रमर-पंक्ति कदम्बों की ओर दौड़ पड़ती है। उसी समय कछारों की कदलियाँ मुकुलित होने लगती हैं। कुरङ्ग इनके कोमल पत्तों को चबाने के लिए कदली वन के चारों ओर मँड़राने लगते हैं। ग्रीष्म में प्रथम वृष्टि होने पर सन्तप्त पृथिवी से सोंधी-सोंधी मँहक उठती है। मतङ्ग इस महक को सूँघने के लिए जहाँ-जहाँ वृष्टि हुई रहती है, उधर-उधर प्रेमपूर्वक जाते हैं।

सारङ्गाः—साराणि अङ्गानि येषां ते (बहु०)। यहाँ सवर्ण दीर्घ न होकर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक के अनुसार शकन्ध्वादि गण के अन्तर्गत होने से पररूप होने पर सारङ्ग शब्द सिद्ध होता है।

अनुकच्छम्—यहाँ 'कच्छेषु इति' ऐसा विग्रह करके 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र से विभक्ति के अर्थ में समास हुआ है॥ २१॥

व्युत्पत्तिः—०रूढैः—√रुह् + क्त + विभक्त्यादिः। **दृष्ट्वा**—√

दृश् + क्त्वा । जग्ध्वा--√अद् (आदेशे सति जग्धि) + क्त्वा । आघ्राय—आ + √ घ्रा = क्त्वा (ल्यप्) ॥ २१ ॥

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥ २१ क ॥

चोंचों से बूँदें लेने में चतुर चातकों को पाते,
पाँतों में उड़ रहीं बगुलियाँ गिन गिन कर जो बतलाते ।
सिद्ध लोग वे तब मानेंगे तेरे गर्जन का उपकार,
डर कर जब सहचरियाँ उनसे लिपट जायँगी बारंबार ॥ २१क ॥

अन्वयः—अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान्, चातकान्, वीक्षमाणाः, (तथा) श्रेणीभूताः, बलाकाः, परिगणनया, निर्दिशन्तः, सिद्धाः, स्तनितसमये, सोत्कम्पानि, प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि, आसाद्य, त्वाम्, मानयिष्यन्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान् = जलबिन्दुओं को ग्रहण करने में निपुण, चातकान् = चातकों को, वीक्षमाणाः = देखते हुए, (तथा = और), श्रेणीभूताः = पंक्तिबद्ध, बलाकाः = बकावलियों को, परिगणनया = गिन-गिन कर, निर्दिशन्तः = निर्देश करते हुए, सिद्धाः = सिद्ध, एक देवयोनि, स्तनितसमये = (तुम्हारे) गर्जन के समय, सोत्कम्पानि = डरी हुई, डरकर काँपती हुई, प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि = प्रिय सहचरियों के वेग के साथ दौड़कर किये गये आलिङ्गनों को, आसाद्य = पाकर, त्वाम् = तुम्हें, मानयिष्यन्ति = सम्मानित करेंगे ॥ २१क ॥

अर्थः—जलबिन्दुओं के ग्रहण करने में निपुण चातकों को देखते हुए (और) पंक्तिबद्ध बकावलियों को गिन-गिन कर बतलाते हुए सिद्ध (तुम्हारे) गर्जन के समय डरकर काँपती हुई प्रिय सहचरियों के वेग के साथ दौड़कर किये गये आलिङ्गनों को पाकर तुम्हारा सम्मान करेंगे ॥ २१-क ॥

प्रक्षिप्तमपि व्याख्यायते—

संजीवनी—अम्भ इति। अम्भोबिन्दूनां वर्षोदबिन्दूनां ग्रहणे। 'सर्वंसहापतितमम्बु न चातकस्य हितम्' इति शास्त्राद् भूस्पृष्टोदकस्य तेषां रोगहेतुत्वादन्तराल एव स्वीकारे **चतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः** कौतुकात्पश्यन्तः **श्रेणीभूताः** बद्धपंक्तीः। अभूततद्भावे च्विः। **बलाकाः** वकपंक्तीः। **परिगणनया**एका द्वे तिस्र इति संख्यानेन **निर्दिशन्तो** हस्तेन दर्शयन्तः **सिद्धाः। स्तनितसमये** त्वद्गर्जितकाले **सोत्कम्पान्यु**-त्कम्पपूर्वकाणि **प्रियसहचरीणां संभ्रमेणालिङ्गितान्यासाद्य।** स्वयं ग्रहणाश्लेषसुखमनुभूयेत्यर्थः। **त्वां मानयिष्यन्ति।** त्वन्निमित्तत्वात्सुखलाभस्येति भावः ॥२२॥

टिप्पणी—अम्भोबिन्दुः—ग्रीष्म की ऊष्मा से संतप्त चातक वर्षा की बूँदों को बड़ी चतुरता से अपनी चोंच में लेते हैं। वे पृथिवी पर पड़े जल को नहीं ग्रहण करते हैं।

सिद्धाः—सिद्ध अनेक देवयोनियों में से एक है।

प्रो० के० बी० पाठक का कथन है कि जैनकवि जिनसेन ने अपने 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य में मेघदूत के १२० श्लोकों का उपयोग किया है। इस श्लोक का उन्होंने उपयोग नहीं किया है। अतः यह प्रक्षिप्त है। मल्लिनाथ ने भी प्रक्षिप्त कहकर ही इस पर टीका लिखी है। अतः यहाँ इसे '२१ क' की संख्या से उद्धृत किया गया है।

व्युत्पत्तिः—वीक्षमाणाः—वि + √ ईक्ष् + शानच् + विभक्तिः। **निर्दिशन्तः**—निर् + √ दिश् + अत् + विभक्त्यादिः। **आसाद्य**—आ + √ सद् + ल्यप् (य) ॥ २१ क ॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ २२ ॥

यद्यपि मित्र ! प्रिया के कारण करना है सत्वर प्रस्थान,
तो भी ककुभ-सुरभि शैलों पर रुकने का होता अनुमान।

सजलनयन केकी कूकों से स्वागत कर कर लें मनुहार,
जैसे हो तैसे तुरन्त तू चल देना तज सोच-विचार ॥ २२ ॥

अन्वयः--हे सखे, मत्प्रियार्थम्, द्रुतम्, यियासोः, अपि, ते, ककुभसुरभौ, पर्वते-पर्वते, कालक्षेपम्, उत्पश्यामि, सजलनयनैः, शुक्लापाङ्गैः, केकाः, स्वागतीकृत्य, प्रत्युद्यातः, भवान्, कथमपि, आशु, गन्तुम्, व्यवस्येत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थः--हे सखे = हे मित्र, मत्प्रियार्थम् = मेरी प्रियतमा के लिए, द्रुतम् = शीघ्र, यियासोः = जाने की इच्छा करने वाले, अपि = भी, ते = तुम्हारे, ककुभसुरभौ = ककुभ (कहुआ) पुष्पों से सुगन्धित, पर्वते-पर्वते = पर्वत-पर्वत पर, कालक्षेपम् = कालक्षेप की, समययापन की, उत्पश्यामि = संभावना करता हूँ । सजलनयनैः = अश्रुपूरित नेत्रों वाले, शुक्लापाङ्गैः = मयूरों के द्वारा, केकाः = अपनी स्वरलहरियों को, स्वागतीकृत्य = स्वागतार्थ फैलाकर, प्रत्युद्यातः = अगवानी किये गए, भवान् = आप, कथमपि = जिस किसी तरह हो, आशु = तुरन्त, गन्तुम् = जाने के लिए, व्यवस्येत् = उद्योग कीजिएगा ॥ २२ ॥

अर्थः—हे मित्र, मेरी प्रियतमा के लिए शीघ्र जाने की इच्छा करनेवाले भी आपके ककुभ (कहुआ) पुष्पों से सुगन्धित पर्वतों पर, कालक्षेप की संभावना करता हूँ। अश्रुपूरित नेत्रोंवाले मयूरों के द्वारा अपनी स्वरलहरियों को स्वागतार्थ फैलाकर अगवानी किये गये आप जिस किसी तरह हो तुरन्त जाने के लिये उद्योग कीजिएगा ॥ २२ ॥

संजीवनी—उत्पश्यामीति । हे सखे मेघ ! मत्प्रियार्थं यथा तथा द्रुतं क्षिप्रम् । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । यियासोर्यातुमिच्छोरपि । यातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । ते तव ककुभैः कुटजकुसुमैः सुरभौ सुगन्धिनि । 'ककुभः कुटजेऽर्जुने' इति शब्दार्णवे । पर्वते पर्वते प्रतिपर्वतम् । वीप्सायां द्विरुक्तिः । कालक्षेपं कालविलम्बम् । 'क्षेपो विलम्बे निन्दायाम्' इति विश्वः । उत्पश्याम्युत्प्रेक्षे । विलम्बहेतुं दर्शयन्नाशु गमनं प्रार्थयते—शुक्लेति । सजलानि सानन्दवाष्पाणि नयनानि येषां तैः शुक्लापाङ्गैर्मयूरैः । 'मयूरो वर्हिणो वर्हीं शुक्लापाङ्गः शिखावलः' इति यादवः । केकाः स्ववाणीः । 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः । स्वागतीकृत्य स्वागतवचनीकृत्य प्रत्युद्यातः प्रत्युद्गतः मयूरवाणीकृतातिथ्य इत्यर्थः ।

भवान् कथमपि कथञ्चिदाशु गन्तुं व्यवस्येदुद्युञ्जीत । प्रार्थने लिङ् । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । शेषश्चायं भवच्छब्दो युष्मदस्मच्छब्दव्यतिरेकात् । 'स्वागतीकृत्य केकाः' इत्यत्र केकास्वारोप्यमाणस्य स्वागतवचनस्य प्रकृतप्रत्युद्गमनोपयोगात्परिणामालङ्कारः । तदुक्तमलङ्कारसर्वस्वे—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति ॥ २२ ॥

टिप्पणी—मत्प्रियार्थम्—टीकाकारों ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) मेरी प्रियतमा के लिए और (२) मेरे प्रिय कार्य को सम्पादित करने के लिए। मल्लिनाथ ने द्वितीय अर्थ का ही समर्थन किया है।

केकाः—मयूर की वाणी को केका कहते हैं ॥ २२ ॥

व्युत्पत्तिः—**स्वागतीकृत्य**—स्वागत + च्वि + √कृ + ल्यप् (य)। **प्रत्युद्यातः**—प्रति + उत् + √या + क्त + विभक्तिः। **गन्तुम्**—√गम् + तुमुन् ॥२२॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैः
नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ २३ ॥

जहाँ खिले केतक कुसुमों से धवलित उपवन के घेरे,
ग्राम-पादपों को कौवों ने घेर घने डाले डेरे।
पकी पकी काली जामुन के वन से वह दशार्ण सुन्दर,
तेरे जाते जाते होगा कुछ ही दिन हंसों का घर ॥ २३ ॥

अन्वयः—(हे मेघ,), त्वयि, आसन्ने (सति), दशार्णाः, सूचिभिन्नैः, केतकैः, पाण्डुच्छायोपवनवृतयः, गृहबलिभुजाम्, नीडारम्भैः, आकुलग्रामचैत्याः, परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः, कतिपयदिनस्थायिहंसाः, सम्पत्स्यन्ते ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ=हे बादल), त्वयि = तुम्हारे, आसन्ने (सति) = निकट आने पर, दशार्णाः = दशार्णदेश के भाग (छत्तीसगढ़), सूचिभिन्नैः = अग्रभाग में विकसित, केतकैः = केतकी के फूलों से, पाण्डुच्छायोपवनवृतयः = कुछ धवल-पीत कान्ति वाले पुष्पों से सम्पन्न उपवन के घेरों से युक्त, गृहबलिभुजाम् =

घर की बलि को खानेवाले (कौए आदि) पक्षियों के, नीडारम्भैः = घोंसलों की रचना से, आकुलग्रामचैत्याः = व्याप्त ग्राम की गलियों के पवित्र (पीपल आदि) वृक्षवाले, परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः = पके फलों के कारण श्याम जामुन-वनों से व्याप्त छोर वाले, कतिपयदिनस्थायिहंसाः = कुछ ही दिनों तक ठहरने वाले हंसों से युक्त, संपत्स्यन्ते = होंगे ॥ २३ ॥

अर्थः—(हे बादल,) तुम्हारे निकट आने पर दशार्ण देश के भाग (आधुनिक छत्तीसगढ़) अग्रभाग में विकसित केतकी के फूलों के कारण कुछ धवल-पीत कान्ति वाले पुष्पों से सम्पन्न उपवन के घेरों से युक्त, घर की बलि को खाने वाले (कौए आदि) पक्षियों के घोंसलों की रचना से व्याप्त ग्राम की गलियों के पवित्र (पीपल आदि) वृक्ष वाले, पके फलों के कारण श्याम जामुन-वनों से व्याप्त छोर वाले तथा कुछ ही दिनों तक ठहरने वाले हंसों से युक्त होंगे ॥ २३ ॥

संजीवनी—पाण्डुवति । हे मेघ ! **त्वय्यासन्ने** संनिकृष्टे सति **दशार्णा** नाम जनपदाः **सूचिभिन्नैः** सूचिषु मुकुलाग्रेषु भिन्नैर्विकसितैः । 'केतकीमुकुलाग्रेषु सूचिः स्यात्' इति शब्दार्णवे । **केतकैः** केतकीकुसुमैः **पाण्डुच्छाया** हरितवर्णा **उपवनानां वृतयः** कण्टकशाखावरणा येषु ते तथोक्ताः । 'प्राकारो वरणः सालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः । तथा **गृहबलिभुजां** काकादिग्रामपक्षिणां **नीडारम्भैः** कुलायनिर्माणैः । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । चित्याया इमानि **चैत्यानि** रथ्यावृक्षाः । 'चैत्यमायतने बुद्धवन्द्ये चोद्देशपादपे' इति विश्वः । **आकुलानि** संकीर्णानि **ग्रामेषु चैत्यानि** येषु ते तथोक्ताः तथा **परिणतैः** पक्वैः **फलैः श्यामानि** यानि **जम्बूवनानि तैरन्ता** रम्याः । 'मृतावसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवे । तथा **कतिपयेष्वेव दिनेषु स्थायिनो हंसा** येषु ते तथोक्ता एवंविधाः **संपत्स्यन्ते** भविष्यन्ति । 'पोटायुवतिस्तोक्ककतिपय—' इत्यादिना कतिपयशब्दस्योत्तरपदत्वेऽपि न तच्छब्दस्योत्तरत्वमस्त्यस्य शास्त्रस्य प्रायिकत्वात् ॥ २३ ॥

टिप्पणीः—**दशार्णाः**—दशार्ण जनपद का नाम है । दश ऋणानि = दुर्गभूमयः येषां ते । 'ऋण' शब्द दुर्गभूमि और जल का वाचक है । दश + ऋण यहाँ 'प्रवत्सतरकम्बल०' इस वार्तिक से 'आर्' वृद्धि होने पर दशार्ण बनता है । जिन क्षत्रियों (राजाओं) के पास दश दुर्ग (किले) थे उन्हें दशार्ण कहा जाता

था। दशार्णानाम् = क्षत्रियविशेषाणाम् निवासो जनपदः = दशार्णाः। यहाँ दशार्ण शब्द से 'तस्य निवासः' इस सूत्र से अण् प्रत्यय और फिर उस अण् का 'जनपदे लुप्' से लुप् (अदर्शन) हुआ है।

ऋण शब्द जल का भी वाचक है अतः दश ऋणानि = जलप्रवाहाः यस्याः सा दशार्णा। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दशार्णा' शब्द किसी नदी का वाचक है। विन्ध्य पर्वत से निकलने वाली दशार्णा नदी भी यहीं पर बहती है। कतिपय विद्वान् मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ को ही दशार्ण मानने के पक्षपाती हैं॥ २३॥

व्युत्पत्तिः--०चैत्याः—चित्य + अण् + विभक्त्यादिः। परिणत०—परि + √णम् + क्त + विभक्त्यादिः॥ २३॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥ २४॥

उस दशार्ण की विदिशा नामक विदित राजधानी के पास,
देख तरंगित वेत्रवती को होगा तेरा सफल विलास।
तुझ प्रेमालापी को करते जान मधुर अधरामृत-पान,
वह इठला कर लहरी-रूपी टेढ़ी भौंहें लेगी तान॥ २४॥

अन्वयः—दिक्षु, प्रथितविदिशालक्षणाम्, तेषाम्, राजधानीम्, गत्वा, सद्यः, कामुकत्वस्य, अविकलम्, फलम्, लब्धा; यस्मात्, स्वादु, चलोर्मि, वेत्रवत्याः, पयः, सभ्रूभङ्गम्, मुखम्, इव, तीरोपान्तस्तनितसुभगम्, पास्यसि॥ २४॥

शब्दार्थः--दिक्षु = दिशाओं में, प्रथितविदिशालक्षणाम् = विदिशा नाम से प्रसिद्ध, तेषाम् = उन (दशार्ण जनपदों) की, राजधानीम् = राजधानी में, गत्वा = पहुँच कर, सद्यः = तत्काल, कामुकत्वस्य = कामुकता के, अविकलम् = समग्र, फलम् = फल को, लब्धा = प्राप्त करोगे। यस्मात् = क्योंकि, स्वादु = मधुर, चलोर्मि = चञ्चल तरङ्गोंवाले, वेत्रवत्याः = वेत्रवती के, पयः = जल को, सभ्रूभङ्गम् = वक्र भ्रुकुटि से युक्त, मुखम् = मुख की, इव = तरह, तीरोपान्त-

स्तनितसुभगम् = तट के समीप किये गये गर्जन की मनोहरता के साथ, पास्यसि= पान करोगे ॥ २४ ॥

अर्थः—दिशाओं में विदिशा नाम से प्रसिद्ध उस (दशार्ण जनपद) की राजधानी में पहुँच कर तत्काल कामुकता के समग्र फल को प्राप्त करोगे। क्योंकि मधुर, चञ्चल तरङ्गोंवाली वेत्रवती के जल का, वक्र भ्रुकुटि से युक्त मुख की भाँति, तट के समीप किये गये गर्जन की मनोहरता के साथ पान करोगे ॥ २४ ॥

संजीवनी—तेषामिति। दिक्षु प्रथितं प्रसिद्धं विदिशेति लक्षणं नामधेयं यस्यास्ताम्। 'लक्षणं नाम्नि चिह्ने च' इति विश्वः। तेषां दशार्णानां सम्बन्धिनीम्। धीयन्तेऽस्यामिति धानी। 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट्। राज्ञां धानी **राजधानी**। 'कृद्योगलक्षणा षष्ठी समस्यते' इति वक्तव्यात्समासः। तां प्रधाननगरीम् 'प्रधान-नगरी राज्ञां राजधानीति कथ्यते' इति शब्दार्णवे। **गत्वा** प्राप्य **सद्यः कामुकत्वस्य** विलासितायाः। 'विलासी कामुकः कामी स्त्रीपरो रतिलम्पटः' इति शब्दार्णवे। **अविकलं** समग्रं **फलं** प्रयोजनं **लब्धा** लप्स्यते। त्वयेति शेषः। कर्मणि लुट्। कुतः। यस्मात्कारणात् **स्वादु** मधुरम्। चला ऊर्मयो यस्य तच्चलोर्मि तरङ्गितं **वेत्रवत्या** नाम नद्याः। **पयः सभ्रूभङ्गं** भ्रुकुटियुक्तम्। दशनपीडयेति भावः। **मुखमिव**ाधर-मिवेत्यर्थः। **तीरोपान्ते** तटप्रान्ते यत्स्तनितं गर्जितं तेन **सुभगं** यथा तथा। स्तनित-शब्देन भणितमपि व्यपदिश्यते। 'ऊर्ध्वमुच्चलितकण्ठनासिकं हुङ्कृतं स्तनितमल्प-घोषवत्' इति लक्षणात्। **पास्यसि**। पिबतेर्लृट्। 'कामिनामधरास्वादः सुरताद-तिरिच्यते' इति भावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—**विदिशा**—प्राचीन काल में विदिशा वेत्रवती नदी के तट पर स्थित एक प्रसिद्ध नगरी थी। यह दशार्ण देश की राजधानी थी। मालवास्थित भिलसा को ही प्राचीन विदिशा का आधुनिक रूप माना जाता है।

वेत्रवत्याः—वेत्रवती नदी का आधुनिक नाम 'वेतवा' हैं। यह विन्ध्याचल के उत्तर से निकल कर भिलसा या विदिशा से होकर बहती हुई कालपी के पास यमुना से जा मिलती है।

कामुकत्वस्य लब्धा—प्रियतमा को पाकर प्रेमी हँस-हँस कर बातें करता है। उस के अधरोष्ठ का पान करने के लिए मुख को ऊपर उठाता है। विलासिनी प्रेमिका

भी कामशास्त्र की आचार्या है। वह टेढ़ी भौंहें कर के प्रेमी को मना-सा करती है। किन्तु वह हठीला आखिर अधर का पान कर ही लेता है। यही है कामुकता का अखण्ड फल। यहाँ नायक है—मेघ, नायिका है—वेत्रवती, उसका जल ही है—अधर, चञ्चल लहरियाँ ही हैं— वक्र भौंहें ॥ २४ ॥

व्युत्पत्तिः—कामुकत्वस्य—√कम् + उकञ् = कामुक, कामुक + त्व + विभक्तिः ॥ २४ ॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २५ ॥

खिले कदम्बों से पुलकित सा जो होगा तुझसे मिलकर,
उसी नीचनामक पर्वत पर दम लेने के लिए ठहर।
उसके शिलागृहों से निकला वारवधू-तन-परिमल-गन्ध,
बतलाता नागरिक जनों को यौवन की चढती से अन्ध ॥ २५ ॥

अन्वयः—तत्र, विश्रामहेतोः, प्रौढपुष्पैः, कदम्बैः, त्वत्सम्पर्कात्, पुलकितम्, इव, नीचैराख्यम्, गिरिम्, अधिवसेः; यः, पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः, शिलावेश्मभिः, नागराणाम्, उद्दामानि, यौवनानि, प्रथयति ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ, विदिशा के समीप में, विश्रामहेतोः = विश्राम के लिए, प्रौढपुष्पैः = पूर्ण विकसित फूलों वाले, कदम्बैः = कदम्ब वृक्षों से, त्वत्सम्पर्कात् = तुम्हारे सम्बन्ध के कारण, पुलकितम् = रोमाञ्चित, इव = सा, नीचैराख्यम् = नीच नामक, गिरिम् = पर्वत पर, अधिवसेः = ठहरना; यः = जो (पर्वत), पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः = वेश्याओं की सुरत-क्रीड़ाओं में (प्रयुक्त) सुगन्ध को फैलाने वाले, शिलावेश्मभिः = गुफाओं (शिलागृहों) से, नागराणाम् = नागरिकों के, पुरुषों के, उद्दामानि = उद्दाम, उत्कट, यौवनानि = जवानी को, तरुणाई को, प्रथयति = प्रकट कर रहा है ॥ २५ ॥

अर्थः—वहाँ विदिशा के समीप विश्राम के लिए पूर्ण विकसित फूलों वाले कदम्ब वृक्षों से तुम्हारे सम्बन्ध के कारण रोमाञ्चित से 'नीच' नामक पर्वत पर ठहरना; जो पर्वत वेश्याओं की सुरत-क्रीड़ाओं में (प्रयुक्त) सुगन्ध को फैलानेवाले शिलागृहों से नागरिकों के उद्दाम यौवन को प्रकट कर रहा है ॥ २५ ॥

सञ्जीवनी—नीचैरिति । हे मेघ ! तत्र विदिशासमीपे **विश्रामो** विश्रमः खेदापनयः भावार्थे घञ्प्रत्ययः । तस्य हेतोः विश्रामार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । विश्रामेत्यत्र 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि 'विश्रामो वा' इति चन्द्रव्याकरणे वृद्धिविधानाद्रूपसिद्धिः । **प्रौढपुष्पैः** प्रवुद्धकुसुमैः **कदम्बैर्नीपवृक्षैस्त्वत्सम्पर्कात्तव सङ्गात्** । पुलका अस्य जाताः **पुलकितमिव** सञ्जातपुलकमिव स्थितम् । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । नीचैरित्याख्या यस्य तं **नीचैराख्यं** गिरिमधिवसेः । गिरौ वसेरित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । **यो नीचैर्गिरिः** । पण्याः क्रेयाः स्त्रियः **पण्यस्त्रियो** वेश्याः । 'वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीवनी' इति शब्दार्णवे । तासां **रतिषु** यः **परिमलो** गन्धविशेषः । 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः । तमुद्गिरन्त्याविष्कुर्वन्तीति तथोक्तानि तैः । **शिलावेश्मभिः** कन्दरैर्नागराणां पौराणामुद्दामान्युत्कटानि **यौवनानि प्रथयति** प्रकटयति । उत्कटयौवनाः क्वचिदनुरक्ता वाराङ्गना विश्रम्भविहारकांक्षिण्यो मात्रादिभयान्निशीथसमये कञ्चन विविक्तं देशमाश्रित्य रमन्ते । तच्चात्र बहुलमस्तीति प्रसिद्धिः । अत्रोद्गारशब्दो गौणार्थत्वान्न जुगुप्सावहः प्रत्युत काव्यस्यातिशोभाकर एव । तदुक्तं दण्डिना—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥' इति ॥ २५ ॥

टिप्पणी—विश्रामहेतोः—पाणिनिव्याकरण के अनुसार विश्राम नहीं 'विश्रम' शब्द बनता है । क्योंकि 'श्रमु' धातु से घञ् प्रत्यय होने पर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" इस सूत्र से उपधावृद्धि का निषेध हो जाता है । यही कारण है कि आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने "विश्राम इति त्वपाणिनीयम्" लिखा है । कहीं-कहीं 'विश्रान्तिहेतोः' यह पाठ भी मिलता है ।

पण्यस्त्री०—वहाँ के पुरुष वेश्याओं के साथ वनविहार के समय गुफाओं में रमण करते हैं । वेश्याएँ सुगन्धित द्रव्य लगाये रहती हैं । अतः सुवासित गुफाएँ

पर्याप्त समय तक उस सुवास को बिखेरती रहती हैं ॥ २५ ॥

व्युत्पत्तिः—प्रौढः—प्र + √वह् + क्त कर्तरि + विभक्त्यादिः । नागराणाम्—नगर + अण् + विभक्तिः । यौवनानि—युवन् + अण् + विभक्त्यादिः ॥ २५ ॥

विश्रान्तः सन् व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्चन्
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ २६ ॥

पर्वतीय नदियों के तट पर फूले जूही के आराम,
उन्हे सींचते आगे बढ़ना थोड़ा सा करके विश्राम ।
और मालिनों के मुखड़ों पर छाया कर करना उपकार,
जिनके कर्ण-कमल मुरझाते स्वेद पोंछते बारंबार ॥ २६ ॥

अन्वयः—विश्रान्तः सन्, वननदीतीरजातानि, उद्यानानाम्, यूथिकाजालकानि, नवजलकणैः, सिञ्चन्, गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम्, पुष्पलावीमुखानाम्, छायादानात्, क्षणपरिचितः (सन्), व्रज ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—विश्रान्तः सन् = विश्राम करके, वननदीतीरजातानि = वन की नदियों के तटों पर उत्पन्न, उद्यानानाम् = उद्यानों की, यूथिकाजालकानि = जूही की कलियों को, नवजलकणैः = नवीन जल-विन्दुओं से, सिञ्चन् = सींचते हुए, गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्त-कर्णोत्पलानाम् = कपोलों पर (उद्गत) पसीनों को पोंछने से उत्पन्न पीड़ा से मुरझाये कर्णोत्पल वाली, पुष्पलावीमुखानाम् = फूल चुननेवाली स्त्रियों के (मालिनों के) मुखों को, छायादानात् = छाया प्रदान करने से, क्षणपरिचितः (सन्) = क्षण भर के लिए परिचय प्राप्त कर, व्रज = आगे बढ़ जाना ॥ २६ ॥

अर्थः—विश्राम करके, वन की नदियों के तटों में उत्पन्न उद्यानों की जूही की कलियों को नवीन जलविन्दुओं से सींचते हुए, कपोलों पर (उद्गत) पसीनों को पोंछने से उत्पन्नपीड़ा से मुरझाये कर्णोत्पलवाली, फूल चुनने वाली स्त्रियों के

(मालिनों के) मुखों को छाया प्रदान करने से क्षणभर के लिए परिचय प्राप्तकर आगे बढ़ जाना ॥ २६ ॥

सञ्जीवनी—विश्रान्त इति। **विश्रान्तः** संस्तत्र **नीचैर्गिरौ** विनीताध्वश्रमः सन्। अयं विश्रान्तेरनन्तरम्। **वनेऽरण्ये** या **नद्यस्तासां तीरेषु जातानि** स्वयं रूढानि। अकृत्रिमाणीत्यर्थः। 'नदनदी—' इति पाठे 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषो दुर्वारः। तेषामुद्यानानामारामाणां सम्बन्धीनि **यूथिकाजालकानि** मागधीकुसुममुकुलानि। 'अथ मागधी। गणिका यूथिका' इत्यमरः। 'कोरकजालककलिकाकुड्मलमुकुलानि तुल्यानि' इति हलायुधः। **नवजलकणैः सिञ्चन्**नार्द्रीकुर्वन्। सिञ्चतेरार्द्रीकरणार्थत्वाद् द्रवद्रव्यस्य करणत्वम्। यत्र तु क्षरणमर्थस्तत्र तु कर्मत्वम्। अथ 'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु।' 'सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि' इत्येवमादि। एवं किरतीत्यादीनामपि 'रजः किरति मारुतः' 'अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः परियोपितः' इत्यादिष्वर्थभेदाश्रयणेन रजोलाजादीनां कर्मत्वकरणत्वे गमयितव्ये। तथा **गण्डयोः** कपोलयोः **स्वेदस्यापनयनेन** प्रमार्जनेन या **रुजा** पीड़ा (भिदादित्वादङ्प्रत्ययः।) तथा **क्लान्तानि** म्लानानि **कर्णोत्पलानि** येषां तथोक्तानाम्। पुष्पाणि लुनन्तीति **पुष्पलाव्यः** पुष्पावचायिकाः स्त्रियः। कर्मण्यण्। 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्। तासां **मुखानि**। **छायाया** अनातपस्य **दानात्**। कान्तिदानं च ध्वन्यते। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। कामुकदर्शनात्कामिनीनां मुखविकासो भवतीति भावः। **क्षणं परिचितः** क्षणं संसृष्टः सन्। न तु चिरम्। **व्रज** गच्छ ॥ २६ ॥

टिप्पणी—पुष्पलावीमुखानाम्—फूल चुननेवाली मालिनों का मुखकमल गर्मी के कारण पसीने से तर हो गया है। जब मेघ-खण्ड उनके ऊपर छाया प्रदान करता है तो उन्हें परम शीतलता प्रतीत होती है। वे विहसित नेत्रों को ऊपर की ओर उठा कर मेघों को सप्रेम देखती हैं। यही है मेघों का उनसे क्षण भर के लिए परिचय प्राप्त करना ॥ २६ ॥

व्युत्पत्तिः—विश्रान्तः—वि + √श्रम् + क्त + विभक्तिः। **सिञ्चन्**—√सिच् + शतृ (अत्) + विभक्त्यादिः। **पुष्पलावी**—पुष्प + √लू + अण् + ङीप् + विभक्त्यादिः ॥ २६ ॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ २७ ॥

यद्यपि उत्तर चलते तुझको उज्जयिनी जाने में फेर,
उसके महलों का मन रखने में तथापि मत करना देर ।
चल चपला से चकित चुटीले नागरियों के बाँके नैन,
यदि न उलझकर तुझे लुभावें समझ जन्म वंचित बेचैन ॥ २७ ॥

अन्वयः—उत्तराशाम्, प्रस्थितस्य, भवतः, पन्थाः, यदपि, वक्रः, (भविष्यति, तथापि), उज्जयिन्याः, सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः, मा स्म भूः । तत्र, विद्युद्दामस्फुरितचकितैः, लोलापाङ्गैः, पौराङ्गनानाम्, लोचनैः, यदि, न, रमसे, (तर्हि, त्वम्), वञ्चितः, असि ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—उत्तराशाम् = उत्तर दिशा की ओर, प्रस्थितस्य = प्रस्थान करने वाले, भवतः = तुम्हारा, पन्थाः=मार्ग, यदपि = यद्यपि, वक्रः = टेढ़ा मेढ़ा, तिरछा, लंबा, (भविष्यसि = हो जायगा, तथापि = तो भी), उज्जयिन्याः = उज्जयिनी के, सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः = प्रासादों के ऊर्ध्व भागों के परिचय करने से विमुख, मा स्म भूः = मत होना । तत्र = वहाँ, विद्युद्दामस्फुरितचकितैः = बिजली की रेखा की चमक से सहमे हुए, लोलापाङ्गैः = चञ्चल कटाक्षों वाले, पौराङ्गनानाम् = नागरिक-सुन्दरियों के, लोचनैः = नयनों से, यदि = यदि, न = नहीं, रमसे = क्रीड़ा करोगे, (तर्हि = तो, त्वम् = तुम), वञ्चितः = ठगे गये हो, निरर्थक जन्मवाले हो ॥ २७ ॥

अर्थः—उत्तर दिशा की ओर जाने के लिए तुम्हारा मार्ग यद्यपि टेढ़ा (हो जायगा, तो भी) उज्जयिनी के प्रासादों के ऊर्ध्व भागों के परिचय करने से विमुख मत होना । वहाँ बिजली की रेखा की चमक से चञ्चल कटाक्षों वाले, नागरिक-सुन्दरियों के नयनों से यदि क्रीड़ा नहीं करोगे तो तुम (जन्म की सफलता के विषय में) वञ्चित ही रह जाओगे ॥ २७ ॥

सञ्जीवनी—**वक्र इति।** उत्तराशामुदीचीं दिशं प्रति **प्रस्थितस्य भवतः पन्था** उज्जयिनीमार्गो **वक्रो यदपि।** दूरो यद्यपीत्यर्थः। विन्ध्यादुत्तरवाहिन्या निर्विन्ध्यायाः प्राग्भागे कियत्यपि दूरे स्थितोज्जयिनी उत्तरपथस्तु निर्विन्ध्यायाः पश्चिम इति वक्रत्वम्। तथाप्युज्जयिन्यां विशालानगरस्य। 'विशालोज्जयिनी समा' इत्युत्पलः। **सौधानामुत्सङ्गे**षूपरिभागेषु **प्रणयः** परिचयः। 'प्रणयः स्यात्परिचये याच्ञायां सौहृदेऽपि च' इति यादवः। तस्य **विमुखः** पराङ्मुखो **मास्म भूः** न भवेत्यर्थः। 'स्मोत्तरे लङ् च' इति चकारादाशीरर्थे लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। तत्रोज्जयिन्यां **विद्युद्दाम्नां** विद्युल्लतानां **स्फुरितेभ्यः** स्फुरणेभ्यश्चकितैर्**लोलापाङ्गैश्**चञ्चलकटाक्षैः **पौराङ्गनानां लोचनैर्न रमसे यदि** तर्हि त्वं **वञ्चितः** प्रतारितोऽसि। जन्मवैफल्यं भवेदित्यर्थः॥ २७॥

टिप्पणी—**वक्रः पन्थाः**—विन्ध्य पर्वत से निकल कर उत्तर की ओर वहने वाली निर्विन्ध्या नदी से पूरव की ओर जानेवाला मार्ग निर्विन्ध्या के पश्चिम में है। अतः अलकागामी मेघ के लिये उज्जयिनी होकर जाने का मार्ग टेढ़ा वतलाया गया है।

सौधोत्सङ्गः—कवि के कहने का भाव यह है कि—उज्जयिनी की सुन्दरियाँ अपने शरीरलावण्य के लिए त्रिलोकी में विख्यात हैं, वेजोड़ हैं। वे सायंकाल अपने प्रासादों की ऊपरी छतों पर टहलती हैं, वैठती हैं, खड़ी होती हैं। जब तुम्हारी विजली कौंधेगी तो उनकी आँखें भयवश चंचल हो उठेंगी। इस दृश्य को जरा तुम ध्यान से देख लेना। यदि तुम ऐसा न कर सके तो तुम्हारा जन्म ही निरर्थक है, वेकार है। जन्म की सार्थकता है—उज्जयिनी की ललनाओं के लुभावने कटाक्षों से रमण करना।

उज्जयिन्याः—प्राचीन काल में उज्जयिनी अवन्तिदेश की विख्यात राजधानी थी। यह नगरी शिप्रा नदी के पावन तट पर वसी है। यहीं जगद्विदित महाकाल शङ्कर का मन्दिर है। इतिहास का प्रसिद्ध विक्रमादित्य यहीं का राजा था। इसी नगरी को विशाला तथा अवन्ती भी कहते थे। मोक्षदायिका काशी आदि सात नगरियों में यह भी एक है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

व्युत्पत्तिः—प्रस्थितस्य—प्र + √स्था + क्त + विभक्तिः । वञ्चितः—√वञ्च् + क्त + विभक्तिः ॥ २७ ॥

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ २८ ॥

पहन करधनी उन हंसों की लहरा कर जो देते बोल,
इठला इठला कर जो चलती रुचिर भँवर नाभी को खोल ।
पथ में ऐसी निर्विन्ध्या के रस का बस बन जाना धाम,
हाव भाव ही करता प्रिय पर पहले प्रणय-वचन का काम ॥ २८ ॥

अन्वयः—पथि, वीचि-क्षोभ-स्तनित-विहग-श्रेणि-काञ्ची-गुणायाः, स्खलित-सुभगम्, संसर्पन्त्याः, दर्शितावर्तनाभेः, निर्विन्ध्यायाः, सन्निपत्य, रसाभ्यन्तरः, भव । हि, स्त्रीणाम्, प्रियेषु, विभ्रमः, आद्यम्, प्रणयवचनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—पथि = मार्ग में, वीचि-क्षोभ-स्तनित-विहग-श्रेणि-काञ्ची-गुणायाः = तरङ्गों के चलने से शब्द करते हुए पक्षिसमूह रूपी करधनी को धारण करने वाली, स्खलितसुभगम् = (पत्थरों पर) गिरने से मनोहरतापूर्वक, संसर्पन्त्याः = बहने वाली, दर्शितावर्तनाभेः = भँवर रूपी नाभि को प्रदर्शित करने वाली, निर्वि-न्ध्यायाः = निर्विन्ध्या नाम की नदी के, सन्निपत्य = सम्पर्क में आकर, पास में आकर, रसाभ्यन्तरः = (उसके) रस (जल अथवा शृङ्गार) को ग्रहण करने में अन्तरङ्ग, भव = बनो । हि = क्योंकि, स्त्रीणाम् = स्त्रियों की, प्रियेषु = प्रेमी जनों के प्रति, विभ्रमः = शृङ्गार-चेष्टा ही, आद्यम् = प्रथम, प्रणयवचनम् = प्रणय याचना हुआ करती है । रमण करने के लिए कहा गया प्रार्थना-वाक्य हुआ करता है ॥ २८ ॥

अर्थः—मार्ग में, तरङ्गों के चलने से शब्द करते हुए पक्षि-समूह रूपी कर-धनी को धारण करने वाली, (पत्थरों पर) गिरने से मनोहरतापूर्वक बहनेवाली,

भँवररूपी नाभि को प्रदर्शित करने वाली निर्विन्ध्या नाम की नदी के सम्पर्क में आकर (उसके) रस (जल अथवा शृङ्गार) को ग्रहण करने में अन्तरङ्ग बनो। क्योंकि स्त्रियों की प्रेमी जनों के प्रति (प्रदर्शित) शृङ्गार-चेष्टा ही प्रथम प्रणय-याचना हुआ करती है ॥ २८ ॥

सञ्जीवनी—सम्प्रत्युज्जयिनीं गच्छतस्तस्य मध्येमार्गं निर्विन्ध्यासम्बन्धमाह—**वीचीति**। हे सखे, पथ्युज्जयिनीपथे **वीचिक्षोभेण** तरङ्गचलनेन **स्तनितानां** मुखराणाम्। कर्तरि क्तः। **विहगानां** हंसानां **श्रेणिः** पङ्क्तिरेव **काञ्चीगुणो** यस्यास्तस्याः **स्खलितेनोपस्खलनेन** मदस्खलितेन च **सुभगं** यथा तथा **संसर्पन्त्याः** प्रवहन्त्याः गच्छन्त्याश्च तथा **दर्शितः** प्रकटितः **आवर्तोऽम्भसां** भ्रम एव **नाभिर्यया**। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। निष्क्रान्ता विन्ध्यान्निर्विन्ध्या नाम नदी 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः। 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्—' इत्यादिना परवल्लिङ्गताप्रतिषेधः। तस्या नद्याः **सन्निपत्य** सङ्गत्य। **रसो** जलमभ्यन्तरे यस्य सः। अन्यत्र रसेन 'शृङ्गारेणाभ्यन्तरोऽन्तरङ्गो भव। सर्वथा तस्या रसमनुभवेत्यर्थः। शृङ्गारादौ जले वीर्ये सुवर्णे विषशुक्रयोः। तिक्तादावमृते चैव निर्यासे पारदे ध्वनौ। आस्वादे च रसं प्राहुः' इति शब्दार्णवे। ननु तत्प्रार्थनामन्तरेण कथं तत्रानुभवो युज्यत इत्यत आह—स्त्रीणामिति। **स्त्रीणां प्रियेषु** विषये **विभ्रमो** विलास **एवाद्यं प्रणयवचनं** प्रार्थनावाक्यं हि स्त्रीणामेव स्वभावो यद्विलासैरेव रागप्रकाशनं न तु कण्ठत इति भावः। विभ्रमश्चात्र नाभिसन्दर्शनादिरुक्त एव ॥ २८ ॥

टिप्पणी—वीचि-क्षोभः—तरङ्गों में लहर आने पर, उनके चलायमान होने पर हंस आदि जलचर पक्षी चहचहा उठते हैं। निर्विन्ध्या नदी है। अतः शब्दायमान पक्षियों की ये पंक्तियाँ इस नदी की करधनी हैं। सुन्दरी की कमर में झन-झनाती हुई करधनी कामोद्दीपक होती है।

संसर्पन्त्या…दर्शितावर्तनाभेः—चढ़ते हुए यौवन के मद से मतवाली सुन्दरी तरुणी उद्यान में टहल रही थी। काम का नशा उसके शरीर में सरसराहट पैदा कर रहा था। उसी समय उसके सामने से एक सुन्दर युवक गुजरा। उसकी मुख-मुद्रा और सरणि से प्रतीत हो रहा था कि वह दर्शन का छात्र है। तरुणी उसे देखते ही इठला-इठला कर चलने लगी। उसने चाल से कमर की करधनी की

झंकार बढ़ा दी। बार-बार पेट खोल कर नाभि का प्रदर्शन किया, किन्तु बेचारा युवक कुछ न कह सका, कुछ न कर सका, यद्यपि वह भी तरुणी पर मुग्ध था। वह सोचता रहा कि यह मुझसे कुछ कहे, तब मैं आगे बढ़ूँ। युवती के हाव-भाव से उसे कुछ भी व्यक्त न हो सका। अन्ततः निराश हो वह चला गया। तरुणी ने मन ही मन उसे उसकी मूर्खता पर खूब कोसा। थोड़ी देर बाद उधर से एक दूसरा सुन्दर तरुण निकला। यह साहित्य का श्लोक बोल रहा था। तरुणी ने वैसा ही प्रदर्शन इसके सामने भी किया जैसा कि वह पूर्व युवक के समक्ष कर चुकी थी। इस युवक ने सुन्दरी के इन क्रिया-कलापों को सुरत के लिए स्पष्ट आमन्त्रण समझा। फिर क्या था! वे दोनों जिस आनन्द में निमग्न हुए साहित्य ने उसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहा है। आखिर कालिदास भी तो यही बतला रहे हैं ॥ २८ ॥

व्युत्पत्तिः—संसर्पन्त्याः—सम् + √सृप् + अत् + ङीप् + षष्ठ्यैकवचने विभक्तिः। प्रियेषु—√प्री + कः + विभक्तिः। आद्यम्—आदि + यत् + विभक्तिः ॥ २८ ॥

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिः शीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ २९ ॥

सिन्धु विरह में सूख सिमट कर रखती लट सी पतली धार।
तट के पेड़ों के पतझड़ से पीला पड़ा पूर्ण आकार।
भाग्यवान हे मेघ ! कर रही जो वह तेरा इतना प्यार,

जैसे अपनी कृशता तज दे करना वैसे ही उपचार ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे सुभग, वेणीभूतप्रतनुसलिला, तटरुहतरुभ्रंशिभिः, शीर्णपर्णैः, पाण्डुच्छाया; विरहावस्थया, अतीतस्य, ते, सौभाग्यम्, व्यञ्जयन्ती, असौ, सिन्धुः, येन, विधिना, कार्श्यम्, त्यजति, सः, त्वया, एव, उपपाद्यः ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—हे सुभग = हे भाग्यशाली मेघ, वेणीभूतप्रतनुसलिला = स्त्रियों की

चोटी के समान क्षीण जलधार वाली, तटरुहतरुभ्रंशिभिः = तट पर उगे हुए वृक्षों से गिरनेवाले, शीर्णपर्णैः = सूखे पत्तों से, पाण्डुच्छाया = पीली कान्तिवाली; विरहावस्थया = वियोग की अवस्था द्वारा, अतीतस्य = प्रवासस्थित, ते = तुम्हारे, सौभाग्यम् = सौभाग्य को, व्यञ्जयन्ती = व्यक्त करती हुई, असौ = वह, सिन्धुः = नदी, येन = जिस, विधिना = विधि से, कार्श्यम् = दुर्बलता को, त्यजति = छोड़ती है, छोड़े, सः = वह (विधि), त्वया = तुम्हारे द्वारा, एव = ही, उपपाद्यः = की जानी चाहिए ॥ २९ ॥

अर्थः—हे भाग्यशाली मेघ, स्त्रियों की चोटी के समान क्षीण जलधारवाली, तट पर उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले सूखे पत्तों से पीली कान्तिवाली, वियोग की अवस्था द्वारा प्रवासस्थित तुम्हारे सौभाग्य को व्यक्त करती हुई वह (निर्विन्ध्या) नदी जिस विधि से दुर्बलता को छोड़े वही विधि तुम्हें अपनानी चाहिए ॥ २९ ॥

सञ्जीवनी—निर्विन्ध्याया विरहावस्थां वर्णयंस्तन्निराकरणं प्रार्थयते—**वेणीति** । अवेणी वेणीभूतमिति **वेणीभूतं** वेण्याकारं **प्रतनु** स्तोकं च **सलिलं** यस्याः सा तथोक्ता । अन्यत्र वेणीभूतकेशपाशेति च ध्वन्यते । रुहन्तीति रुहाः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । **तटयो रुहा ये तरवस्तेभ्यो भ्रश्यन्तीति तथोक्तैः । जीर्णपर्णैः** शुष्कपत्रैः **पाण्डुच्छाया** पाण्डुवर्णा । अत एव हे **सुभग । विरहावस्थया** पूर्वोक्तप्रकारया करणेन । **अतीतस्य**ैतावन्तं कालमतीतस्य गतस्य । प्रोषितस्येत्यर्थः । **ते** तव **सौभाग्यं** सुभगत्वम् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । **व्यञ्जयन्ती** प्रकाशयन्ती । स खलु सुभगो यमङ्गनाः कामयन्त इति भावः । **असौ** पूर्वोक्ता **सिन्धुर्**नदी निर्विन्ध्या । 'स्त्री नद्यां ना नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुधौ गजे' इति वैजयन्ती । **येन विधिना** व्यापारेण **कार्श्यं त्यजति स विधिस्त्वयैवोपपाद्यः** । कर्त्तव्य इत्यर्थः । स च विधिरेकत्र वृष्टिरन्यत्र सम्भोगस्तदभावनिबन्धनत्वात्कार्श्यस्येति भावः । इयं पञ्चमी मदनावस्था । तदुक्तं रतिरहस्ये—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः । उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।' इति । 'तामतीतस्य' इति पाठमाश्रित्य सिन्धुर्नाम नद्यन्तरमिति व्याख्यातम् । किंतु सिन्धुर्नाम कश्चिन्नदः काश्मीरदेशेऽस्ति । नदी तु कुत्रापि नास्तीत्युपेक्ष्यमित्याचक्षते ॥ २९ ॥

टिप्पणी—सौभाग्यं ते—मेघ प्रेमी है और नदी प्रेमिका। मेघ के आने पर ही, बरसने पर ही, नदी सरस होती है, बहती है, इठलाती और इतराती है। प्रेमी के दूर चले जाने पर, प्रवासी हो जाने पर प्रेमिका प्रसाधन नहीं करती है। वह सर्वदा एक चोटी धारण करती है। उसका शरीर पीला और दुर्बल हो जाता है। प्रेमी बादल ८ महीने के प्रवास पर चला गया था। अतः प्रेमिका निर्विन्ध्या एक वेणी (चोटी, जलधार) धारण किये हुए है। उसका शरीर पीला पड़ गया है। आज मेघ उससे मिलने जा रहा है। अतः यक्ष कह रहा है कि तुम वैसा कुछ उपाय करना जिससे उसकी दुर्बलता दूर हो जाय। प्रेमिका का प्रेमी के विरह में दुर्बल आदि होना प्रेमी के भाग्य का सूचक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रेमिका एक ही व्यक्ति पर मरती है, जान देती है। यही तो प्रेमी का सौभाग्य है ॥२९॥

व्युत्पत्तिः—तटरुहः—तट + √रुह् + कः + विभक्त्यादिः। **व्यञ्जयन्ती**—वि + √अञ्ज् + णिच् + लट् (शतृ)। ङीप्। **विधिना**—वि + √धा + किः करणे + विभक्तिः। **उपपाद्यः**—उप + √पद् + णिच् + ण्यत् + विभक्तिः ॥२९॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥ ३० ॥

पहुँच अवन्ती, जहाँ जानते ग्राम-वृद्ध उदयन का हाल,
तू उस उज्जयिनी को जाना जो रखती सम्पत्ति विशाल।
मानों स्वर्ग भोग कर उतरे धरती पर जो उसको त्याग,
अपने शेष पुण्य से उसका ले आये यह सुन्दर भाग ॥ ३० ॥

अन्वयः—उदयन-कथा-कोविद-ग्राम-वृद्धान्, अवन्तीन्, प्राप्य, (त्वम्), सुचरितफले, स्वल्पीभूते, गाम्, गतानाम्, स्वर्गिणाम्, शेषैः, पुण्यैः, हृतम्, कान्तिमत्, दिवः, एकम्, खण्डम्, इव, पूर्वोद्दिष्टाम्, श्रीविशालाम्, विशालाम्, पुरीम्, अनुसर ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—उदयन-कथा-कोविद-ग्राम-वृद्धान् = उदयन की कथाओं के विज्ञ ग्राम-वृद्धों से मण्डित, अवन्तीन् = अवन्ति देश को, प्राप्य = पाकर, (त्वम् =

तुम), सुचरितफले = पुण्य-फल के, स्वल्पीभूते = कम हो जाने पर, गाम् = पृथिवी पर, गतानाम् = आये हुए, स्वर्गिणाम् = स्वर्ग में रहनेवालों के, शेषैः = अवशिष्ट, बचे-खुचे, पुण्यैः = पुण्यों के द्वारा, हृतम् = लाये गये, कान्तिमत् = उज्ज्वल, दिवः = स्वर्ग के, एकम् = एक, खण्डम् = खण्ड, इव = सा, पूर्वोद्दिष्टाम् = पूर्वचर्चित, श्रीविशालाम् = सम्पत्ति-सम्पन्न, विशालाम् = (उज्जयिनी), पुरीम् = पुरी का, अनुसर = अनुसरण करना, उसकी ओर बढ़ना ॥ ३० ॥

अर्थः—उदयन की कथाओं के विज्ञ ग्राम-वृद्धों से मण्डित अवन्ति देश को पाकर (तुम) पुण्य-फल के कम हो जाने पर पृथिवी पर आये हुए स्वर्ग-निवासियों के बचे-खुचे पुण्यों के द्वारा लाये गये उज्ज्वल, स्वर्ग के एक खण्ड-सा, पूर्वचर्चित, उज्जयिनी पुरी का अनुसरण करना (उसकी ओर बढ़ना) ॥ ३० ॥

सञ्जीवनी—प्राप्येति । विदन्तीति विदाः । इगुपधलक्षणः कः । ओकसो वेद्यस्थानस्य विदाः कोविदाः । ओकारलुप्तं पृषोदरादित्वात्साधुः । **उदयनस्य** वत्सराजस्य **कथानां** वासवदत्ताहरणाद्यद्भुतोपाख्यानानां **कोविदास्तत्त्वज्ञा ग्रामेषु ये वृद्धास्ते** सन्ति येषु तानवन्तींस्तन्नामजनपदान् **प्राप्य** तत्र **पूर्वोद्दिष्टां** पूर्वोक्तां 'सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः' इत्युक्तां **श्रीविशालां** सम्पत्तिमहतीम् । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते' इति शाश्वतः । **विशालां पुरीमुज्जयिनीमनुसर** व्रज । कथमिव स्थिताम् । **सुचरितफले** पुण्यफले स्वर्गोपभोगलक्षणे **स्वल्पीभूते** । अत्यल्पावशिष्टे सतीत्यर्थः । **गां** भूमिं **गतानाम्** । 'गौरिला कुम्भिनी क्षमा' इत्यमरः । पुनरपि भूलोकगतानामित्यर्थः । **स्वर्गिणां** स्वर्गवतां जनानां **शेषैर्भुक्तशिष्टैः पुण्यैः** सुकृतै**र्हृतमानीतम्** । स्वर्गार्थानुष्ठितकर्मशेषाणां स्वर्गदानावश्यंभावादिति भावः । कान्तिरस्यास्तीति **कान्तिमदुज्ज्वलम्** । सारभूतमित्यर्थः । **एकं** भुक्तादन्यत् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । **दिवः** स्वर्गस्य **खण्डमिव** स्थितामित्युत्प्रेक्षा । एतेनातिक्रान्तसकलभूलोकनगरसौभाग्यसारत्वमुज्जयिन्या व्यज्यते ॥ ३० ॥

टिप्पणी—उदयनकथा०—वत्सराज उदयन की कथा, बृहत्कथा (पैशाची भाषा में लिखित एक ग्रन्थ , जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है,) बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर, स्वप्नवासवदत्ता तथा रत्नावली आदि ग्रन्थों में पायी जाती है।

उदयन कथा की स्वल्प चर्चा महाकवि कालिदास ने आगे के श्लोक में की है।

विशालाम्—यह उज्जयिनी का दूसरा नाम है।

स्वल्पीभूते—विशाला नगरी अतिसमृद्ध तथा स्वर्गीय सुखों से परिपूर्ण है। अतः ऐसा मालूम पड़ता है कि यह स्वर्ग का ही एक खण्ड है। अपने पुण्य के प्रताप से स्वर्ग में बहुत दिनों तक निवास करनेवाले पुण्यशालीजन भोग के अनन्तर बचे-खुचे पुण्य के साथ जब भू-मण्डल पर आने लगे तब विशाला को अपने साथ लेते आये। अन्यथा भूतल पर ऐसी नगरी का होना सम्भव नहीं है ॥ ३० ॥

व्युत्पत्तिः—स्वर्गिणाम्—स्वर्ग+इनिः शेषैः—√शिष् + घञ् कर्मणि + विभक्तिः। हृतम्—√हृ + क्तः + विभक्तिः। कान्तिमत्—कान्ति + मतुप् + विभक्त्यादिः ॥ ३० ॥

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ३१ ॥

उन्मद हंसों के कलरव को बल देता जो भले प्रकार,
भोर खिले कमलों से मिल कर ले लेता जो सौरभ-सार।
बिनती करने में प्रियतम सा चाटुकार वह शिप्रावात,
वहाँ रतिश्रम हर कर करता कामिनियों का सुखमय गात ॥ ३१ ॥

अन्वयः—यत्र, प्रत्यूषेषु, पटु, मदकलम्, सारसानाम्, कूजितम्, दीर्घीकुर्वन्, स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः, अङ्गानुकूलः, शिप्रावातः, प्रार्थनाचाटुकारः, प्रियतमः, इव, स्त्रीणाम्, सुरतग्लानिम्, हरति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—यत्र=जहाँ, जिस विशाला में, प्रत्यूषेषु=प्रातःकाल, पटु=प्रस्फुट, सुस्पष्ट, मदकलम्=मद के कारण मनोहर, उन्मद, सारसानाम्=सारसों के, कूजितम्=कलरव को, दीर्घीकुर्वन्=फैलाता हुआ, स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः=विकसित कमलों के आमोद के संसर्ग से सुगन्धित; अङ्गानुकूलः=

अङ्गों को सुखदायक, शिप्रावातः = शिप्रा नदी का वायु, प्रार्थनाचाटुकारः = (रति की) याचना में खुशामद करनेवाले, प्रियतमः = प्रियतम के, प्रेमी के, इव = समान, स्त्रीणाम् = स्त्रियों की, सुरतग्लानिम् = सम्भोग-क्रीडा के श्रम को, हरति = दूर करता है ॥ ३१ ॥

अर्थः—जिस विशाला में प्रातःकाल प्रस्फुट, मद के कारण मनोहर, सारसों के कलरव को फैलाता हुआ, विकसित कमलों के आमोद के संसर्ग से सुगन्धित, अङ्गों को सुखदायक शिप्रा नदी का पवन (रति की) याचना में खुशामद करनेवाले प्रियतम के समान स्त्रियों की सम्भोग-क्रीडा के श्रम को दूर करता है ॥३१॥

सञ्जीवनी—**दीर्घीकुर्वन्निति** । **यत्र** विशालायां **प्रत्यूषेष्वहर्मुखेषु** । 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्' इत्यमरः । **पटु** प्रस्फुटम् । **मदकलं** मदेनाव्यक्तमधुरम् । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलः' इत्यमरः । **सारसानां** पक्षिविशेषाणाम् । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः । यद्वा सारसानां हंसानाम् । 'चक्राङ्गः सारसो हंसः' इति शब्दार्णवे । **कूजितं** रुतं **दीर्घीकुर्वन्** । विस्तारयन्नित्यर्थः । यावद्वातं शब्दानुवृत्तेरिति भावः । एतेन प्रियतमः स्वचाटुवाक्यानुसारि क्रीडापक्षिकूजितमविच्छिन्नीकुर्वन्निति च गम्यते । **स्फुटितानां** विकसितानां **कमलानामामोदेन** परिमलेन सह या **मैत्री** संसर्गस्तेन **कषायः** सुरभिः । 'रागद्रव्ये कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे' इति यादवः । अन्यत्र विमर्दगन्धीत्यर्थः । 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे । आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः । **अङ्गानुकूलो**गात्रसुखस्पर्शः । अन्यत्र गाढालिङ्गनदत्तगात्रसंवाहन इत्यर्थः । भवभूतिना चोक्तम्—'अशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि' इति संवाह्यन्ते च सुरतश्रान्ताः प्रियैर्युवतयः । एतत्कविरेव वक्ष्यति (उ० मे० ९८) 'संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम् ।' इति । शिप्रा नाम काचित्तत्रत्या नदी तस्या वातः **शिप्रावातः** । शिप्राग्रहणं शैत्यद्योतनार्थम् । **प्रार्थना** सुरतस्य याच्ञा तत्र **चाटु** करोतीति तथोक्तः । पुनः सुरतार्थं प्रियवचनप्रयोक्तेत्यर्थः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । **प्रियतमो** वल्लभ **इव स्त्रीणां सुरतग्लानिं** सम्भोगखेदं **हरति** नुदति । चाटूक्तिभिर्विस्मृतपूर्वरतिखेदाः प्रियतमप्रार्थनां सफलयन्तीति भावः । 'प्रार्थनाचाटुकारः' इत्यत्र 'खण्डितनायिकानुनीता' इति व्याख्याने सुरतग्लानिहरणं न सम्भवति । तस्याः पूर्वं सुरताभावात्पश्चात्तत्सुरतग्लानिहरणं तु

नेदानीन्तनकोपशमनार्थंचाटुवचनसाध्यमित्युत्प्रेक्षैवोचिता विवेकिनाम् । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके ।। ३१ ।।

टिप्पणी--दीर्घीकुर्वन्--प्रातःकाल की हवा के सम्पर्क में आकर सारस अधिक कूजते हैं । हवा के कारण उनका शब्द भी दूर-दूर तक सुनाई पड़ता है ।

प्रार्थनाचाटुकारः--प्रियतमा जब एक बार रमण करने से श्रान्त हो जाती है तब प्रियतम उसकी खुशामद करके उसके शरीर में गुदगुदी पैदा कर पुनः उसे रमण के लिये तैयार करता है । शिप्रा का पवन भी रमणियों की रति-श्रान्ति को दूर कर उनके शरीर में ताजगी भर रहा है ।

शिप्रा०-- शिप्रा एक नदी का नाम है । उज्जयिनी इसी के पावन तट पर बसी है ।। ३१ ।।

व्युत्पत्तिः--प्रार्थना--प्र + √अर्थ + युच् + टाप् + विभक्तिः । चाटुकारः--चाटु + √कृ + अण् + विभक्त्यादिः । ०ग्लानिम्--√ग्लै + क्तिन् + विभक्तिः ।। ३१ ।।

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान् मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान् विद्रुमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ।। ३१ क ।।

जहाँ सजे हैं दूकानों पर रत्न-जटित अगणित शुचि हार,
और करोड़ों शंख-सीप हैं श्यामकिरण पन्ने अविकार ।
राशि-राशि विद्रुम के टुकड़े, जिन्हें देख मन को सविशेष
लगता यही, वारिनिधियों में जल ही है अब केवल शेष ।।३१ क।।

अन्वयः--यस्याम्, कोटिशः, विपणिविरचितान्, तारान्, तरलगुटिकान्, हारान्, शङ्खशुक्तीः, शष्पश्यामान्, उन्मयूखप्ररोहान्, मरकतमणीन्, विद्रुमाणाम्, भङ्गान्, च, दृष्ट्वा, सलिलनिधयः, तोयमात्रावशेषाः, संलक्ष्यन्ते ।। ३१ क ।।

शब्दार्थः--यस्याम् = जिस (विशाला) में, कोटिशः = करोड़ों, विपणिविरचितान् = बाजारों में (बिक्री के लिये) सजाये गये, तारान् = शुद्ध, तरल-

गुटिकान् = हारों के मध्य में गूँथे जाने वाले महारत्नों को, हारान् = मोतियों की मालाओं को, शङ्खशुक्तीः = शंखों और सीपियों को, शष्पश्यामान् = घास के समान हरितवर्ण, उन्मयूखप्ररोहान् = अङ्कुरों के समान ऊपर उठती हुई किरणों से चमकती हुई, मरकतमणीन् = मरकत मणियों को, विद्रुमाणाम् = मूँगों के, भङ्गान् = टुकड़ों को, च = भी, दृष्ट्वा = देखकर, सलिलनिधयः = सागर, रत्नाकर, तोयमात्रावशेषाः = केवल जल मात्र अवशिष्ट रह गया है जिनमें ऐसे, संलक्ष्यन्ते = प्रतीत होते हैं ॥ ३१ क ॥

अर्थः—जिस (विशाला) के करोड़ों, बाजारों में (विक्री के लिये) सजाये गये शुद्ध, हारों के मध्य में गूँथे जाने वाले महारत्नों को, मोतियों की मालाओं को, शङ्खों और सीपियों को, घास के समान हरितवर्ण, अङ्कुरों के समान ऊपर उठती हुई किरणों से चमकती हुई मरकत मणियों को, मूँगों के टुकड़ों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो रत्नाकरों (सागरों) में केवल जल मात्र अवशिष्ट रह गया हो ॥ ३१ क ॥

इतः परं प्रक्षिप्तमपि श्लोकत्रयं व्याख्यायते—

सञ्जीवनी—हारानिति । यस्यां विशालायां **कोटिशो विपणिषु** पण्यवीथिकासु । 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः । **रचितान्** प्रसारितान् । इदं विशेषणं यथालिङ्गं सर्वत्र सम्बध्यते । **ताराञ्छुद्धान्** 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके' इति विश्वः । **तरलगुटिकान्** मध्यमणीभूतमहारत्नान् । 'तरलो हारमध्यगः' इत्यमरः । 'पिण्डे मणौ महारत्ने गुटिका बद्धपारदे' इति शब्दार्णवे । **हारान्** मुक्तावलीः । तथा **कोटिशः शङ्खांश्च शुक्तीश्च** मुक्तास्फोटांश्च । 'मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । **शष्पं** बालतृणं तद्वच्छ्यामान् । 'शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्' इत्यमरः । **उन्मयूखप्ररोहानुद्**गतरश्म्यङ्कुरान् **मरकतमणीन्** गारुडरत्नानि । तथा **विद्रुमाणां भङ्गान्** प्रवालखण्डांश्च **दृष्ट्वा सलिलनिधयः** समुद्रास्तोयमात्रमवशेषो येषां ते तादृशाः **संलक्ष्यन्ते** । तथानुमीयन्त इत्यर्थः । रत्नाकरादप्यतिरिच्यते रत्नसम्पद्भिरिति भावः ॥ ३१ क ॥

टिप्पणी—तोयमात्रावशेषाः—विशाला के बाजारों में रत्नों के समूहों को देख कर यही प्रतीत होता है कि सागर के सारे रत्न निकाल कर इस बाजार में

रख दिये गये हैं। अब सागरों में केवल जल ही जल बाकी रह गया है, रत्न नहीं ॥ ३१ क ॥

व्युत्पत्तिः— संलक्ष्यन्ते – सं+√लक्ष् + णिच् (कर्मणि) लट् + झ ॥३१ क॥

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥ ३१ ख ॥

वत्सराज ने हरण किया प्रद्योतकुमारी का इस ठाम,
उस राजा का स्वर्ण-तालवन यहीं अवस्थित था सुखधाम।
नलगिरि यही उखाड़ खंभ को हुआ दर्प से था उद्भ्रान्त,
यों कह करते आगत स्वजनों का रंजन अभिज्ञ जन कान्त।

अन्वयः—अत्र, वत्सराजः, प्रद्योतस्य, प्रियदुहितरम्, जह्रे; अत्र, तस्य, एव, राज्ञः, हैमम्, तालद्रुमवनम्, अभूत्; अत्र, नलगिरिः, दर्पात्, स्तम्भम्, उत्पाट्य, उद्भ्रान्तः, किल; इति, अभिज्ञः, जनः, आगन्तून्, बन्धून्, यत्र, रमयति ॥३१ ख॥

शब्दार्थः—अत्र = यहाँ, वत्सराजः = वत्सराज (उदयन) ने, प्रद्योतस्य = (महाराज) प्रद्योत की, प्रियदुहितरम् = प्रिय पुत्री (वासवदत्ता) का, जह्रे = हरण किया था; अत्र = यहाँ, तस्य = उस, एव = ही, राज्ञः = राजा का, हैमम् = स्वर्णमय, तालद्रुमवनम् = ताल वृक्षों का वन, अभूत् = था; अत्र = यहाँ, नलगिरिः = नलगिरि नामक हाथी, दर्पात् = अभिमान से, मद से, स्तम्भम् = खम्भे को, उत्पाट्य = उखाड़ कर, उद्भ्रान्तः = बिदक कर घूमता रहा; किल = ऐसी प्रसिद्धि है; इति = इस प्रकार. अभिज्ञः = (पुरानी कथाओं के) जानकार, जनः = व्यक्ति, आगन्तून् = बाहर से आये हुए, बन्धून् = बन्धुओं को, यत्र = जहाँ पर, रमयति = मनोरञ्जन करता है ॥ ३१ ख ॥

अर्थः—यहाँ वत्सराज (उदयन) ने (महाराज) प्रद्योत की प्रिय पुत्री (वासवदत्ता) का हरण किया था; यहाँ उसी राजा का सुनहला ताल वृक्षों का वन था; यहाँ नलगिरि नामक हाथी मद की विह्वलता के कारण खम्भे को उखाड़ कर

घूमता रहा; ऐसी प्रसिद्धि है। इस प्रकार (पुरानी कथाओं के) जानकार व्यक्ति बाहर से आये हुए बन्धुओं का जहाँ पर मनोरञ्जन करते हैं ॥ ३१ ख ॥

सञ्जीवनी—प्रद्योतस्येति । अत्र प्रदेशे वत्सराजो वत्सदेशाधीश्वरः उदयनः । प्रद्योतस्य नामोज्जयिनीनायकस्य राज्ञः प्रियदुहितरं वासवदत्तां जह्रे जहार । अत्र स्थले तस्यैव राज्ञः प्रद्योतस्य हैमं सौवर्णं तालद्रुमवनमभूत् । अत्र नलगिरिर्नामेन्द्रदत्तस्तदीयो गजो दर्पान्मदात्स्तम्भमालानमुत्पाट्योद्धृत्योद्भ्रान्त उत्पत्य भ्रमणं कृतवान् इतीत्थंभूताभिः कथाभिरित्यर्थः । अभिज्ञः पूर्वोक्तकथाभिज्ञः कोविदो जन आगन्तून् देशान्तरादागतान् । औणादिकस्तुन्प्रत्ययः । बन्धून् यत्र विशालायां रमयति विनोदयति । अत्र भाविकालङ्कारः । तदुक्तम्—'अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षत्वेन लक्षिते । अन्यद्भुतार्थकथनाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥' इति ॥ ३१ ख ॥

टिप्पणी—वत्सराजः—वत्सदेश के राजा का नाम था उदयन। इन्होंने उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का हरण किया था। प्रद्योत का ही दूसरा नाम था 'चण्डमहासेन' ॥ ३१ ख ॥

व्युत्पत्तिः—हैमम् —हेमन् + अण् + विभक्तिः । उत्पाट्य—उद् + √पट् णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । उद्भ्रान्तः—उद् + √भ्रम् + क्त (कर्तरि) । अभिज्ञः—अभि + √ज्ञा + कः + विभक्तिः ॥ ३१ ख ॥

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥ ३१ ग ॥

श्याम जहाँ के तुरग सूर्य के अश्वों से लेते हैं होड़,
जहाँ बरसते शैलोपम गज तुम-से ही मद-धारा छोड़।
रण में रावण से भी लोहा लेते वीराग्रणी समर्थ,
चन्द्रहास-व्रण-चिह्न जहाँ गहनों की द्युति को करते व्यर्थ ॥

अन्वयः—यत्र, वाहाः, पत्रश्यामाः, (तथा), दिनकरहयस्पर्धिनः, (सन्ति); शैलोदग्राः, करिणः, प्रभेदात्, त्वमिव, वृष्टिमन्तः, (सन्ति); योधाऽग्रण्यः,

संयुगे, प्रतिदशमुखम्, तस्थिवांसः, चन्द्रहासव्रणाङ्कैः, प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः, (सन्ति) ॥ ३१ ग ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस, उज्जयिनी में, वाहाः = घोड़े, पत्रश्यामाः = पत्तों के समान श्याम वर्ण वाले, (तथा = और), दिनकरहयस्पर्धिनः = सूर्य के घोड़ों के साथ स्पर्धा करने वाले, (सन्ति = हैं); शैलोदग्राः = पर्वत के समान ऊँचे, करिणः = हाथी; प्रभेदात् = मद वहाने के कारण, त्वमिव = तुम्हारी तरह, वृष्टिमन्तः = वर्षा करने वाले, (सन्ति = हैं); योधाग्रण्यः = योद्धा-शिरोमणि, संयुगे = युद्ध में, प्रतिदशमुखम् = रावण के विरुद्ध, रावण के सम्मुख, तस्थिवांसः = लड़कर, खड़े होकर, चन्द्रहासव्रणाङ्कैः = चन्द्रहास (रावण की तलवार) के घावों के चिह्नों से, प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः = आभूषण की रुचि का तिरस्कार करने वाले हैं ॥ ३१ ग ॥

अर्थः—जिस उज्जयिनी में घोड़े पत्तों के समान श्यामवर्ण वाले तथा सूर्य के घोड़ों के साथ स्पर्धा करने वाले (हैं), पर्वत के समान ऊँचे हाथी मद वहाने के कारण तुम्हारी तरह वर्षा करने वाले (हैं), योद्धा-शिरोमणि युद्ध में रावण के विरुद्ध लड़कर चन्द्रहास (रावण की तलवार) के घावों के चिह्नों से आभूषण की रुचि का तिरस्कार करने वाले हैं ॥ ३१ ग ॥

सञ्जीवनी—पत्रेति । हे जलद, यत्र विशालायां **वाहाः** हयाः **पत्रश्यामाः** पलाशवर्णा अतएव **दिनकरहयस्पर्धिनो** वर्णतो वेगतश्च सूर्याश्वकल्पास्तथा **शैलोदग्राः** शैलवदुन्नताः **करिणः प्रभेदा**न्मदस्रावाद्धेतोस्**त्वमिव वृष्टिमन्तः** । अग्रं नयन्तीत्यग्रण्यः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेः' इति वक्तव्याण्णत्वम् । **योधानामग्रगण्यो** भटश्रेष्ठाः **संयुगे प्रतिदशमुख**मभिरावणं **तस्थिवांसः** स्थितवन्तः । अत एव **चन्द्रहासस्य** रावणासेर्**व्रणाः** क्षतान्येवाङ्काश्चिह्नानि तैः । 'चन्द्रहासो रावणासावसिमात्रेऽपि च क्वचित्' इति शाश्वतः । **प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः** प्रतिषिद्धभूषणकान्तयः । शस्त्रप्रहारा एव वीराणां भूषणमिति भावः । अत्रापि भाविकालङ्कारः ॥ ३१ ग ॥

टिप्पणी—**चन्द्रहास०**—चंद्रहास रावण की तलवार का नाम था । मेघदूतकालीन उज्जयिनी के योद्धाओं के शरीर पर चंद्रहास के घावों के चिह्न का

वर्णन काल-क्रम का अतिपात है। ऐसी ही गड़बड़ी महाकवि ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में 'हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दायन्ते' (पृ० २१६, विश्वविद्यालय प्रकाशन) कह कर की है। किंतु कवि इतिहासकार नहीं होता है। वह तो कवि है, भावनाओं का कवि है, कल्पनाओं का कवि है।

(यह श्लोक उत्तरमेघ में भी आया है। देखिये श्लोक सं० १३) ॥ ३१ ग ॥

व्युत्पत्तिः—वाहाः—वहन्तीति वाहाः। वह् + घञ् + विभक्त्यादिः। स्पर्धिनः—√स्पर्ध् + णिनिः + विभक्तिः ॥ ३१ ग ॥

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथाः
लक्ष्मीं पश्यन् ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३२ ॥

जाली से निकले केशों के गन्ध धूप से पाकर सार,
गृह मयूर का नृत्य मान कर भाई-चारे का उपहार।
कुसुम-सुरभि जिनमें अंकित है रुचिर रमणियों का पदराग,
उसके उन भवनों की शोभा लखते मार्ग-खेद को त्याग ॥ ३२ ॥

अन्वयः—जालोद्गीर्णैः, केशसंस्कारधूपैः, उपचितवपुः, बन्धुप्रीत्या, भवनशिखिभिः, दत्तनृत्योपहारः, कुसुमसुरभिषु, ललितवनितापादरागाङ्कितेषु, हर्म्येषु, अस्याः, लक्ष्मीम्, पश्यन्, अध्वखेदम्, नयेथाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—जालोद्गीर्णैः = (खिड़कियों की) जालियों से निकलते हुए, केशसंस्कारधूपैः = (स्त्रियों के) केशों को सुगंधित करने वाले गंधद्रव्यों से, उपचितवपुः = परिपुष्ट शरीरवाले, बन्धुप्रीत्या = भाईचारे की प्रीति से, भवनशिखिभिः = प्रासादों के मयूरों द्वारा, दत्तनृत्योपहारः = दिये गये नृत्यरूपी उपहार वाले, कुसुमसुरभिषु = फूलों से सुवासित, ललितवनितापादरागाङ्कितेषु = सुंदरी नारियों के पैरों में लगाये गये महावर से चिह्नित, हर्म्येषु = प्रासादों में, अस्याः = इस उज्जयिनी की, लक्ष्मीम् = शोभा को, पश्यन् = देखते हुए, अध्वखेदम् = मार्ग की थकान को, नयेथाः = दूर करना ॥ ३२ ॥

अर्थः—(खिड़कियों की) जालियों से निकलते हुए (स्त्रियों के) केशों को सुगंधित करने वाले धूपादि सुगंधित द्रव्यों से परिपुष्ट शरीरवाले, भाईचारे की प्रीति से प्रासादों के मयूरों द्वारा दिये गये नृत्यरूपी उपहार वाले, फूलों से सुवासित, सुंदरी नारियों के पैरों में लगाये गये महावर से चिह्नित प्रासादों में इस उज्जयिनी की शोभा को देखते हुए (तुम) मार्ग की थकान को दूर करना।३२।

सञ्जीवनी—जालोद्‌गीर्णैरिति। **जालोद्‌गीर्णै**र्गवाक्षमार्गनिर्गतैः। 'जालं गवाक्ष आनाये जालके कपटे गणे' इति यादवः। **केशसंस्कारधूपैः**। वनिताकेश-वासनार्थैर्गन्धद्रव्यधूपैरित्यर्थः। अत्र संस्कारधूपयोस्तादर्थ्येऽपि यूपदार्वादिवत्प्रकृति-विकारत्वाभावादश्वघासादिवत्षष्ठीसमासो न चतुर्थीसमासः। **उपचितवपुः** परिपुष्ट-शरीरः। **बन्धौ** वन्धुरिति वा **प्रीत्या भवनशिखिभिर्गृ**हमयूरैर्दत्तो **नृत्यमयोपहार** उपायनं यस्मै स तथोक्तः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा।' इत्यमरः॥ **कुसुमैः सुरभिषु** सुगन्धिषु। **ललितवनिताः** सुन्दरस्त्रियः। 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इति शब्दार्णवे। तासां **पादरागेण** लाक्षारसेनाङ्कितेषु चिह्नितेषु हर्म्येषु धनिक-भवनेष्वस्या उज्जयिन्या **लक्ष्मीं पश्यन्नध्वगमनेन खेदं** क्लेशं **नयेथाः** अपनय।३२।

टिप्पणी—केशसंस्कारधूपैः—प्राचीन काल में भारत की नारियाँ स्नान के समय आमला आदि से केशों को धोकर अगुरु के धूप से उन्हें सुखाती थीं। ऐसा करने से केश काले; लंबे तथा चमकीले होते थे।

बन्धुप्रीत्या—गर्मी के कारण विह्वल मयूर मेघों के आने पर परम शांति तथा सुख का अनुभव करते हैं। मेघों को देखकर प्रसन्नता के मारे मयूर नाचते तथा कूकते हैं। मेघों तथा मयूरों के इसी पारस्परिक प्रेम को कवि बन्धुप्रीति कह रहा है। आज भी किसी प्रेमो के घर आने पर लोग नाच-गाना के उपहार से उसे संतुष्ट करते ही हैं अतः मयूर अपने नृत्यरूपी उपहार से मानो मेघ का सम्मान कर रहा हो॥ ३२॥

व्युत्पत्तिः – बन्धुप्रीत्या—बन्धु + √ प्री + क्तिन् + विभक्त्यादिः। **उप-हारः**—उप + √हृ + घञ् + वृद्ध्यादिः। **रागः**—√ रञ्ज + घञ् + विद्ध्या-दिः। **लक्ष्मीम्**—√लक्ष् + ई + मुट् + विभक्तिः॥ ३२॥

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥ ३३ ॥

प्रथम तुझे देखेंगे सादर निज स्वामी के कण्ठ समान,
त्रिभुवन-नायक महादेव के पुणधाम जाने की ठान ।
कमल-धूलिधर, जल-बिहार कर कामिनियों का सौरभ-चोर,
गन्धवती का पवन वहाँ के उपवन को देता झकझोर ॥ ३३ ॥

अन्वयः—भर्तुः, कण्ठच्छविः, इति, गणैः, सादरम्, वीक्ष्यमाणः, (त्वम्), कुवलयरजोगन्धिभिः, तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः, गन्धवत्याः, मरुद्भिः, धूतोद्यानम्, त्रिभुवनगुरोः, चण्डीश्वरस्य, पुण्यम्, धाम, यायाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—भर्तुः = स्वामी (शिव) के, कण्ठच्छविः = कंठ के समान कांति वाले हो, इति = इसीलिये, गणैः = (उनके) गणों के द्वारा, सादरम् = आदरपूर्वक, वीक्ष्यमाणः = देखे जाते हुए, (त्वम् = तुम), कुवलयरजोगन्धिभिः = कमलों के पराग की गन्ध से युक्त, तोय-क्रीडा-निरतयुवति-स्नान-तिक्तैः = जल-विहार में तल्लीन युवतियों के स्नान (करने के समय धुलने वाले चन्दन आदि) से सुगंधित, गन्धवत्याः = गंधवती नामक नदी की, मरुद्भिः = वायु से, धूतोद्यानम् = प्रकम्पित उद्यानवाले, त्रिभुवनगुरोः = त्रिलोकी के अधिपति, चण्डीश्वरस्य = पार्वती के पति (महाकाल नामक महादेव) के, धाम = स्थान को, यायाः = जाओ ॥ ३३ ॥

अर्थः—स्वामी (शिव) के कंठ के समान कांतिवाले हो, इसीलिए (उनके) गणों के द्वारा सादर देखे जाते हुए (तुम) कमलों के पराग की गन्ध से युक्त, जल-विहार में तल्लीन युवतियों के स्नान (करने के समय धुलने वाले चंदन आदि) से सुगंधित, गंधवती नामक नदी की वायु से प्रकम्पित उद्यान वाले, त्रिलोकी के अधिपति पार्वती-पति (महाकाल) के स्थान को जाना ॥ ३३ ॥

सञ्जीवनी—भर्तुरिति । भर्तुः स्वामिनो नीलकण्ठस्य भगवतः कण्ठस्येव छविर्यस्यासौ कण्ठच्छविरिति हेतोर्गणैः प्रमथैः । 'गणस्तु गणनायां स्याद् गणेशे प्रमथे

चये' इति शब्दार्णवे। सादरं यथा तथा वीक्ष्यमाणः सन्। प्रियवस्तुसादृश्यादतिप्रियत्वं भवेदिति भावः। त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्। 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः। तस्य गुरोस्त्रैलोक्यनाथस्य चण्डीश्वरस्य कात्यायनीवल्लभस्य पुण्यं पावनं धाम महाकालाख्यं स्थानं यायाः गच्छेः। विध्यर्थे लिङ्। श्रेयस्करत्वात्सर्वथा यातव्यमिति भावः। उक्तं च स्कान्दे 'आकाशे तारकं लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम्। मर्त्यलोके महाकालं दृष्ट्वा काममवाप्नुयात्।' इति न केवलं मुक्तिस्थानमिदं किन्तु विलासस्थानमपीत्याह—धूतेति। कुवलयरजोगन्धिभिरुत्पलपरागगन्धवद्भिस्तोयक्रीडासु निरतानामासक्तानां युवतीनां स्नानं स्नानीयं चन्दनादि। करणे ल्युट्। 'स्नानीयेऽभिषवे स्नानम्' इति यादवः। तेन तिक्तैः सुरभिभिः। 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभे च प्रकीर्तिताः' इति हलायुधः। सौगन्ध्यातिशयार्थं विशेषणद्वयम्। गन्धवत्या नाम नद्यास्तत्रत्याया मरुद्भिर्धूतोद्यानं कम्पिताक्रीडमिति धाम्नो विशेषणम्॥ ३३॥

टिप्पणी—कण्ठच्छविः—समुद्र-मन्थन चल रहा था। उससे सर्वप्रथम विष निकला। त्रिलोकी उससे दग्ध हो रही थी। भगवान् शंकर ने दया कर उसे कंठ में रख लिया। अतः कंठ श्याम हो गया। इसी से उन्हें नीलकण्ठ भी कहते हैं। मेघ का रंग भी उसी तरह है। अतः शंकर के गण मेघ को आदरपूर्वक देखने लगेंगे।

गन्धवत्याः—गंधवती एक छोटी सी नदी है। यह मालव प्रांत में उज्जयिनी के पास बहती है॥ ३३॥

व्युत्पत्तिः—वीक्ष्यमाणः—वि + √ईक्ष् + शानच् + विभक्तिः। **गन्धवत्याः**—गन्ध + मतुप् + ङीप् + विभक्तिः॥ ३३॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ ३४॥

चाहे जलधर! अन्य समय भी पहुँचो महाकाल के धाम,
किन्तु ठहरना वहीं, न जब तक दिननायक ले लें विश्राम।

तव प्रदोष की पशुपति-पूजा में देना डंके का काम,
अपने मन्द-मन्द गर्जन का फल पाकर रख लेना नाम ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे जलधर, महाकालम्, अन्यस्मिन्, अपि, काले, आसाद्य, यावत्, भानुः, नयनविषयम्, अत्येति, (तावत्), ते, स्थातव्यम्, श्लाघनीयाम्, शूलिनः, सन्ध्यावलिपटहताम्, कुर्वन्, आमन्द्राणाम्, गर्जितानाम्, अविकलम्, फलम्, लप्स्यसे ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—हे जलधर = हे पयोद, महाकालम् = महाकाल के मंदिर को अथवा महाकाल नामक महादेव को, अन्यस्मिन् = दूसरे, अपि = भी, काले = समय में, आसाद्य = पाकर, पहुँच कर, यावत् = जब तक, भानुः = सूर्य, नयन-विषयम् = नयन-गोचरभाव से, अत्येति = ओझल हो जाता है, (तावत् = तब तक), ते = तुम्हें, स्थातव्यम् = ठहरना चाहिए, श्लाघनीयाम् = प्रशंसनीय, शूलिनः = महादेव के, सन्ध्यावलिपटहताम् = सायंकालीन पूजा में नगाड़े के काम को, कुर्वन् = करते हुए, आमन्द्राणाम् = कुछ गम्भीर, गर्जितानाम् = गर्जनों के, अविकलम् =अखंड, फलम् = फल को, लप्स्यसे = प्राप्त कर लोगे ॥ ३४ ॥

अर्थः—हे पयोद, महाकाल के मंदिर को (संध्या के अतिरिक्त) दूसरे भी समय में प्राप्त कर जब तक सूर्य अस्त नहीं हो जाते तब तक तुम्हें (वहाँ) ठहरना चाहिए। वहाँ तुम महादेव की सायंकालीन पूजा में प्रशंसनीय नगाड़े के काम को करते हुए कुछ गंभीर गर्जनों को अखंड रूप से सफल बना लोगे ॥ ३४ ॥

सञ्जीवनी—अपीति । युग्मम् । हे जलधर ! महाकालं नाम पूर्वोक्तं चण्डी-श्वरस्थानमन्यस्मिन् सन्ध्यातिरिक्तेऽपि काले आसाद्य प्राप्य ते तव स्थातव्यम् । त्वया स्थातव्यमित्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । यावद्यावता कालेन भानुः सूर्यो नयनविषयं दृष्टिपथमत्येत्यतिक्रामति । अस्तमयकालपर्यन्तं स्थातव्य-मित्यर्थः । यावदित्येतदवधारणार्थे । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः । किमर्थमत आह—कुर्वन्निति । श्लाघनीयां प्रशस्यां शूलिनः शिवस्य संध्यायां बलिः पूजा तत्र पटहतां कुर्वन् संपादयन्नामन्द्राणामीषद्गम्भीराणां गर्जितानामविकलमखण्डं फलं लप्स्यसे प्राप्स्यसि । लभेः कर्तरि लृट् । महाकाल-नाथबलिपटहत्वेन विनियोगात्ते गर्जितसाफल्यं स्यादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

टिप्पणीः—महाकालम्—उज्जयिनी में महाकाल नाम का एक तीर्थ है। वहाँ शिवजी का एक विशाल लिंग भी है। इसे महाकालेश्वर या महाकाल कहते हैं। यह लिंग द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में अन्यतम है। तुलना कीजिये—'असौ महाकाल निकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।" रघुवंश ६ ॥ ३४ ॥

सन्ध्याबलिपटहताम्—महाकाल की पूजा के समय तुम मंद-मंद गर्जन करना। तुम्हारा यह गर्जन पूजा के नगाड़े का काम करेगा, यह कवि की कल्पना है ॥ ३४ ॥

व्युत्पत्तिः—आसाद्य—आ + √सद् + क्त्वा (ल्यप्)। स्थातव्यम्—√स्था + तव्यत्। 'स्थातव्यं ते' यहाँ 'कृत्यानां कर्तरि वा' इस सूत्र से षष्ठी हुई है। षष्ठी के वैकल्पिक होने से एक पक्ष में तृतीया भी होती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि युष्मद् और अस्मद् शब्द के 'ते' 'मे' आदि आदेश वाक्य के आदि में प्रयुक्त नहीं होते हैं। सन्ध्या०—सम् + √ध्यै + अङ् + टाप् + विभक्त्यादिः ॥ ३४ ॥

पादन्यासैः क्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून्
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ॥ ३५ ॥

जिनकी कटि-किंकिणियाँ बजतीं पग पग पर सुस्वर के साथ,
रत्न कान्ति-मण्डित दण्डों के चामर डुलते जिनके हाथ।
नर्त्तकियाँ वे नखरेखों पर पड़ी सुखद बूँदों से प्रीत,
भ्रमर-पाँत सी बाँकी चितवन तुझ पर मोडेंगी, हे मीत ! ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तत्र, पादन्यासैः, क्वणितरसनाः, लीलावधूतैः, रत्नच्छायाखचितबलिभिः, चामरैः, क्लान्तहस्ताः, वेश्याः, त्वत्तः, नखपदसुखान्, वर्षाग्रबिन्दून्, प्राप्य, त्वयि, मधुकरश्रेणिदीर्घान्, कटाक्षान्, आमोक्ष्यन्ते ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ (संध्याकाल में), पादन्यासैः = पैरों की गति के साथ, क्वणितरसनाः = बजती हुई कटि मेखलाओं वाली, लीलावधूतैः =

विलासपूर्वक डुलाये जा रहे, रत्न-च्छाया-खचित-वलिभिः = (कङ्कणों के) रत्नों की कान्ति से मण्डित दण्ड वाले, चामरैः = चामरों से, क्लान्तहस्ताः = थके हुए हाथों वाली, वेश्याः = वेश्याएँ, त्वत्तः = तुमसे, नखपदसुखान् = नख-क्षतों पर सुखदायक, वर्षाग्रविन्दून् = वर्षा की प्रथम बूँदों को, प्राप्य = प्राप्त कर, पाकर, त्वयि = तुम्हारे ऊपर, मधुकर-श्रेणिदीर्घान् = भ्रमर-पाँत-सी लम्बी, कटाक्षान् = चितवनें, आमोक्ष्यन्ते = फेकेंगी, डालेंगी ॥ ३५ ॥

अर्थः—वहाँ (सन्ध्याकाल में,) पैरों की गति के साथ वजती हुई कटि-मेखलाओं वाली तथा विलासपूर्वक डुलाये जा रहे, (कङ्कणों के) रत्नों की कान्ति से मण्डित दण्डवाले चामरों से श्रान्त हाथों वाली वेश्याएँ तुमसे नख-क्षतों पर सुखदायक वर्षा की प्रथम बूँदों को पाकर तुम्हारे ऊपर भ्रमर-पाँतसी लम्बी चितवनें डालेंगी ॥ ३५ ॥

सञ्जीवनी—**पादन्यासैरिति**। तत्र सन्ध्याकाले **पादन्यासै**श्चरणनिक्षेपैर्नृत्याङ्गैः **क्वणिताः** शब्दायमाना **रसना** यासां तास्तथोक्ताः। क्वणतेरकर्मकत्वात् 'गत्यर्था-कर्मक—' इत्यादिना कर्तरि क्तः। **लीलया** विलासेनावधूतैः कम्पितै **रत्नानां** कङ्कणमणीनां **छायया** कान्त्या **खचिता** रूषिता **वलय**श्चामरदण्डा येषां तैः 'वलि-श्चामरदण्डे च जराविश्लथचर्मणि' इति विश्वः। **चामरै**र्वालव्यजनैः **क्लान्त-हस्ताः**। दैशिकं नृत्यं सूचितम्। तदुक्तं नृत्यसर्वस्वे—खड्गकन्दुकवस्त्रादिदण्डिका-चामरस्रजः। वीणां च धृत्वा यत्कुर्युर्नृत्यं तद्दैशिकं भवेत् ॥' इति। **वेश्या** महा-कालनाथमुपेत्य नृत्यन्त्यो गणिकास्**त्वत्तो नखपदेषु सुखान्** सुखकरान्। 'सुखहेतौ सुखे सुखम्" इति शब्दार्णवे। **वर्षस्याग्रबिन्दून्** प्रथमविन्दून् **प्राप्य त्वयि मधुकर-श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान**पाङ्गाना**मोक्ष्यन्ते**। 'परैरुपकृताः सन्तः सद्यः प्रत्युपकुर्वते' इति भावः। कामिनीदर्शनीयत्वलक्षणं शिवोपासनाफलं सद्यो लप्स्यस इति ध्वनिः ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—**वेश्याः**—प्राचीन काल में मन्दिरों की आरती आदि के समय वेश्याएँ धवल चामर डुलाया करती थीं। चामर चमरी मृग की पूँछों के बालों से बनते हैं। ये बाल पवित्र और सुन्दर होते हैं।

नखपदसुखान्—वेश्याएँ अपने प्रेमियों के साथ छक कर रमण करती हैं। प्राचीन समय में प्रेमीजन प्रेमिकाओं के स्तनों तथा गालों आदि पर अपने नाखूनों से निशान बना देते थे। काम को उद्दीप्त करने का यह एक प्रकार था। वर्षा की बूँदें इन नख-क्षतों पर बड़ी सुखद प्रतीत होतीं हैं ॥ ३५ ॥

व्युत्पत्तिः—०न्यासैः—नि + √अस् + घञ् + विभक्त्यादिः। क्वणित०—√क्वण् + क्त + विभक्त्यादिः। ०खचित—√खच् + क्त कर्मणि + विभक्त्यादिः ॥ ३५ ॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः ॥ ३६ ॥

अभिनव जपाकुसुम की लाली धारण करना सायंकाल,
शिव के उच्च बाहु-तरु-वन पर अपना मण्डल देना डाल।
जिससे वे न नाच में लेना चाहें गज की गीली खाल,
और शान्त हो शिवा एकटक लखें भक्ति तेरी तत्काल ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पश्चात्, नृत्यारम्भे, प्रतिनवजपापुष्परक्तम्, सान्ध्यम्, तेजः, दधानः, उच्चैः, भुजतरुवनम्, मण्डलेन, अभिलीनः, भवान्याः, शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम्, दृष्टभक्तिः, (त्वम्), पशुपतेः, आर्द्रनागाजिनेच्छाम्, हर ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—पश्चात् = सायंकालीन पूजा के अनन्तर, नृत्यारम्भे = (ताण्डव) नृत्य के आरम्भ में, प्रतिनवजपापुष्परक्तम् = नवीन जपाकुसुम के समान लाल, सान्ध्यम् = सायंकालीन, तेजः = तेज को, दधानः = धारण करते हुए, उच्चैः = ऊंचे, भुजतरुवनम् = बाहुरूपी वन पर, मण्डलेन = गोलाकार रूप से, अभिलीनः = बैठ कर, भवान्याः = पार्वती के द्वारा, शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम् = शान्त मनवाले एवं निश्चल नेत्रों से, दृष्टभक्तिः = भक्ति दिखाने वाले, भक्ति प्रकट करने वाले (त्वम् = तुम), पशुपतेः = शङ्कर की, आर्द्रनागाजिनेच्छाम् = हाथी के गीले चर्म (ओढ़ने की) इच्छा को, हर = दूर करना, पूरी करना ॥ ३६ ॥

अर्थः— सायंकालीन पूजा के अनन्तर (ताण्डव) नृत्य के आरम्भ में, नवीन जपा-कुसुम के समान लाल सायंकालीन तेज को धारण करते हुए (तुम शिवजी के) ऊँचे बाहुरूपी वन पर मण्डलाकार बैठ कर, पार्वती के द्वारा शान्त भयवाले निश्चल नेत्रों से देखी गयी भक्ति वाले (तुम) शङ्कर की हाथी के गीले चर्म (ओढ़ने) की इच्छा को पूरी करना ॥ ३६ ॥

सञ्जीवनी। पश्चादिति। पश्चात्सन्ध्याबल्यनन्तरं पशुपतेः शिवस्य नृत्यारम्भे ताण्डवप्रारम्भे प्रतिनवजपापुष्परक्तं प्रत्यग्रजपाकुसुमारुणं संध्यायां भवं सान्ध्यं तेजो दधानः। उच्चैरुन्नतं भुजा एव तरवस्तेषां वनं मण्डलेन मण्डलाकारेणाभिलीनोऽभिव्याप्तः सन्। कर्तरि क्तः। भवान्या भवपत्न्याः। 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' इति ङीप्, आनुगागमश्च। शान्त उद्वेगो गजाजिनदर्शनभयं ययोस्ते अत एव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन्कर्मणि तत्तथोक्तम्। 'उद्वेगस्त्वरिते क्लेशे भये मन्थरगामिनि' इति शब्दार्णवे। भक्तिः पूज्येष्वनुरागः। भावार्थे क्तिन्प्रत्ययः। दृष्टा भक्तिर्यस्य स दृष्टभक्तिः सन्। पशुपतेरार्द्रं शोणितार्द्रं यदजिनं गजचर्म। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। तत्रेच्छां हर निवर्तयेः। त्वमेव तत्स्थाने भवेत्यर्थः। गजासुरमर्दनानन्तरं भगवान्महादेवस्तदीयमार्द्राजिनं भुजमण्डलेन बिभ्रत्ताण्डवं चकारेति प्रसिद्धिः। दृष्टभक्तिरिति कथं रूपसिद्धिः। दृष्टशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावस्य दुर्घटत्वादपूरणीप्रियादिष्विति निषेधात्। भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठादिति। तदेतच्चोद्यम् दृढाभक्तिरिति शब्दमाश्रित्य प्रतिविहितं गणव्याख्याने दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकं पूर्वपदम्। अदाढर्यनिवृत्तिपरत्वे दृढशब्दाल्लिङ्गविशेषस्यानुपकारित्वात्स्त्रीत्वमविवक्षितमिति। भोजराजस्तु—'भक्तौ च कर्मसाधनायामित्यनेन सूत्रेण भज्यते भव्यत इति कर्मार्थत्वे भवानीभक्तिरित्यादि भवति। भावसाधनायां तु स्थिरभक्तिर्भवान्यामित्यादि भवति' इत्याह। तदेतत्सर्वं सम्यग्विवेचितं रघुवंशसञ्जीविन्यां 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठ' इत्यत्र। तस्माद् दृष्टभक्तिरित्यत्रापि मतभेदेन पूर्वपदस्य स्त्रीत्वेन नपुंसकत्वेन च रूपसिद्धिरस्तीति स्थितम्॥ ३६॥

टिप्पणी—पशुपतेः—पशुपति भगवान् शङ्कर का एक नाम है। शैवदर्शन में पदार्थ के तीन भेद हैं—पशु, पाश, और पति। अविद्यारूपी पाश (बन्धन)

से बद्ध जीवात्मा को 'पशु', पाश के समान बन्धन करने के कारण अविद्या को 'पाश' तथा अविद्यापाश से मुक्त शिव को 'पति' कहते हैं।

आर्द्रनागाजिनेच्छाम्—गज-रूप-धारी असुर गजासुर को मार कर शङ्कर जी ने रक्त से भीगी उसकी खाल को अपनी ऊँची भुजाओं पर उठा कर ताण्डव नृत्य किया था। उस समय पार्वती ने अत्यन्त भयभीत नेत्रों से इस दृश्य को देखा था। यक्ष मेघ से कह रहा है कि सायंकाल की लाली से युक्त तुम शङ्कर जी के ताण्डव नृत्य के समय उनकी भुजमण्डली पर बैठ जाना। उस समय तुम्हारी शोभा गजासुर की खाल जैसी होगी। नृत्य के समय गजचर्म धारण करने की शिवजी की इच्छा भी पूरी हो जाएगी और पार्वती भी निरुद्विग्न होकर निश्चल दृष्टि से इस दृश्य को देखेंगी ॥ ३६ ॥

व्युत्पत्तिः—**अभिलीनः**—अभि + √ली + त (न) कर्तरि + विभक्तिः। **सान्ध्यम्**—सन्ध्या + अण् + विभक्त्यादिः । **दधानः**—√धा + शानच् + विभक्तिः। **भवान्याः**—भव + आनुक् + ङीष् + विभक्तिः ॥ ३६ ॥

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां यत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ ३७ ॥

वहाँ रात को नहीं सूझती घनी अँधेरी में जब राह,
तभी रमणियाँ जाती होंगी रमणों के घर भरी उछाह।
कनक-कसौटी की रेखा सी बिजुली से दिखलाना बाट,
डरी नारियों को न डराना, बरस या कि दे गर्जन-डाँट ॥ ३७ ॥

अन्वयः—तत्र, नक्तम्, रमणवसतिम्, गच्छन्तीनाम्, योषिताम्, सूचिभेद्यैः, तमोभिः, रुद्धालोके, नरपतिपथे, कनकनिकषस्निग्धया, सौदामन्या, उर्वीम्, दर्शय; (तदा), तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः, मास्म भूः, (यतः), ताः, विक्लवाः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ उज्जयिनी में, नक्तम् = रात्रि के समय, रमणवसतिम् = प्रियतम के घर, गच्छन्तीनाम् = जाती हुई, योषिताम् = स्त्रियों के,

सूचिभेद्यैः = अत्यंत गाढ़े, तमोभिः = अंधकार के कारण, रुद्धालोके = दिखलायी न पड़ने वाले, नरपतिपथे = राजमार्ग पर, कनकनिकषस्निग्धया = कसौटी पर स्वर्ण-रेखा की तरह चमकनेवाली, सौदामन्या = बिजली से, उर्वीम् = भूतल को, दर्शय = दिखलाना; (तदा = उस समय), तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः = जल-वृष्टि और गर्जन से शब्दायमान, मा स्म भूः = मत होना, (यतः = क्योंकि), ताः = वे, विक्लवाः = भीरु होती हैं ॥ ३७ ॥

अर्थः—वहाँ उज्जयिनी में रात्रि के समय अत्यन्त गाढ़े अन्धकार के कारण न दिखलाई पड़ने वाले राजमार्ग पर प्रियतम के घर जाती हुई स्त्रियों के लिए (तुम कसौटी पर खींची गयी) सुवर्ण रेखा की तरह चमकने वाली विजली से भूतल को प्रकाशित कर देना । वे प्रकृत्या भीरु होती हैं, अतः (उस समय तुम) वर्षा और गर्जन से मुखरित न होना (शांत वातावरण में अशांति मत उत्पन्न करना) ॥ ३७ ॥

सञ्जीवनी—इत्थं महाकालनाथस्य सेवाप्रकारमभिधाय पुनरपि नगरसंचार-प्रकारमाह—**गच्छन्तीनामिति** । **तत्रो**ज्जयिन्यां **नक्तं** रात्रौ **रमणवसतिं** प्रियभवनं प्रति **गच्छन्तीनां योषिताम्** । अभिसारिकाणामित्यर्थः । **सूचिभिद्यैः** अतिसान्द्रै-रित्यर्थः । **तमोभी रुद्धालोके** रुद्धदृष्टिप्रसारे **नरपतिपथे** राजमार्गे **कनकस्य निकषो** निकष्यत इति व्युत्पत्त्या निकष उपलगतरेखा तस्येव **स्निग्धं** तेजो यस्यास्तया । 'स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे रम्ये क्लीबे च तेजसि' इति शब्दार्णवे । सुदाम्नाद्रिणैकदि-**क्सौदामनी** विद्युत् । तेनैकदिक्' इत्यण्प्रत्ययः । **तयोर्वीं** मार्गं **दर्शय** । किं च **तोयोत्सर्गस्तनिताभ्यां** वृष्टिगर्जिताभ्यां **मुखरः** शब्दायमानो **मा स्म भूः** । कुतः । **ता** योषितो **विक्लवा** भीरवः । ततो वृष्टिगर्जिते न कार्ये इत्यर्थः । नात्र तोयो-त्सर्गसहितं स्तनितमिति विग्रहः । विशिष्टस्येव केवलस्तनितस्याप्यनिष्टत्वात् । न च द्वन्द्वपक्षेऽल्पाच्तरपूर्वनिपातशास्त्रविरोधः । 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति सूत्र एव विपरीतनिर्देशेन पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वज्ञापनादिति ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—गच्छन्तीनाम्—जो रमणियाँ रात के अंधेरे में अपने प्रियतम से मिलने के लिए उनके घर अथवा किसी खास संकेत-स्थल पर जाती हैं, उन्हें अभिसारिका कहा गया है ।

सूचिभेद्यैः—जब धागे में गाँठ पड़ जाती है, तब उसे लोग सूई की नोक से खोलते हैं। इससे गाँठ की सूक्ष्मता और घनिष्ठता सूचित होती है। अतः कवि ने अंधकार की अति सघनता को सूचित करने के लिए उसे सूचिभेद्य बतलाया है ॥ ३७ ॥

व्युत्पत्तिः—गच्छन्तीनाम्—√गम् + लट् (शतृ) + ङीप् + विभक्त्यादिः। नक्तम्—यह अव्यय पद है। सूचिभेद्यैः—सूचि + √भिद् + ण्यत् + विभक्त्यादिः। ०स्तनित०—स्तन् + क्तः + विभक्त्यादिः ॥ ३७ ॥

तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ३८ ॥

ऐसी छत पर जहाँ कबूतर करते हों निधड़क आराम,
अतिविलास से थकी चंचला प्यारी को देना विश्राम।
शेषमार्ग पूरा कर देना रात बिता कर अरुण निहार,
कहीं देर करता क्या कोई मित्र-कार्य का लेकर भार ? ॥ ३८ ॥

अन्वयः—चिरविलसनात्, खिन्नविद्युत्कलत्रः, भवान्, सुप्तपारावतायाम्, कस्यांचित्, भवनवलभौ, ताम्, रात्रिम्, नीत्वा, सूर्ये, दृष्टे (सति) पुनरपि, अध्वशेषम्, वाहयेत्; (तथा हि), सुहृदाम्, अभ्युपेतार्थकृत्याः, खलु, न, मन्दायन्ते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थः—चिरविलसनात् = बहुत देर तक चमकते रहने के कारण, बहुत देर तक रमण-क्रिया में हार्दिक सहयोग करते रहने के कारण, खिन्नविद्युत्कलत्रः = थकी हुई बिजली—रूपी पत्नीवाले; भवान् = आप, तुम, सुप्तपारावतायाम् = सोये हुए कबूतरों से युक्त, कस्यांचित् = किसी, भवनवलभौ = महल की छत पर, ताम् = उस, रात्रिम् = रात को, नीत्वा = बिता कर, सूर्ये = सूर्य के, दृष्टे (सति) = दिखलायी पड़ने पर, निकलने पर, पुनरपि = पुनः, अध्वशेषम् = शेष मार्ग को, वाहयेत् = पार करना, (तथा हि = क्योंकि), सुहृदाम् = मित्रों

के, अभ्युपेतार्थकृत्याः = कार्य को प्रारंभ कर देने वाले व्यक्ति, खलु = निश्चय ही, न = नहीं, मन्दायन्ते = ढीले पड़ते हैं ॥ ३८ ॥

अर्थः—बहुत देर तक चमकते रहने के कारण थकी हुई बिजली जैसी पत्नी वाले आप सोये हुए कबूतरों से युक्त किसी प्रासाद की छत पर उस रात को बिता कर सूर्य के दिखलायी पड़ने पर पुनः शेष मार्ग को पार करना, (क्योंकि) मित्रों के कार्य को प्रारंभ कर देने वाले व्यक्ति निश्चय ही बीच में ढीले नहीं पड़ते ॥ ३८ ॥

सञ्जीवनी—तामिति । **चिरं विलसनात्** स्फुरणात् **खिन्नं विद्युदेव कलत्रं** यस्य स **भवान् सुप्ताः पारावताः** कलरवा यस्यां तस्याम् । विविक्तायामित्यर्थः । 'पारावतः कलरवः कपोतः इत्यमरः । जनसञ्चारस्तत्रासंभावित एवेतिभावः । **कस्याञ्चिद् भवनवलभौ** । गृहाच्छादनोपरिभाग इत्यर्थः । 'आच्छादनं स्याद्वलभी गृहाणाम्' इति हलायुधः । **तां रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे** सति उदिते सतीत्यर्थः । **पुनरप्यध्वशेषं वाहयेत्** । तथाहि । **सुहृदां** मित्राणाम**भ्युपेता**ङ्गीकृतार्थस्य प्रयोजनस्य **कृत्या** क्रिया यैस्ते । अभ्युपेतसुहृदर्था इत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । 'कृत्या क्रियादेवतयो कार्ये स्त्री कुपिते त्रिपु' इति यादवः । 'कृञः श च' इति चकारात्क्यप् । **न मन्दायन्ते खलु** न मन्दा भवन्ति हि । न विलम्बन्त इत्यर्थः । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति वा क्यप् । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—**भवनवलभौ**–प्रासाद की छत का सब से ऊपरी हिस्सा 'वलभि' कहलाता है ।

चिरविलसनात्—इसका सही अभिप्राय यह है—'बहुत देर तक रमण-क्रिया में हार्दिक सहयोग करते रहने के कारण ।' बिजली को मेघ की पत्नी कहा है । जिस प्रकार पत्नी प्रियतम की गोद में इधर से उधर लोटती-पोटती है । प्रियतम की काम-क्रीडा को बढ़ा कर उसमें सहयोग करती है । फिर श्रांत हो सो जाती है । उसी प्रकार बिजली भी तुम्हारे साथ रति–क्रीडा करके श्रांत हो जायेगी । उस अवस्था में तुम उसे विश्राम दे देना ।

अभ्युपेतार्थकृत्याः—भर्तृहरि ने भी कुछ इसी भाव का श्लोक लिखा है—'प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति' ॥ ३८ ॥

व्युत्पत्तिः—०विलसनात्—वि + √लस् + ल्युट् + विभक्त्यादिः। नीत्वा-√नी + क्त्वा। दृष्टे—√दृश् + क्तः + विभक्तिः। मन्दायन्ते—मन्द + क्यष् + लट् (झ) + विभक्तिकार्यम् ॥ ३८ ॥

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलवदनात् सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ ३९ ॥

आँसू पोंछ मनाते आकर रमण खण्डिताओं के पास—
बड़े भोर ही, इससे रवि का पथ तज कर तू लेना साँस।
नलिनी के हिमाश्रु को वह भी कमल-वदन से करने दूर—
लौटा, कर रुकने से तुझ पर अधिक क्रोध में होगा चूर ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तस्मिन्, काले, प्रणयिभिः, खण्डितानाम्, योषिताम्, नयनसलिलम्, शान्तिम्, नेयम्, अतः, भानोः, वर्त्म, आशु, त्यज। सः, अपि, नलिन्याः, कमलवदनात्, प्रालेयास्त्रम्, हर्तुम्, प्रत्यावृत्तः, (भविष्यति, तदा), त्वयि, कररुधि, अनल्पाभ्यसूयः, स्यात् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—तस्मिन् = उस, काले = समय में, प्रणयिभिः = प्रणयी जनों के द्वारा, खण्डितानाम् = खंडिता, विश्वासघात किये जाने के कारण ईर्ष्या से जली-भुनी, योषिताम् = स्त्रियों के, नायिकाओं के, नयनसलिलम् = आँसुओं को, शान्तिम् = शमन को, नेयम् = प्राप्त करना होता है; अतः = इसलिए, भानोः = सूर्य के, वर्त्म = मार्ग को, आशु = शीघ्र, त्यज = छोड़ देना। सः = वह सूर्य, अपि = भी, नलिन्याः = कमलिनी के, कमलवदनात् = कमलरूपी मुख पर से, प्रालेयास्त्रम् = ओसरूपी आँसुओं को; हर्तुम् = हटाने के लिए, पोंछने के लिए, प्रत्यावृत्तः = वापस, (भविष्यति = होंगे, तदा = उस समय), त्वयि = तुम्हारे, कररुधि = किरणों के रोकने पर, अनल्पाभ्यसूयः = अत्यधिक ईर्ष्यालु, अत्यंत क्रुद्ध, स्यात् = होंगे ॥ ३९ ॥

अर्थः—उस समय (अर्थात् सूर्योदय के समय) प्रणयी जनों के द्वारा खंडिता नायिकाओं के आँसुओं को शांत करना चाहिए। अतः (तुम) सूर्य के मार्ग को

शीघ्र छोड़ देना । वह (सूर्य) भी कमलिनी के कमलरूपी मुख पर से ओसरूपी आँसुओं को पोंछने के लिए वापस (होगा, उस समय) वह तुम्हारे द्वारा किरणों के रोकने पर अत्यन्त क्रुद्ध होगा ॥ ३९ ॥

संजीवनी—तस्मिन्निति । तस्मिन् काले पूर्वोक्ते सूर्योदयकाले **प्रणयिभिः** प्रियतमैः **खण्डितानां योषितां** नायिकाविशेषाणाम् । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके । **नयनसलिलं शान्तिं नेयं** नेतव्यम् । नयतिर्द्विकर्मकः । **अतो** हेतो**र्भानोर्वर्त्माशु** शीघ्रं **त्यज** । तस्यावरको मा भूरित्यर्थः । विपक्षेऽनिष्टमाचष्टे—**सोऽपि भानुः** नलान्यम्बुजानि यस्याः सन्तीति **नलिनी** पद्मिनी । 'तृणेऽम्वुजे नलं ना तु राज्ञि नाले तु न स्त्रियाम्' इति शब्दार्णवे । तस्याः स्वकान्तायाः **कमलं** स्वकुसुममेव **वदनं** तस्मात्**प्रालेयं** हिममेवा**स्रमश्रु' हर्तुं** शमयितुं **प्रत्यावृत्तः** प्रत्यागतः । नलिन्याश्च भर्तुर्भानोर्देशान्तरे नलिन्यन्तरगमनात्खण्डितात्वमित्याशयः । ततस्त्वयि । करानंशून् रुणद्धीति करुत् । क्विप् । तस्मिन् **कररुधि** सति । हस्तरोधिनि सतीति च गम्यते । 'वलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । **अनल्पाभ्यसूयोऽधिकविद्वेषः स्यात्** । प्रायेणेच्छाविशेषविघाताद् द्वेषो रोषविशेषश्च कामिनां भवतीति भावः । किं च 'आत्मानं चार्कमीशानं विष्णुं वा द्वेष्टि यो जनः । श्रेयांसि तस्य नश्यन्ति रौरवं च भवेद् ध्रुवम् ।' इति निषेधात्कार्यहानिर्भविष्यतीति ध्वनिः ॥ ३९ ॥

टिप्पणीः—खण्डितानाम्—दशरूपककार ने खंडिता नायिका की परिभाषा इस प्रकार दी है—'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥' २ । २५ ॥ अर्थात् (प्रियतम को) अन्य स्त्री के सहवास से विकृत (चिह्नित) देख कर जो ईर्ष्या से क्रुद्ध हो उठती है, वह खंडिता नायिका है । प्रियतम के लिए पत्नी शृंगार करके बैठी थी । पर नायक किसी अन्य प्रेमिका के साथ रात भर क्रीड़ा करके प्रातः घर आया है । उसके गालों पर सिंदूर, ओठों पर लाली तथा काजल लगा है । उसकी यह दशा देख कर नायिका जल-भुन उठती है । फिर पैरों पर पड़-पड़ कर नायक नायिका को मनाता है । इसी बात की ओर यहाँ संकेत किया गया है । यह सुकर्म प्रातःकाल ही किया जाता है ।

अनल्पाभ्यसूयः—कामुक क्रियाओं में विघ्न डालने वाले को जानवर भी नही पसंद करते हैं। सूर्य रात भर कहीं अन्यत्र था। सुबह जब आया तो उसका चेहरा सिंदूर से लाल था। अतः उसकी प्रिया कमलिनी रो पड़ी। सूर्य ने उसके आँसुओं को पोंछने के लिए कर (किरण) बढ़ाया है। अब यदि बादल उसके कर को रोक देता है, तो वह अत्यंत क्रुद्ध हो जायगा। शास्त्रों ने देव-क्रोध को अनिष्टकर बतलाया है। यही है यहाँ का अभिप्राय ॥ ३९ ॥

व्युत्पत्तिः—**प्रणयिभिः**—प्रणय + इनिः + विभक्तिः। **खण्डितानाम्**—खण्ड + क्त + विभक्तिः। **शान्तिम्**—√शम् + क्तिन् + विभक्तिः। **नेयम्**—√नी + यत् + विभक्तिः। **प्रालेयः**—प्रलीयन्ते पदार्थाः अस्मिन्निति प्रलयः = हिमालयः। तत आगतः प्रलय + अण् + विभक्त्यादिः। **प्रत्यावृत्तः**—प्रति + आङ् + √वृत् + क्तः + विभक्तिः ॥ ३९ ॥

गम्भीराया पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४०॥

गम्भीरा तरंगिणी तेरी छाया को भी अनुपम मान,
अपने निर्मल हृदय-सलिल में सादर उसको देगी स्थान।
शफरी की किलोल को उसकी कोई सी सित चितवन जान,
मत कर उसे निराश निठुर बन, उचित न प्रेमी का अपमान ॥ ॥४०

अन्वयः—गम्भीरायाः, सरितः, चेतसि, इव, प्रसन्ने, पयसि, प्रकृतिसुभगः, ते, छायाऽऽत्मा, अपि, प्रवेशम्, लप्स्यते; तस्मात्, अस्याः, कुमुदविशदानि, चटुल-शफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि, त्वम्, धैर्यात्, मोघीकर्तुम्, न अर्हसि ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—गम्भीरायाः = गम्भीरा नाम की, सरितः = नदी के, चेतसि = चित्त की, इव = तरह, प्रसन्ने = प्रसन्न (निर्मल), पयसि = जल में, प्रकृतिसुभगः = स्वभावतः सुन्दर, ते = तुम्हारा, छायात्मा = छायारूप शरीर, अपि = भी, प्रवेशम् = प्रवेश को, लप्स्यते = प्राप्त करेगा। तस्मात् = अतः, इस कारण से,

अस्याः = इसके, कुमुदविशदानि = कुमुदों की तरह उज्ज्वल, चटुलशफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि = चञ्चल मछलियों के कलोल रूपी चितवनों को, त्वम् = तुम, धैर्यात् = निष्ठुरतावश, मोघीकर्तुम् = निष्फल करने में, न = नहीं, अर्हसि = योग्य हो ॥ ४९ ॥

अर्थः—गम्भीरा नदी के, चित्त की तरह, प्रसन्न (निर्मल) जल में स्वभावतः सुन्दर तुम्हारा छायारूप शरीर (अर्थात् प्रतिविम्व) भी प्रवेश को प्राप्त करेगा। अतः इस (गम्भीरा) के कुमुदों की तरह उज्ज्वल, चञ्चल मछलियों के कलोल रूपी चितवनों को तुम निष्ठुरतावश निष्फल मत करना ॥ ४० ॥

सञ्जीवनी—**गम्भीराया इति**। गम्भीरा नाम सरित्। उदात्तनायिका च ध्वन्यते। तस्याः **प्रसन्ने**ऽनुरक्तत्वाद्दोषरहिते **चेतसीव प्रसन्ने**ऽतिनिर्मले **पयसि**। **प्रकृत्या** स्वभावेनैव **सुभगः** सुन्दरः। "सुन्दरोऽधिकभाग्ये च दुर्दिनेतरवासरे। तुरीयांशे श्रीमति च सुभगः" इति शब्दार्णवे। **ते** तव **छाया** चासावात्मा च। सोऽपि प्रतिविम्बशरीरं च **प्रवेशं लप्स्यते**। अपिशब्दात्प्रवेशमनिच्छोरपीति भावः। तस्माच्छायाद्वारापि प्रवेशावश्यम्भावित्वादस्या गम्भीरायाः **कुमुदवद्विशदानि** धवलानि **चटुलानि** शीघ्राणि **शफराणां** मीनानामुद्वर्तनान्युल्लुण्ठनान्येव **प्रेक्षितान्य**-वलोकनानि। 'त्रिषु स्याच्चटुलं शीघ्रम्' इति विश्वः। एतावदेव गम्भीराया अनुरागलिङ्गम्। **धैर्याद्** धाष्टर्यात्। वैयात्यादिति यावत्। **मोघीकर्तुं**। विफलीकर्तुं **नार्हसि**। नानुरक्ता विप्रलब्धव्येत्यर्थः। धूर्तलक्षणं तु—'क्लिश्नाति नित्यं गमितां कामिनीमिति सुन्दर। उपैत्यरक्तां यत्नेन रक्तां धूर्तो विमुञ्चति' ॥ इति ॥ ४० ॥

टिप्पणी—**गम्भीरायाः**—गम्भीरा एक छोटी-सी नदी का नाम है। यह मालवा में बहती है।

प्रसन्ने—यह 'चेतसि' और 'पयसि' दोनों का विशेषण है। प्रसन्न चित्त मोती की तरह निर्मल होता है। यही कारण है कि अत्यन्त स्वच्छ जल की तुलना चित्त से की जाती है।

कुमुदविशदानि—यह 'प्रेक्षितानि' का विशेषण है। स्त्रियों की चितवन धवल होती है। धवलता उनकी चितवन का प्राण है।

धैर्यात्—मल्लिनाथ ने इसका अर्थ किया है—धृष्टतावश। अन्य कतिपय टीकाकारों ने इसका अर्थ—'आत्मसंयम' अथवा 'मन की दृढ़ता'—किया है। मल्लिनाथ का अर्थ कुछ अधिक जमता नहीं है ॥ ४० ॥

व्युत्पत्तिः—प्रसन्ने—प्र + √सद् + क्तः + सप्तम्येकवचने विभक्तिकार्यम्। प्रकृति०—प्र + √कृ + क्तिन् + विभक्तिः। प्रवेशम्—प्र + √विश् + घञ् + विभक्तिः। ०प्रेक्षितानि—प्र + √ईक्ष् + क्तः + विभक्तिः ॥ ४० ॥

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४१॥

उसका जलमय-वसन खींचकर तट नितम्ब जब देगा खोल,
सरिता बेंतरूप हाथों से धर लेगी तब नील-निचोल।
वहाँ बिलमने पर अखरेगा तुझको फिर करना प्रस्थान,
अनुभव-रसिक छोड़ सकता है कैसे रूप-सुधा का पान ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे सखे, प्राप्तवानीरशाखम्, किञ्चित्, करधृतम्, इव, मुक्तरोधोनितम्बम्, नीलम्, तस्याः, सलिलवसनम्, नीत्वा, लम्बमानस्य, ते, प्रस्थानम्, कथमपि; भावि; (यतः), ज्ञातास्वादः, कः, विवृतजघनाम्, विहातुम् समर्थः ॥४१॥

शब्दार्थः—हे सखे = हे मित्र, प्राप्तवानीरशाखम् = बेंत की शाखा तक पहुँचे हुए, किञ्चित् = कुछ, करधृतम् = हाथ से पकड़े गये के, इव = समान, मुक्तरोधोनितम्बम् = तटरूप नितम्ब को छोड़ने वाले, नीलम् = नीलवर्ण, तस्याः = गम्भीरा नदी के, सलिलवसनम् = जलरूप वस्त्र को, नीत्वा = हटा कर, लम्बमानस्य = ऊपर लम्बे पड़े हुए, पसरे हुए, ठहरे हुए, ते = तुम्हारा, प्रस्थानम् = प्रस्थान, आगे की यात्रा, कथमपि = बड़ी कठिनता से, भावि = होगी। (यतः = क्योंकि), ज्ञातास्वादः = स्वाद को जानने वाला, रस का अनुभवी, कः = कौन-सा पुरुष, विवृतजघनाम् = उघड़ी जाँघवाली स्त्री को, विहातुम् = छोड़ने में, समर्थः = समर्थ होगा ॥ ४१ ॥

अर्थः—हे मित्र, बेंत की शाखा तक पहुँचे हुए, हाथ से कुछ पकड़े गये के समान, तटरूप नितम्ब को छोड़ने वाले, नीलवर्ण-युक्त गम्भीरा नदी के जलरूप वस्त्र को हटा कर ठहरे हुए तुम्हारा प्रस्थान बड़ी कठिनता से होगा। (क्योंकि) स्वाद को जानने वाला कौन-सा पुरुष खुली हुई जाँघवाली स्त्री को छोड़ने में समर्थ होगा ? ॥ ४१ ॥

सञ्जीवनी—तस्या इति। हे सखे, प्राप्ता वानीरशाखा वेतसशाखा येन तत्तथोक्तमत एव किञ्चिदीषत्करधृतं हस्तावलम्बितमिव स्थितम्। मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तटमेव नितम्बः कटिर्येन तत्तथोक्तम्। 'नितम्बः पश्चिमे श्रोणिभागेऽद्रिकटके कटौ'' इति यादवः। नीलं कृष्णवर्णं तस्या गम्भीरायाः सलिलमेव वसनं नीत्वापनीय। प्रस्थानसमये प्रेयसीवसनग्रहणं विरहतापविनोदनार्थमिति प्रसिद्धम्। लम्बमानस्य पीतसलिलभाराल्लम्बमानस्य। अन्यत्र जघनारूढस्य। ते तव प्रस्थानं प्रयाणं कथमपि कृच्छ्रेण भावि। कृच्छ्रत्वे हेतुमाह—ज्ञातेति। ज्ञातास्वादोऽनुभूतरसः कः पुमान् विवृतं प्रकटीकृतं जघनं कटिस्तत्पूर्वभागो वा यस्यास्ताम् 'जघनं स्यात्कटौ पूर्वश्रोणिभागापरांशयोः' इति यादवः। विहातुं त्यक्तुं समर्थः। न कोऽपीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में गम्भीरा नदी में नायिका का आरोप, रोध (तट) में नितम्ब का आरोप और सलिल में वसन का तथा वानीर शाखा में कर का आरोप किया गया है। इसे ठीक से समझने के लिये आगे की बातों पर ध्यान दें—

नदी तट तक जल से भरी है। जल के किनारे बेंत की लम्बी लम्बी लताएँ खड़ी हैं। वे जल की ओर झुकी हैं। उनका अगला भाग जल को छुए हुए है। बादल जल खींच कर पी लेता है। अतः जल तट को छोड़ कर और नीचे खिसक जाता है। वेतस-लताएँ और अधिक झुक जाती हैं। इस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मेघ—नायक ने गम्भीरा नायिका की साड़ी तट—नितम्ब से नीचे खिसका दी है। गम्भीरा वेतस-कर से उसे पकड़े हुए हैं। आखिर सलज्जा नायिका भी तो ऐसा ही करती है। आगे का भाव प्रत्येक पाठक-पाठिका को स्पष्ट है ॥ ४१ ॥

व्युत्पत्तिः—नीत्वा—√नी + क्त्वा। लम्बमानस्य—√लम्ब + शानच् + विभक्तिः। भावि—√भू + णिनिः कर्तरि + विभक्तिकार्यम्। विहातुम्—वि + √हा + तुमुन् ॥ ४१ ॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४२॥

बूँदों से जी उठी भूमि की सुरभि साँस का धरता संग,
वन गूलर के कुंज पकाता शीतल करता सबके अंग।
सूँड़ों की सिसकारी भरके गजगण जिसका करते पान,
मन्द मन्द वह पवन चलेगा करते देवगिरि-प्रस्थान ॥ ४२ ॥

अन्वयः—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः, स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम्, दन्तिभिः, पीयमानः, काननोदुम्वराणाम्, परिणमयिता, शीतः, वायुः, देवपूर्वम्, गिरिम्, उपजिगमिषोः, ते, नीचैः, वास्यति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः = तुम्हारे बरसने से कुछ फूली हुई पृथिवी की गन्ध के मिलने से सुगन्धित, स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् = सूँड़ों के छिद्रों से सिसकारी भरके अच्छी तरह, दन्तिभिः = हाथियों के द्वारा, पीयमानः = पान किया गया, सूँघा गया; काननोदुम्वराणाम् = वन के गूलरों को, परिणमयिता = पकाने वाला, शीतः = शीतल, वायुः = वायु; देवपूर्वम् = देव शब्द है लगा हुआ पहले जिसमें ऐसे, गिरिम् = पर्वत को, उपजिगमिषोः = जाने की इच्छा वाले, ते = तुम्हारे, नीचैः = नीचे-नीचे, वास्यति = बहेगा ॥४२॥

अर्थः—तुम्हारे वरसने से कुछ फूली हुई पृथिवी की गन्ध के सम्पर्क से सुगन्धित, सूँड़ों के छिद्रों से सिसकी भरके अच्छी तरह हाथियों के द्वारा सूँघा गया, वन के गूलरों को पकानेवाला, शीतल पवन देवगिरि को जाने की इच्छा वाले तुम्हारे नीचे-नीचे वहेगा ॥ ४२ ॥

सञ्जीवनी—त्वदिति। त्वन्निष्यन्देन तव वृष्ट्योच्छ्वसिताया उपबृंहिताया वसुधाया भूमेर्गन्धस्य संपर्केण रम्यः। सुरभिरित्यर्थः। स्रोतःशब्देनेन्द्रियवाचिना तद्विशेषो घ्राणं लक्ष्यते। 'स्रोतोऽम्बुवेगेन्द्रिययोः' इत्यमरः। स्रोतोरन्ध्रेषु नासाग्रकुहरेषु यद्ध्वनितं शब्दस्तेन सुभगं यथा तथा दन्तिभिर्गजैः पीयमानः वसुधागन्धलोभादाघ्रायमाण इत्यर्थः। अनेन मान्द्यमुच्यते। काननेषु वनेषूदुम्बराणां

जन्तुफलानाम् । 'उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः' इत्यमरः । **परिणमयिता** परिपाकयिता । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । शीतो वायुः । **देवपूर्वं** देवशब्दपूर्वं **गिरिम्** । देवगिरिमित्यर्थः । **उपजिगमिषोरुपगन्तुमिच्छोः** । गमेः सन्नन्तादु-प्रत्यर्थः । **ते तव नीचैः शनैर्वास्यति** । त्वां वीजयिष्यतीत्यर्थः । सम्बन्धमात्र-विवक्षायां षष्ठी । 'देवपूर्वं गिरिम्' इत्यत्र देवपूर्वत्वं गिरिशब्दस्य । न तु संज्ञिन-स्तदर्थस्येति । संज्ञायाः संज्ञित्वाभावादवाच्यवचनं दोषमाहुरालङ्कारिकाः । तदुक्त-मेकावल्याम्—'यदवाच्यस्य वचनमवाच्यवचनं हि तत् ।' इति । समाधानं तु देवशब्दविशेषितेन शब्दपरेण । मेघोपगमनयोग्यदेवगिरिर्लक्ष्यत इति कथञ्चित्स-म्पाद्यम् ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित०—ग्रीष्म में पृथिवी तप कर तवे की तरह हो जाती है। वर्षा की पहली बूँदें जब भूतल पर पड़ती हैं, तब पृथिवी की ऊपरी एक परत फूल कर कुछ ऊपर उठ जाती है। उसी समय पृथिवी से सोंधी-सोंधी महँक भी निकलती है। इस महँक को हाथी सूँड़ उठा-उठा कर चारों ओर बड़े प्रेम से सूँघते हैं।

नीचैर्वास्यति—नीचे-नीचे हवा बहेगी। ऊपर-ऊपर बादल उड़ेंगे। इससे बादलों को आगे बढ़ने में सहायता मिलेगी। **परिणमयिता**—आषाढ़ की पहली बूँदों के पड़ते ही गूलर का पकना प्रारम्भ हो जाता है। उस समय शीतल वायु के लगने से उनके पकने की क्रिया तीव्र हो उठती है ॥ ४२ ॥

व्युत्पत्तिः—०निष्यन्द०—नि + √स्यन्द् + घञ् भावे + विभक्त्यादिः । **०उच्छ्वसित०**—उत् + √श्वस् + क्त कर्मणि + विभक्त्यादिः । **पीयमानः**—√पा + शानच् + विभक्तिः । **परिणमयिता**—परि + √नम् + णिच् + तृच् कर्तरि + विभक्तिः ॥ ४२ ॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥४३॥

वहाँ वास करते कुमार को बन कर फूलों का अम्भोद,
देवनदी के जल से सींची पुष्पवृष्टि से देना मोद।
चन्द्रचूड ने इन्द्रसैन्य की रक्षा के निमित्त अभिराम,
पावक के मुख में रक्खा है दिनकर से बढ़ कर वह धाम ।। ४३ ।।

अन्वयः—तत्र, नियतवसतिम्, स्कन्दम्, पुष्पमेघीकृतात्मा, भवान्, व्योमगङ्गाजलार्द्रैः, पुष्पासारैः, स्नपयतु; हि, तत्, वासवीनाम्, चमूनाम्, रक्षाहेतोः, नवशशिभृता, हुतवहमुखे, संभृतम्, अत्यादित्यम्, तेजः ।। ४३ ।।

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ, देवगिरि में, नियतवसतिम् = नित्य निवास करने वाले, स्कन्दम् = कुमार कार्तिकेय को, पुष्पमेघीकृतात्मा = अपने आपको फूलों का मेघ बना कर, पुष्प-वर्षी मेघ वन कर, फूलों की वृष्टि करनेवाले मेघ के समान शरीर धारण करके, भवान् = आप, व्योम-गङ्गा-जलार्द्रैः = आकाशगङ्गा के जल से भींगे हुए, पुष्पासारैः = फूलों की वृष्टि से, स्नपयतु = नहलाना; हि = क्योंकि, तत् = वह, वासवीनाम् = इंद्र की, चमूनाम् = सेनाओं की, रक्षाहेतोः = रक्षा के लिए, नवशशिभृता = शशिशेखर (शिव) के द्वारा, हुतवहमुखे = अग्नि के मुख में, संभृतम् = संचित, अत्यादित्यम् = सूर्य से भी बढ़ कर, तेजः = तेज, धाम, (हैं) ।। ४३ ।।

अर्थः—वहाँ (देवगिरि में) नित्य निवास करने वाले स्वामिकार्तिकेय को फूलों का मेघ वन कर तुम आकाशगंगा के जल से भींगे हुए फूलों की वृष्टि से नहलाना; क्योंकि वह (स्कन्द) इंद्र की सैन्य-रक्षा के लिए शशिशेखर (शिव) के द्वारा अग्नि के मुख में संचित तथा सूर्य से भी बढ़ कर तेजःस्वरूप हैं ।।४३।।

सञ्जीवनी—तत्रेति । तत्र देवगिरौ नियता वसतिर्यस्य तम् । नित्यसन्निहितमित्यर्थः । पुरा किल तारकाख्यासुरविजयसन्तुष्टः सुरप्रार्थनावशाद्भगवान् भवानीनन्दनः स्कन्दो नित्यमहमिह सह शिवाभ्यां वसामीत्युक्त्वा तत्र वसतीति प्रसिद्धिः । **स्कन्दं** कुमारं स्वामिनम् । पुष्पाणां मेघः पुष्पमेघः । **पुष्पमेघीकृतात्मा** कामरूपत्वात्पुष्पवर्षुकमेघीकृतविग्रहः सन् **व्योमगङ्गाजलार्द्रैः पुष्पासारैः** पुष्पसम्पातैः । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । **भवान्** स्वयमेव **स्नपयत्व**भिषिञ्चतु । स्वयंपूजाया उत्तमत्वादिति भावः । तथा च शम्भुरहस्ये—'स्वयं यजति चेद्देव-

मुत्तमा सोदरात्मजैः । मध्यमा या यजेद् भृत्यैरधमा याजनक्रिया ।' इति । स्कन्दस्य पूज्यत्वसमर्थनेनार्थेनार्थान्तरं न्यस्यति—रक्षेति । तद्भगवान् स्कन्द इत्यर्थः । विधेयप्राधान्यान्नपुंसकनिर्देशः । वासवस्येमा वासव्यः । 'तस्येदम्' इत्यण् । तासां वासवीनामैन्द्रीणां चमूनां सेनानां रक्षाहेतो रक्षया कारणेन । रक्षार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । नवशशिभृता भगवता चन्द्रशेखरेण । वहतीति वहः । पचाद्यच् । हुतस्य वहो हुतवहो वह्निस्तस्य मुखे सम्भृतं सञ्चितम् । आदित्यमतिक्रान्तमत्यादित्यम् । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । तेजो हि साक्षाद् भगवतो हरस्यैव मूर्त्यन्तरमित्यर्थः । अतः पूज्यमिति भावः । मुखग्रहणं तु शुद्धत्वसूचनार्थम् । तदुक्तं शम्भुरहस्ये—'गवां पश्चाद् द्विजस्याङ्घ्रिर्योगिनां हृत्कवेर्वचः । परं शुचितमं विद्यान्मुखं स्त्रीवह्निवाजिनाम् ।।' इति ।। ४३ ।।

टिप्पणी—नवशशिभृता—भगवान् शंकर द्वितीया या अष्टमी के चंद्र को धारण करते हैं । इसी से उन्हें शशि शेखर, चंद्रचूड आदि नामों से पुकारा जाता है ।

हुतवहमुखे संभृतम् -त्रिलोकी तारक असुर से संत्रस्त थी । अतः देवों ने उसके वध के लिए भगवान् शकर से प्रार्थना की । भगवान् शंकर ने पार्वती में अपने वीर्य का आधान किया । पार्वती उस दुःसह वीर्य को धारण न कर सकीं । फलतः उन्होंने उसे अग्नि के मुख में रख दिया । अग्निदेव भी इसे बर्दाश्त न कर सके । अतः उन्होंने गंगा में उसे डाल दिया । यह तेज गंगा के लिए भी असह्य हुआ । तब उन्होंने इसे तट पर उगे शर के वन में फेंक दिया । वहाँ उसने एक बालक का रूप धारण किया । तदनंतर छह कृत्तिकाओं ने उसका पालन-पोषण किया । यही कारण है कि स्कंद को कार्त्तिकेय, शरजन्मा आदि कहा जाता है ।।४३।।

व्युत्पत्तिः— वासवीनाम्—वासव + अण् + ङीप् + विभक्त्यादिकार्यम् । **नवशशिभृता**—नवशशिनं बिभर्तीति नवशशि + √भृ + क्विप् + विभक्तिः । **संभृतम्**—सं + √भृ + क्तः + विभक्तिः ।। ४३ ।।

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।

धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४४॥

जिसके चारु चँदोवे वाले गिरे पंख गौरी चुन कर,
पद्मपत्र के साथ कान पर रखतीं पुत्रप्रेम गुन कर।
शिव की चन्द्रकला से जिसके धुले धवल नयनों के कोर,
गिरि में गूँज गरजना जिससे नाचे वह कुमार का मोर ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ज्योतिर्लेखावलयि, गलितम्, यस्य, बर्हम्, भवानी, पुत्रप्रेम्णा, कुवलयदलप्रापि, कर्णे, करोति; हरशशिरुचा, धौतापाङ्गम्, पावकेः, तम्, मयूरम्, पश्चात्, अद्रिग्रहणगुरुभिः, गर्जितैः, नर्तयेथाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—ज्योतिर्लेखावलयि = चमकती रेखाओं के चक्राकार चारु चँदोवे-वाले, गलितम् = गिरे हुए, यस्य = जिसके, बर्हम् = पंख को, भवानी = पार्वती, पुत्रप्रेम्णा = पुत्र स्नेह से, कुवलयदलप्रापि = नीलकमल के पत्तों के साथ, कर्णे= कान में, करोति = धारण करती हैं; हरशशिरुचा = शिव (के शिर पर स्थित) चन्द्र की कान्ति से, धौतापाङ्गम् = धुले नेत्र-प्रान्त वाले, पावकेः = कार्तिकेय के, तम् = उस, मयूरम् = मयूर को, पश्चात् = बाद में, पुष्पों से अभिषेक के अनन्तर, अद्रिग्रहणगुरुभिः = देवगिरि की गुफा में होने वाली प्रतिध्वनि से बढ़े हुए, गर्जितैः = गर्जनों से, नर्तयेथाः = नचाना ॥ ४४ ॥

अर्थः—चमकती रेखाओं के चन्द्रक युक्त, गिरे हुए, जिसके पंख को पार्वती पुत्र-स्नेह से नील कमल के पत्तों के साथ कान में धारण करती हैं; शिव (के शिर पर स्थित) चन्द्र की कान्ति से धुले नेत्र-प्रान्त वाले, कार्तिकेय के उस मयूर को, पुष्पों से अभिषेक के अनन्तर, देवगिरि की गुफाओं में होने वाली प्रतिध्वनि से बढ़े हुए अपने गर्जनों से नचा देना ॥ ४४ ॥

सञ्जीवनी—ज्योतिरिति। ज्योतिषस्तेजसो लेखा राजयस्तासां वलयं मण्डलं यस्यास्तीतितथोक्तम्। गलितं भ्रष्टम्। न तु लौल्यात्स्वयं छिन्नमिति भावः। यस्य मयूरस्य बर्हं पिच्छम्। 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। भवानी गौरी। पुत्रप्रेम्णा पुत्रस्नेहेन कुवलयस्य दलं पत्रं तत्प्रापि तद्योगि यथा तथा कर्णे करोति। दलेन सह धारयतीत्यर्थः। यद्वा कुवलयस्य दलप्रापि दलभाजि दलार्हे कर्णे करोति। विवर्-

न्तात्सप्तमी। दलं परिहृत्य तत्स्थाने बर्हं धत्त इत्यर्थः। नाथस्तु 'कुवलयदलक्षेपि' इति पाठमनुसृत्य 'क्षेपो निन्दापसारणं वा' इति व्याख्यातवान्। **हरशशिरुचा** हरशिरश्चन्द्रिकया **धौतापाङ्गं** स्वतोऽपि शौक्ल्यादतिधवलितनेत्रान्तम्। 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः। पावकस्याग्नेरपत्यं **पावकिः**। 'अत इञ्' इति इञ्। तस्य **तं** पूर्वोक्तं मयूरं **पश्चात्पुष्पाभिषेचनानन्तरमद्रेर्देवगिरेः**। कर्तुः। **ग्रहणेन** गुहासंक्रमणेन **गुरुभिः**। प्रतिध्वानमहद्भिरित्यर्थः। **गर्जितैर्नर्तयेथा** नृत्यं कारय। मार्दङ्गिकभावेन भगवन्तं कुमारमुपास्वेति भावः। 'नर्तयेथाः' इत्यत्र 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इत्यात्मनेपदापवादः 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदं न भवति। तस्य 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' इति प्रतिषेधात् ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—ज्योतिर्लेखा०—मयूरपंख के ऊपर चमकती रंगीन रेखाओं, विशेषतः गोली रेखाओं, का समूह रहता है। इससे उसका सौन्दर्य अद्भुत प्रतीत होता है। बढ़े हुए पंख उस समय झड़ जाते हैं, जब वर्षारम्भकाल में मयूर नृत्य करते हैं। श्री कृष्ण मयूरपिच्छ को अपनी काकली में धारण करते थे। स्त्रियाँ सौन्दर्य-वृद्धि के लिये इसे कानों में लगाती हैं।

कुवलयदलप्रापि—कुवलस्य दलं (ष० त०) तत्प्राप्नोतीति, तद्यथा तथा कुवलयदल + प्र + आप् + णिनिः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस का अर्थ हुआ—'पार्वती जिसके पंख को नीलकमल के पत्ते के साथ अपने कान में धारण करती है।' इसकी एक दूसरी व्युत्पत्ति तथा उसके अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—कुवलयदलं प्राप्नोतीति कुवलयदलप्राप् तस्मिन्, कुवलयदल + प्र + आप् + क्विप् (कर्तरि), इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह पद सप्तम्यन्त पद 'कर्णे' का विशेषण बनेगा। तब इसका अर्थ होगा—भगवती पार्वती नीलकमल के पत्ते को छोड़ कर उसके बदले में मयूरपंख को धारण करती हैं।

प्रसिद्ध टीककार मल्लिनाथ ने नाथसंमत "कुवलयदलक्षेपि" यह पाठ भी निर्दिष्ट किया है। इस पाठ में व्युपत्ति इस प्रकार होगी—कुवलयदलं क्षिपति = अपसारयतीति तच्छीलम्। कुवलयदल + क्षिप् = णिनिः। इसका अर्थ होगा—नीलकमल के पत्ते की निन्दा करने वाला अथवा हटाने वाला। इस प्रकार यह पद

'बर्ह' का विशेषण हो जाता है। सरस्वती तीर्थ ने 'प्रापि' के स्थान में 'स्पर्धि' ऐसा पाठ दिया है। इसकी व्युत्पत्ति होगी—कुवलयदलं स्पर्धते तच्छीलम्, कुवलय-दल + स्पर्ध् + णिनिः। इसका अर्थ है—नीलकमल के पत्ते से स्पर्धा करने वाला। इस व्युत्पत्ति में भी यह 'बर्ह' का ही विशेषण बनेगा ॥ ४४ ॥

व्युत्पत्तिः—**गलितम्**—√ गल् + क्त + विभक्तिः। **भवानी**—भवस्य = शिवस्य पत्नी, भव + ङीप् ('इन्द्रवरुणभव० इत्यादिनाऽनुगागमः) + विभक्तिः। **गर्जितैः**—√ गर्ज् + क्त + विभक्तिः ॥ ४४ ॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद् वीणिभिस्त्यक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४५॥

जब कुमार की पूजा करके कर लेगा चलने का ठाट,
बीन भीग जाने के भय से सिद्ध लोग छोड़ेंगे बाट।
आगे बढ़ कर फिर झुक जाना उस चम्बल का रखने मान,
जो गोमेध-यज्ञ से निकली रन्तिदेव की कीर्ति महान् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—शरवणभवम्, एनम्, देवम्, आराध्य, वीणिभिः सिद्धद्वन्द्वैः, जल-कणभयात्, मुक्तमार्गः (सन्), उल्लङ्घिताध्वा, सुरभितनयाऽऽलम्भजाम्, भुवि, स्रोतोमूर्त्या, परिणताम्, रन्तिदेवस्य, कीर्तिम्, मानयिष्यन्, व्यालम्बेथाः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—शरवणभवम् = सरकण्डों के वन में पैदा हुए, एनम् = इन, देवम् = देव (स्वामिकार्तिकेय) की, आराध्य = उपासना करके, वीणिभिः = वीणा हाथ में लिये हुए, सिद्धद्वन्द्वैः = सिद्ध-दम्पतियों के द्वारा, जलकणभयात् = जलबिन्दुओं के (गिरने के) भय से, मुक्तमार्गः, (सन्) = छोड़ दिये गये रास्ते वाले (तुम), उल्लङ्घिताध्वा = कुछ मार्ग और पारकर, सुरभितनयाल-म्भजाम् = गौओं के आलम्भन (पूजा में बलि चढ़ाने) से उत्पन्न, भुवि = भूतल पर, स्रोतोमूर्त्यापरिणताम् = प्रवाह के रूप में परिणत, रन्तिदेवस्य = (महाराज) रन्तिदेव की, कीर्तिम् = कीर्तिभूत (चर्मण्वती नदी) को, मानयिष्यन् = सम्मा-नित करते हुए, व्यालम्बेथाः = उतर जाना ॥ ४५ ॥

अर्थः—सरकण्डों के वन में पैदा हुए इन देव (स्वामिकार्तिकेय) की उपासना करके, वीणा हाथ में लिये हुए सिद्ध-दम्पतियों के द्वारा जलबिन्दुओं के (गिरने के) भय से (अर्थात् बीन भीग जाने के भय से) छोड़ दिये गये रास्ते वाले (तुम) कुछ और मार्ग पार कर गौओं के आलम्भन (पूजा में बलि चढ़ाने) से उत्पन्न, भूतल पर प्रवाह के रूप में परिणत, (महाराज) रन्तिदेव की कीर्तिभूत चर्मण्वती नदी को सम्मानित करते हुए उतर जाना ॥ ४५ ॥

सञ्जीवनी—**आराध्येति** । **एनं** पूर्वोक्तं शरा बाणतृणानि । 'शरो बाणे बाणतृणे' इति शब्दार्णवे । तेषां वनं शरवणम् । 'प्रतिरन्तःशरेक्षु—' इत्यादिना णत्वम् । तत्र भवो जन्म यस्य तं **शरवणभवम्** । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः ।' इति वामनः अवर्ज्योऽगतिकत्वादाश्रयणीय इत्यर्थः । **देवं** स्कन्दम् । 'शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः । **आराध्योपास्य** **वीणिभिर्वी**णावादिभिः । व्रीह्यादित्वादिनिः । **सिद्धद्वन्द्वैः** सिद्धमिथुनैः । भगवन्तं स्कन्दमुपवीणयितुमागतैरिति भावः । **जलकणभयात्** । जलसेकस्य वीणाक्वणनप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । **मुक्तमार्गस्त्यक्तवर्त्मा सन्नुल्लङ्घिताध्वा** कियन्तमध्वानं गत इत्यर्थः । **सुरभितनयानां** गवामालम्भेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम् । **भुवि** लोके **स्रोतोमूर्त्या** प्रवाहरूपेण **परिणतां** रूपविशेषमापन्नां **रन्तिदेवस्य** दशपुरपतेर्महाराजस्य **कीर्तिम्** । चर्मण्वत्याख्यां नदीमित्यर्थः । **मानयिष्यन्** सत्कारयिष्यन् **व्यालम्बेथाः** । आलम्ब्यावतरेरित्यर्थः । पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृताद्रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे । सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—**शरवणभवम्**—इसके लिये देखिये श्लोक ४३ (तत्र स्कन्दं) की टिप्पणी ।

सिद्धद्वन्द्वैः—सिद्ध-दम्पति स्वामिकार्तिकेय को वीणा बजा-बजा कर प्रसन्न करने के लिए आते हैं । वर्षा की बूंदों के स्पर्श से वीणा खराब हो जाती है । अतः वे लोग मेघों का रास्ता छोड़ कर बगल हो जाते हैं । वहाँ से दूर हट जाते हैं ।

सुरभितनयालम्भजाम्—कहा जाता है कि पहले कभी राजा रन्तिदेव ने गोमेध यज्ञ किया था । उस यज्ञ में बहुत-सी गायों की बलि चढ़ायी गयी । वहाँ एकत्र किये गये चर्मसमूह से विपुल रक्त प्रवाहित हो रहा था । उससे एक नदी

बन गयी। इसे लोग चर्मण्वती कहते थे। आजकल यह चम्बल के नाम से जानी जाती है। इस के लिए देखिए महाभारत वनपर्व और भागवत पुराण।

रन्तिदेवस्य—दशपुर के राजा रन्तिदेव संकृति के पुत्र थे। ये भरत से छह पीढ़ी बाद हुए थे। ये बड़े प्रतापी, दाता और यज्ञकर्ता थे। सपरिवार स्वयं भूखे रह कर भी दूसरों को दान देने के लिए इनकी प्रसिद्धि है। अप्रतिम दाता के रूप में इनकी कीर्ति पुराणों में सर्वत्र वर्णित है ॥ ४५ ॥

व्युत्पत्तिः—**आराध्य**—आ + √राध् + ल्यप्। **परिणताम्** परि + √नम् + क्त + विभक्तिः। **मानयिष्यन्**—मान् + णिच् + लृट् (शतृ) + विभक्तिः ॥ ४५ ॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ४६ ॥

घनश्याम सा श्याम करेगा जब तू जल लेने का ठाट,
होगा विदित दूर से पतला तब सरिता का चौड़ा पाट।
गगनचारियों की आँखों में उपजावेगा यह अनुहार,
जैसे नीलम लगा बीच में एकलड़ा धरती का हार ॥ ४६ ॥

अन्वयः—शार्ङ्गिणः, वर्णचौरे, त्वयि, जलम्, आदातुम्, अवनते (सति), पृथुम्, अपि, दूरभावात्, तनुम्, तस्याः, सिन्धोः, प्रवाहम्, गगनगतयः, दृष्टीः, आवर्ज्य, एकम्, स्थूलमध्येन्द्रनीलम्, भुवः, मुक्तागुणम्, इव, नूनम्, प्रेक्षिष्यन्ते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थः— शार्ङ्गिणः = श्रीकृष्ण के, वर्णचौरे = वर्ण को चुरानेवाले, त्वयि = तुम्हारे, जलम् = जल को, आदातुम् = लेने के लिए, अवनते (सति) = झुकने पर, पृथुम् = स्थूल, अपि = भी, दूरभावात् = दूरी के कारण, तनुम् = सूक्ष्म (प्रतीत होने वाले), तस्याः = उस (चर्मण्वती), सिन्धोः = नदी के, प्रवाहम् = प्रवाह को, गगनगतयः = आकाश में विचरण करने वाले (सिद्ध आदि), दृष्टीः = आँखों को, आवर्ज्य = घुमाकर, नीची करके, एकम् = एक लड़ी वाली, स्थूलमध्येन्द्रनीलम् = मध्य में स्थूल इंद्रनीलमणि से युक्त, भुवः =

पृथिवी की, मुक्तागुणम् = मोती की माला की, इव = तरह, नूनम् = अवश्य ही, प्रेक्षिष्यन्ते = देखेंगे ॥ ४६ ॥

अर्थः—श्रीकृष्ण के वर्ण को चुराने वाले (अर्थात् नील वर्ण वाले) तुम्हारे जल को लेने के लिए झुकने पर स्थूल होते हुए भी दूरी के कारण पतले (प्रतीत होने वाले) उस चर्मण्वती नदी के प्रवाह को, आकाश में विचरण करने वाले (सिद्ध आदि) आँखों को नीची करके, एक लड़ीवाली तथा मध्य में स्थूल इन्द्रनील मणि से युक्त पृथिवी की मुक्ता-माला की तरह अवश्य ही देखेंगे ॥४६॥

सञ्जीवनी त्वयीति। **शार्ङ्गिणः** कृष्णस्य वर्णस्य कान्तेश्चौरे **वर्णचौरे**। तत्तुल्यवर्ण इत्यर्थः। **त्वयि जलमादातुमवनते** सति **पृथुमपि दूरत्वात्तनुं** सूक्ष्मतया प्रतीयमानं **तस्याः** सिन्धोश्चर्मण्वत्याख्यायाः **प्रवाहम्**। गगने गतिर्येषां ते **गगनगतयः** खेचराः सिद्धगन्धर्वादयः। अयमपि बहुव्रीहिः पूर्ववज्जन्माद्युत्तरपदेषु द्रष्टव्यः। **नूनं** सत्यं **दृष्टिरावर्ज्य** नियम्यैकमेकयष्टिकं **स्थूलो** महान्मध्यो मध्यमणीभूत **इन्द्रनीलो** यस्य तं **भुवो** भूमेर्**मुक्तागुणं** मुक्ताहारमिव **प्रेक्षिष्यन्ते**। अत्रात्यन्तनीलमेघसङ्गतस्य प्रवाहस्य भूकण्ठमुक्तागुणत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षैवेयमितीवशब्देन व्यज्यते। निरुक्तकारस्तु 'तत्र तत्रोपमा यत्र इवशब्दस्य दर्शनम्' इतीवशब्ददर्शनादत्राप्युपमैवेति बभ्राम ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—शार्ङ्गिणो वर्णचौरे—भगवान् श्रीकृष्ण नवीन जलधर की भाँति श्यामवर्ण हैं। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मेघ श्रीकृष्ण की भाँति श्यामवर्ण के होते हैं। अतः प्रतीत होता है कि मेघों ने श्रीकृष्ण के वर्ण की चोरी कर ली है।

पृथुमपि तनुम्—आकाश में ऊँचाई पर काफी दूर से नीचे देखने पर चौड़ी चीजें दुबली-पतली प्रतीत होती हैं। यद्यपि चर्मण्वती नदी पर्याप्त विस्तृत है, तथापि काफी ऊँचाई पर से वह आकशचारी सिद्धादिकों को पतली प्रतीत होगी।

स्थूलमध्येन्द्रनीलम्—चर्मण्वती की पतली प्रतीत होने वाली जल-धारा पृथिवी की मोती की माला की भाँति ज्ञात होगी तथा उस धवल जलधारा पर बैठे हुए तुम मोटे इन्द्रनील मणि की तरह प्रतीत होओगे ॥ ४६ ॥

व्युत्पत्तिः—शार्ङ्गिणः—शृङ्गस्येदं शार्ङ्गम्=धनुः तदस्यास्तीति शार्ङ्गी तस्य, शृङ्ग + अण् + इनिः + विभक्तिः। आदातुम्—आ + √दा + तुमुन्। अवनते—अव + √नम् + क्त + विभक्तिः। नूनम् अव्ययपदम् ॥ ४६ ॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ ४७ ॥

जिनकी श्वेत-कृष्ण छवि बरुनी उठने से ऊपर आलीन
फिंके कुन्द पर लपके भौंरों की ली छटा जिन्होंने छीन।
दशपुर-वधुओं की वे आँखें जब कि रही हों तुझे निहार,
भ्रूविलास का रस लेते तब आगे चलना चम्बल-पार ॥ ४७ ॥

अन्वयः—ताम्, उत्तीर्य, आत्मबिम्बम्, परिचितभ्रूलताविभ्रमाणाम्, पक्ष्मोत्क्षेपात्, उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्, कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषाम्, दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्, पात्रीकुर्वन्, व्रज ॥ ४७ ॥

शब्दार्थः—ताम् = उस (चर्मण्वती नदी) को, उत्तीर्य=पार करके, आत्मबिम्बम्=अपने स्वरूप को, परिचितभ्रूलताविभ्रमाणाम् = भ्रूलता के विलासों के अभ्यस्त, पक्ष्मोत्क्षेपात् = पलकों को ऊँची करने से, उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् = ऊपर नीली एवं रङ्ग-विरङ्गी कान्तियों को फैलाने वाले, कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषाम् = हिलते हुए कुन्द का अनुसरण करने वाले भ्रमरों की शोभा को चुराने वाले, दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् = दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों के कौतूहल का, पात्रीकुर्वन् = विषय बनाते हुए, व्रज = जाना ॥ ४७ ॥

अर्थः—उस (चर्मण्वती नदी) को पार करके (तुम) अपने आपको भ्रू-लता के विलासों के अभ्यस्त, पलकों को ऊँची करने से ऊपर नीली एवं रङ्ग-बिरङ्गी कान्तियों को फैलानेवाले, हिलते हुए कुन्द का अनुसरण करनेवाले भ्रमरों की शोभा को चुरानेवाले, दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों के कौतूहल का विषय बनाते हुए जाना ॥ ४७ ॥

सञ्जीवनी—तामिति। तां चर्मण्वतीमुत्तीर्य भ्रुवौ लता इव भ्रूलताः। उपमितिसमासः। तासां विभ्रमा विलासाः परिचिताः क्लृप्ता येषु तेषां पक्ष्माणि नेत्रलोमानि। 'पक्ष्म सूत्रे च सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्रलोमनि' इति विश्वः। तेषामुत्क्षेपादुन्नमनाद्धेतोः कृष्णाश्च ताः शाराश्च कृष्णशारा नीलशबलाः 'वर्णो वर्णेन' इति समासः। 'कृष्णरक्तसिताः शाराः' इति यादवः। ततश्च शारशब्दादेव सिद्धे कार्ष्ण्ये पुनः कृष्णपदोपादानं कार्ष्ण्यप्राधान्यार्थम्। रक्तत्वं तु न विवक्षितमुपमानानुसारात्तस्य स्वाभाविकस्य स्त्रानेत्रेषु सामुद्रिकविरोधादितरस्याप्रसङ्गात्। क्वचिद्भावकथनं तूपपत्तिविषयम्। उपरि विलसन्त्यः कृष्णशारा प्रभा येषां तेषाम्। कुन्दानि माध्यकुसुमानि। 'माध्यं कुन्दम्' इत्यमरः तेषां क्षेप इतस्ततश्चलनं तस्यानुगा अनुसारिणो ये मधुकरास्तेषां श्रियं मुष्णन्तीति तथोक्तानाम्। क्षिप्यमाणकुन्दानुविधायिमधुकरकल्पानामित्यर्थः। दशपुरं रन्तिदेवस्य नगरं तस्य वध्वः स्त्रियः। 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः। तासां नेत्रकौतूहलानां नेत्राभिलाषाणां साभिलाषदृष्टीनामित्यर्थः। आत्मबिम्बं स्वमूर्ति पात्रीकुर्वन् व्रज गच्छ ॥४७॥

टिप्पणी—इस श्लोक में बस इतना ही कहना है कि—"आत्मबिम्बं दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानां पात्रीकुर्वन् व्रज ॥" अर्थात् अपने आप को दशपुर की सुकुमारियों के नेत्रों का विषय बनाते हुए जाना। इससे तुम्हें नेत्र-रस का आनन्द मिलेगा।

कुन्दक्षेपानुग०—कुन्द-पुष्प की सुगन्ध अति मादक होती है। भौंरे उसके पीछे मतवाले बने रहते हैं। वे तन्मय होकर फूलों पर बैठे रहते हैं। यदि कोई कुन्द की शाखाओं को हिला दे तो वे भौंरे भी हिलती हुई शाखा के पीछे-पीछे दौड़ते हैं। कुन्द धवल होता है और भ्रमर काले। स्त्रियों की काली कजरारी आँखें भी श्वेत-कृष्ण होती हैं। उनकी पुतलियाँ भौंरों की तरह चञ्चल होती हैं ॥ ४७ ॥

व्युत्पत्तिः—उत्तीर्य—उत् + √तॄ + ल्यप्। पात्रीकुर्वन्—पात्र + च्वि + √कृ + शतृ (अत्) + विभक्तिः ॥ ४७ ॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद् भजेथाः।

राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन् मुखानि ॥ ४८ ॥

ब्रह्मावर्त्त देश को अपनी छाया से छाते छाते,
कुरुक्षेत्र जाना जिसके थल क्षत्रजाति-गति बतलाते।
जहाँ पार्थ ने शत्रु-मुखों पर किया निशित बाणों का पात,
जैसे तू अपनी झड़ियों से करता कमलों पर आघात ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ, ब्रह्मावर्तम्, जनपदम्, छायया, गाहमानः, क्षत्रप्रधनपिशुनम्, तत्, कौरवम्, क्षेत्रम्, भजेथाः। यत्र, गाण्डीवधन्वा, शितशरशतैः, राजन्यानाम्, मुखानि, त्वम्, धारापातैः, कमलानि, इव, अभ्यवर्षत् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—अथ = इसके बाद, ब्रह्मावर्तम = ब्रह्मावर्तनामक, जनपदम् = जनपद को, छायया = छाया से, गाहमानः = छाते-छाते, ढकते-ढकते, क्षत्रप्रधन-पिशुनम् = क्षत्रियों के युद्ध के सूचक, तत् = उस अतिप्रसिद्ध, कौरवम् = कौरव, क्षेत्रम् = क्षेत्र को, भजेथाः = सेवित करना, जाना। यत्र = जहाँ, गाण्डीवधन्वा = गाण्डीव नामक धनुष को धारण करने वाले अर्जुन ने, शितशरशतैः = सैकड़ों तीक्ष्ण बाणों से, राजन्यानाम् = राजाओं के, मुखानि = मुखों पर, त्वम् = तुम, धारापातैः = मूसलधार वृष्टि से, कमलानि = कमलों पर, इव = जैसे, अभ्यवर्षत् = वृष्टि की थी ॥ ४८ ॥

अर्थः—इसके बाद ब्रह्मावर्त नामक जनपद को छाया से ढकते-ढकते तुम क्षत्रियों के युद्ध के सूचक उस अतिप्रसिद्ध कौरव क्षेत्र को जाना; जहाँ गाण्डीव नामक धनुष को धारण करने वाले अर्जुन ने तीक्ष्ण अगणित बाणों की राजाओं के मुखों पर वैसी ही वृष्टि की थी जैसी तुम मूसलधार वृष्टि कमलों पर करते हो ॥४८॥

सञ्जीवनी—ब्रह्मावर्तमिति। अथानन्तरं ब्रह्मावर्तं नाम जनपदं देशम्। अत्र मनुः = 'सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।' इति। छाययाऽनातपमण्डलेन गाहमानः प्रविशन्न तु स्वरूपेण। 'पीठ-क्षेत्राश्रमादीनि परिवृत्यान्यतो व्रजेत्' इति वचनात्। क्षत्रप्रधनपिशुनम्। अद्यापि शिरःकपालादिमत्तया कुरुपाण्डवयुद्धसूचकमित्यर्थः। 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं

प्रविदारणम्' इत्यमरः। तत्प्रसिद्धं कुरूणामिदं कौरवं क्षेत्रं भजेथाः। कुरुक्षेत्रं व्रजेत्यर्थः। यत्र कुरुक्षेत्रे गाण्डयस्यास्तीति गाण्डीवं धनुर्विशेषः। 'गाण्डयजगात्संज्ञायाम्' इति मत्वर्थीयो वप्रत्ययः। 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुंनपुंसकौ' इत्यमरः। तद्धनुर्यस्य स गाण्डीवधन्वाऽर्जुनः। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः। शितशरशतैर्निशितवाणसहस्रै राजन्यानां राज्ञां मुखानि धाराणामुदकधाराणां पातैः कमलानि त्वमिवाभ्यवर्षदभिमुखं वृष्टवान्। शरवर्षेण शिरांसि चिच्छेदेत्यर्थः॥ ४८॥

टिप्पणी—**ब्रह्मावर्तम्**—आवर्तनम् आवर्तः = सर्गः, आङ् + √वृत् + घञ् + विभक्ति। ब्रह्मणः आवर्तः = सर्गः यस्मिन् सः तम्। जिस देश में बैठ कर ब्रह्मा जी ने सृष्टि का प्रवर्तन किया था, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं—

सरस्वती-दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ (मनु० २।१७)॥ ४८॥

व्युत्पत्तिः—**गाहमानः**—√गाह + शानच् + विभक्तिः। **कौरवम्**—कुरु + अण् + विभक्त्यादिः। **गाण्डीवधन्वा**—गाण्डी = ग्रन्थिः अस्यास्तीति गाण्डीवः। यहाँ 'गाण्डी' शब्द से "गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम्" इस सूत्र से व प्रत्यय हुआ है। 'गाण्डीव' और 'गाण्डिव' दोनों रूप बनते हैं। यह अर्जुन के धनुष का नाम है॥ ४८॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥ ४९॥

प्रिया-लोचनों से प्रतिबिम्बित प्रिय मदिरा का कर अपमान,
बन्धु-प्रीति से समर-विमुख हो, किया हली ने जिसका पान।
सुभग! जहाँ तू सरस्वती का पी लेगा वह पावन नीर,
शीघ्र शुद्ध होगा भीतर से केवल बाहर कृष्ण शरीर॥ ४९॥

अन्वयः—बन्धुप्रीत्या, समरविमुखः, लाङ्गली, अभिमतरसाम्, रेवतीलोचनाङ्काम्, हालाम्, हित्वा, याः, सिषेवे। हे सौम्य, त्वम्, अपि, तासाम्, सारस्व-

तीनाम्, अपाम्, अभिगमम्, कृत्वा, अन्तःशुद्धः, वर्णमात्रेण, कृष्णः, भविता ॥४८॥

शब्दार्थः—बन्धुप्रीत्या = बन्धुओं के स्नेह के कारण, समरविमुखः = (महाभारत) युद्ध से विमुख हुए, लाङ्गली = बलराम ने, अभिमतरसाम् = अभीष्ट स्वादवाली, रेवतीलोचनाङ्काम् = (अपनी प्रिया) रेवती के नेत्रों के प्रतिबिम्ब से युक्त, हालाम् = सुरा को, हित्वा = छोड़कर, याः = जिस सरस्वती नदी के जल का, सिषेवे = सेवन किया था। हे सौम्य = हे सुभग, त्वम् = तुम, अपि = भी, तासाम् = उन, सारस्वतीनाम् = सरस्वती नदी के, अपाम् = जल का, अभिगमम् = सम्मुख प्रत्यक्ष, सेवन, कृत्वा = करके, अन्तःशुद्धः = भीतर से शुद्ध होकर, वर्णमात्रेण = रङ्गमात्र से, केवल वर्ण से, कृष्णः = काला, भविता = रह जाओगे ॥ ४९ ॥

अर्थः—बन्धुओं (अर्थात् कौरवों एवं पाण्डवों) के स्नेह के कारण (महाभारत) युद्ध से विमुख हुए बलराम ने, अभीष्ट स्वादवाली तथा (अपनी प्रियतमा) रेवती के नेत्रों के प्रतिबिंब से युक्त सुरा को छोड़ कर जिस सरस्वती नदी के जल का सेवन किया था। हे सौम्य, तुम भी सरस्वती नदी के उस जल का सेवन करके भीतर से शुद्ध होकर केवल वर्ण से काले रह जाओगे ॥ ४९ ॥

सञ्जीवनी—हित्वेति । बन्धुप्रीत्या कुरुपाण्डवस्नेहेन । न तु भयेन । **समरविमुखो** युद्धनिःस्पृहः । लाङ्गलमस्यास्तीति **लाङ्गली** हलधरः । **अभिमतरसाम**भीष्टस्वादां तथा **रेवत्याः** स्वप्रियाया **लोचने एवाङ्कः** प्रतिबिम्बितत्वाच्चिह्नं यस्यास्तां **हालां** सुराम् । 'सुरा हलिप्रिया हाला' इत्यमरः । 'अभिप्रयुक्तं देशभाषापदम्' इत्यत्र 'सूत्रे हालेति देशभाषापदमप्यतीव कविप्रयोगात्साधु' इत्युदाजहार वामनः । **हित्वा** त्यक्त्वा । दुस्त्यजामपीति भावः । **याः सारस्वतीरपः सिषेवे । हे सौम्य** सुभग, **त्वं तासां** सरस्वत्या नद्या इमाः **सारस्वत्यस्तासामभिगमं** सेवां **कृत्वाऽन्तोऽन्तरात्मनि शुद्धो** निर्मलो निर्दोषो **भविता** । 'ण्वुल्तृचौ' इति तृच् । अपि सद्य एव पूतो भविष्यसीत्यर्थः । 'वर्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति वर्तमानप्रत्ययः । **वर्णमात्रेण** वर्णेनैव **कृष्णः** श्यामः । न तु पापेनेत्यर्थः । अन्तःशुद्धिरेव सम्पाद्या न तु बाह्या । बहिःशुद्धोऽपि सूतवधप्रायश्चित्तार्थं सारस्वतसलिलसेवी तत्र भगवान्बलभद्र एव निदर्शनम् अतो भवताऽपि सरस्वती सर्वथा सेवितव्येति भावः ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—बन्धुप्रीत्या—महाभारत संग्राम में श्रीकृष्ण ने पांडवों की सहायता की थी। किंतु बलराम जी ने किसी का पक्ष नहीं लिया था। वे तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से कुछ समय तक सरस्वती नदी के तट पर रहे।

लाङ्गली—यह बलराम का नाम है। बलराम जी का प्रधान शस्त्र 'लाङ्गल' (हल) था। ये कृष्ण के बड़े भाई थे। इन्हें शेषनाग का अवतार कहा गया है। वसुदेव और देवकी के ये सातवें पुत्र थे। कंस के अत्याचार से बचने के लिए ये वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी के गर्भ से अवतीर्ण हुए थे।

रेवतीलोचनाङ्कां हालाम्—बलराम को सुरा अतिप्रिय थी। वे एक ही चषक (मदिरा पीने के पात्र) में अपनी प्रियतमा रेवती के साथ बैठकर सुरापान करने का आनंद लेते थे। वैसी स्थिति में रेवती जी के मुख-नेत्रों की परछाईं चषक में पड़ती थी। जिससे उसकी मादकता बढ़ जाती थी।

सारस्वतीनाम्—यह 'अपाम्' का विशेषण है। सरस्वती नदी वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में महानदी के रूप में वर्णित है। कहा जाता है कि प्रयाग में गंगा, यमुना एवं सरस्वती का संगम होता था। आजकल सरस्वती लुप्त हो गयी है। यह कुरुक्षेत्र से बहती हुई प्रयाग की ओर बढ़ती थी—"गङ्गा कनखले पुण्या, कुरुक्षेत्रे सरस्वती।"

कृष्णः—कृष्णः वर्णः अस्यास्तीति, वर्णवाचक कृष्ण शब्द से मतुप् प्रत्यय होता है। फिर उसका "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः" से लुक् हो जाता है। यह वैयाकरणों का मत है। साहित्यिकों एवं नैयायिकों के मत से कृष्ण आदि शब्द का लक्षणा से गुणवान् (काला) अर्थ हो जाता है।

वर्णमात्रेण कृष्णः—पाप का स्वरूप काला माना गया है जब तीर्थसेवन से व्यक्ति का अंतःकरण धुल कर स्वच्छ हो जाता है, तब उसके सारे पाप मिट जाते हैं। उसका निष्पाप हृदय धवल हो जाता है केवल श्याम व्यक्ति का शारीरिक रंग ही श्याम रह जाता है। इससे कुछ विशेष बनता-बिगड़ता नहीं ॥ ४९ ॥

व्युत्पत्तिः—हित्वा—√हा + क्त्वा। **लाङ्गली**—लाङ्गलम् = हलम् अस्यास्तीति, लाङ्गल + इनिः + विभक्तिः।

सारस्वतीनाम्—सरांसि सन्ति यस्यां सा, सरस् + मतुप् + ङीप् = सरस्वती, सरस्वत्या इमाः सारस्वत्यः तासाम्, सरस्वती + अण् + ङीप् + विभक्तिः ॥४९॥

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ ५० ॥

पहुँच वहाँ से जहाँ जाह्नवी हिमगिरि से कनखल के पास—
सगर-सुतों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी सी उतरी सविलास ।
गौरी की त्योरी की करके फेन-हास्य से हँसी विशेष,
लहरी रूप करों से जिसने धरे शम्भु के शशियुत केश ॥ ५० ॥

अन्वयः—तस्मात्, अनुकनखलम्, शैलराजावतीर्णाम्, सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्, जह्नोः, कन्याम्, गच्छेः । या, गौरीवक्त्रभुकुटिरचनाम्, फेनैः, विहस्य, इव, इन्दुलग्नोर्मिहस्ता (सती), शम्भोः, केशग्रहणम्, अकरोत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—तस्मात् = वहाँ (कुरुक्षेत्र) से, अनुकनखलम् = कनखल के पास, शैलराजावतीर्णाम् = हिमालय से उतरी हुई, सगर-तनय-स्वर्ग-सोपान-पङ्क्तिम् = सगर के पुत्रों के स्वर्ग जाने में सीढ़ीरूप, जह्नोः = जह्नु की, कन्याम् = पुत्री (गङ्गा) के पास, गच्छेः = जाना । या = जिन गङ्गा जी ने, गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनाम् = पार्वती के मुख-मण्डल में स्थित भौंह टेढ़ी करने को, फेनैः = फेनों से, विहस्य = हँस कर, इव = मानों, सा, इन्दुलग्नोर्मिहस्ता (सती) = चन्द्र पर लहररूपी हाथों को रखती हुई, शम्भोः = शिव जी के, केशग्रहणम् = केशों को पकड़, अकरोत् = लिया, किया ॥ ५० ॥

अर्थः—वहाँ (कुरुक्षेत्र) से, कनखल के पास हिमालय से उतरती हुई, तथा सगर के पुत्रों के स्वर्ग जाने में सीढ़ी का काम करने वाली, (मुनि) जह्नु की पुत्री (गंगा) के पास जाना । जिन गंगा जी ने पार्वती के मुखमण्डल में स्थित भौंह टेढ़ी करने को मानो फेनों से हँस कर चंद्र पर लहररूपी हाथों को रखती हुई शिवजी के केशों को पकड़ लिया था ॥ ५० ॥

सञ्जीवनी—तस्मादिति । तस्मात् कुरुक्षेत्रात् कनखलस्याद्रेः समीपेऽनुकनखलम् 'अनुर्यत्समया' इत्यव्ययीभावः । शैलराजाद्धिमवतोऽवतीर्णां सगरतनयानां स्वर्गसोपानपङ्क्तिम् । स्वर्गप्राप्तिसाधनभूतामित्यर्थः । जह्नोर्नाम राज्ञः कन्यां जाह्नवीं

गच्छेर्गच्छ । विध्यर्थे लिङ् । या जाह्नवी **गौर्या वक्त्रे या भ्रुकुटिरचना** सापत्न्य-रोषाद् भ्रूभङ्गकरणं तां **फेनैर्विहस्य विहस्येव !** धावल्यात् फेनानां हासत्वेनोत्प्रेक्षा । इन्दौ शिरोमाणिक्यभूते लग्ना ऊर्मय एव हस्ता यस्याः **सेन्दुलग्नोर्मिहस्ता** सती **शम्भोः केशग्रहणमकरोत् ।** यथा काचित्प्रौढा नायिका सपत्नीमसहमाना स्ववाल्लभ्यं प्रकटयन्ती स्वभर्तारं सह शिरोरत्नेन केशेष्वाकर्षति तद्वदिति भावः । इदं च पुरा किल भगीरथप्रार्थनया भगवतीं गगनपथात्पतन्तीं गङ्गां गङ्गाधरो जटाजूटेन जग्राहेति कथामुपजीव्योक्तम् ॥ ५० ॥

टिप्पणी—अनुकनखलम्—गङ्गा जी सर्वप्रथम कनखल के पास ही हिमालय से नीचे उतरती हैं । यही कारण है कि कनखल को अतिपावन तीर्थ कहा गया है ।

जाह्नोःकन्याम्—जह्नु सूर्यवंश के एक प्रतापी राजा थे । एक बार गङ्गा जी ने उनकी यज्ञशाला बहा दी । राजा कुपित हो उठे। उन्होंने अपने तपोबल से गङ्गा को उठा कर पी लिया । फिर देवों ने उनकी प्रार्थना की । उन्होंने अपने कर्णछिद्र से गङ्गा को बाहर कर दिया । तभी से गङ्गाको जह्नुपुत्री या जाह्नवी कहते हैं ।

सगरतनय०—भगीरथ नें घोर तपस्या कीं । उनका ध्येय था कपिल के तेज से दग्ध सगर के साठ हजार पुत्रों को स्वर्ग भेजना । फलतः गङ्गा जी आईं । सगर के समस्त पुत्र तर गये । अतः गङ्गा को सगर के पुत्रों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी कहा गया है । यह अति प्रसिद्ध कथानक वाल्मीकि रामायण में विस्तार से है ।

विहस्येव फेनैः—बनी-ठनी गङ्गा जी शङ्कर जीकी ओर बढ़ीं । शङ्कर जी ने उत्सुकता के साथ उन्हें देखा। यह दृश्य पास में बैठी पार्वती के लिए असह्य हो उठा । उन्होंने अपनी भौंहें टेढ़ी करके गङ्गा की ओर घूरा । 'मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी ।' गङ्गा जी उमड़ी हुई थीं । फेन चारों ओर छितरा रहा था । अतः मालूम पड़ता था मानो गङ्गा जी पार्वती का उपहास कर रही हों । फिर थोड़ी ही देर में शिव के मस्तक की चन्द्रकला को भी अधिकार में कर लिया । उन्होंने शिवजी के बालों को पकड़ लिया । सिर पर सवार हो गयीं । प्रियतम की अति सुंदरी प्रिया जब उमड़ती है तब वह भी उसके बालों को पकड़ लेतीं है । आखिर काम का उद्दीपन इसी तरह तो होता है । इसी बात की ओर तो यह श्रृंगारी कवि यहाँ संकेत कर रहा है ॥ ५० ॥

व्युत्पत्तिः—०अवतीर्णाम्—अव + √तॄ + क्त (न) + विभक्त्यादिः। विहस्य – वि + √हस् + ल्यप् ॥ ५० ॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छायया ऽसौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥ ५१ ॥

दिग्गज के समान नभ में झुक अगले तन का कर विस्तार,
स्फटिक-तुल्य यदि जल ले लेने का कर लेगा मेघ ! विचार।
पड़ी हुई धारा में तेरी छाया से गंगा तत्काल--
तो धारण कर लेगी यमुना-संगम की सी छटा विशाल ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सुरगजः, इव, व्योम्नि, पश्चार्द्धलम्बी, त्वम्, अच्छस्फटिकविशदम्, तस्याः, अम्भः, तिर्यक्, पातुम्, तर्कयेः, चेत्, सपदि, स्रोतसि, संसर्पन्त्या, भवतः, छायया, असौ, अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा, इव, अभिरामा, स्यात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—सुरगजः = देवहस्ती की, ऐरावत की, इव = तरह, व्योम्नि = आकाश में, पश्चार्द्धलम्बी = शरीर के अगले भाग को लम्बा करके, त्वम् = तुम, अच्छस्फटिकविशदम् = निर्मल स्फटिक के सदृश उज्ज्वल, तस्याः = गङ्गा जी के, अम्भः = जल को, तिर्यक् = तिरछा होकर, पातुम् = पीने का, तर्कयेः = विचार करोगे, चेत् = तो, सपदि = उसी क्षण, तत्काल, स्रोतसि = प्रवाह में, संसर्पन्त्या = पड़नेवाली, भवतः = आपकी, छायया = छाया से, परछाईं से, असौ = यह (गङ्गा), अस्थानोपगतयमुनासंगमा = प्रयाग से भिन्न स्थान में यमुना के साथ संगम करती हुई, इव = सी, अभिरामा = मनोहर, स्यात् = प्रतीत होगी, बनेगी ॥ ५१ ॥

अर्थः—देवहस्ती ऐरावत की तरह आकाश में शरीर के अगले भाग को लम्बा करके तुम जब निर्मल स्फटिक के सदृश उज्ज्वल गङ्गा जी के जल को तिरछा होकर पीने का विचार करोगे तब उसी क्षण प्रवाह में पड़ने वाली तुम्हारी छाया से यह (गङ्गा) प्रयाग से भिन्न स्थान में यमुना के साथ संगम करती हुई-सी मनोहर प्रतीत होगी ॥ ५१ ॥

सञ्जीवनी – तस्या इति । सुरगज इव कश्चिदिद्ग्गज इव व्योम्नि पश्चादर्धं पश्चार्धं । पश्चिमार्धमित्यर्थः । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेन लम्बत इति पश्चार्धलम्बी सन्पश्चार्धभागेन व्योम्नि स्थित्वा । पूर्वार्धेन जलोन्मुख इत्यर्थः । अच्छस्फटिकविशदं निर्मलस्फटिकावदातं तस्या गङ्गाया अम्भस्तिर्यक्तिरश्चीनं यथा तथा पातुं त्वं तर्कयेर्विचारयेश्चेत् । सपदि स्रोतसि प्रवाहे संसर्पन्त्या संक्रामन्त्या भवतश्छायया प्रतिविम्बेनासौ गङ्गाऽस्थाने प्रयागादन्यत्रोपगतः प्राप्तो यमुनासङ्गमो यथा सा तथाभूतेवाभिरामा स्यात् ॥ ५१ ॥

टिप्पणीः— पश्चाद्र्धलम्बी —कल्पना कीजिए, आकाश में थोड़ी दूर की ऊँचाई पर एक हाथी खड़ा है। वह नदी के जल को विना वहाँ से उतरे पीना चाहता है। ऐसी अवस्था में वह अपने शरीर का अगला भाग लंवा कर देगा। जल लेते हुएं बादल की भी ऐसी ही दशा होगी। बादल एवं गज दोनों ही श्याम होते हैं।

संसर्पन्त्या''''छायया—गङ्गा का जल स्फटिक की भाँति स्वच्छ है। यमुना का जल श्याम है। मेघ का रङ्ग भी श्याम होता है। यदि मेघ की परछाईं गङ्गा के जल में पड़ेगी तो प्रतीत होगा मानो गङ्गा-यमुना का मिलन हो रहा है। अन्तर इतना ही होगा कि यह मिलन प्रयाग में न होकर कनखल में प्रतीत होगा ॥ ५१ ॥

व्युत्पत्तिः—पातुम्—√पा + तुमुन् । पश्चाद्र्धलम्बी—अपरं च तत् अर्द्धं पश्चार्द्धम् (क० धा०)। अत्र 'अपरस्यार्द्धे पश्चभावो वक्तव्यः'' इति वार्तिकेन 'अपर' शब्दस्य स्थाने पश्चादेशः। पश्चार्द्धेन लम्बते तच्छीलः (उपपदसमासः)। संसर्पन्त्या—सं + √सृप् + लट् (शतृ) + ङीप् + तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम् । अभिरामा —अभि + √रम् + घञ् (अधिकरणे) टाप् विभक्तिः ॥५१॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ ५२ ॥

जिस पर बैठे कस्तूरीमृग शिलाखण्ड सुरभित करते,
हिम से गौर उसी गंगा के जनक शैल पर पग धरते।
पथ का खेद दूर करने को किसी शिखर पर जम जाना,
शिव के शुभ्र वृषभ के सिर पर लगे पंक की छवि पाना ॥ ५२ ॥

अन्वयः—आसीनानाम्, मृगाणाम्, नाभिगन्धैः, सुरभितशिलम्, तस्याः, एव, प्रभवम्, तुषारैः, गौरम्, अचलम्, प्राप्य, अध्वश्रमविनयने, तस्य, शृङ्गे, निषण्णः, (त्वम्), शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्, शोभाम्, वक्ष्यसि ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—आसीनानाम् = बैठे हुए, मृगाणाम् = कस्तूरी मृगों की, नाभिगन्धैः = नाभि में स्थित कस्तूरी की गंध से, सुरभितशिलम् = सुगन्धित शिलाखण्डों से युक्त, तस्याः = उस (गङ्गा) के, एव = ही, प्रभवम् = उत्पत्ति-स्थल, तुषारैः = हिम के कारण, गौरम् = धवल, अचलम् = पर्वत को, प्राप्य = प्राप्त करके, अध्वश्रमविनयने = मार्ग के परिश्रम को हटानेवाले, तस्य = उसकी, शृङ्गे = चोटी पर, निषण्णः = बैठे हुए, (त्वम् = तुम), शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् = शिव जी के श्वेत बैल के द्वारा उखाड़े गये कीचड़ के समान, शोभाम् = कान्ति को, वक्ष्यसि = धारण करोगे ॥ ५२ ॥

अर्थः—बैठे हुए कस्तूरी मृगों की नाभि में स्थित कस्तूरी की गंध से सुगंधित शिलाखण्डों से युक्त, उस (गंगा) के ही उत्पत्तिस्थल, हिम के कारण धवल, पर्वत (हिमालय) को प्राप्त करके मार्ग के परिश्रम को हटाने वाली उसकी चोटी पर बैठे हुए (तुम) शिव जी के श्वेत बैल के द्वारा उखाड़े गये कीचड़ के समान कांति धारण करोगे ॥ ५२ ॥

सञ्जीवनी—आसीनानामिति। **आसीनानामुपविष्टानां मृगाणां** कस्तूरिकामृगाणाम्। अन्यथा नाभिगन्धानुपपत्तेः। **नाभिगन्धैः** कस्तूरीगन्धैस्तेषां तदुद्भवत्वात्। अत एव मृगनाभिसंज्ञा च। 'मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च' इत्यमरः। अथवा नाभयः कस्तूर्यः। 'नाभिः प्रधाने कस्तूरीमदे च क्वचिदीरितः' इति विश्वः। तासां गन्धैः **सुरभिताः** सुरभीकृताः **शिला** यस्य तं **तस्या** गङ्गाया **एव प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः** कारणम्। **तुषारैर्गौरं** सितम्। 'अवदातः सितो गौरः' इत्यमरः। **अचलं प्राप्य**। विनीयतेऽनेनेति विनयनम्। करणे ल्युट्। **अध्वश्रमस्य विनयनेऽप-**

नोदने तस्य हिमाद्रेः शृङ्गे निषण्णः सन्। शुभ्रो यस्त्रिनयनस्य त्र्यम्बकस्य वृषो वृषभः। 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः। तेनोत्खातेन विदारितेन पङ्केन सहोपमेयामुपमातुमर्हां शोभां वक्ष्यसि वोढासि। वहतेर्लृट्। 'त्रिनयन'—इत्यत्र 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वं न भवति 'क्षुभ्नादिषु च' इति निषेधात्। तस्याः प्रभवमित्यादिना हिमाद्रौ मेघस्य वैवाहिको गृहविहारो ध्वन्यते ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—नाभिगन्धैः—मृगों की एक जाति है— कस्तूरी मृग। इनकी नाभि में कस्तूरी रहती है। अतः जिस स्थान पर ये वैठते हैं, वह स्थान सुगंधित हो उठता है। कभी-कभी यह कस्तूरी उनकी नाभि से बाहर भी गिर जाती है। यह वहुमूल्य वस्तु है।

शोभां···पङ्कोपमेयाम्— हिमालय धवल है। यदि उसकी चोटी पर श्याम वादल वैठ जाय तो उसकी शोभा वैसी ही मालूम होगी जैसे शिव जी के धवल वैल ने श्यामल कीचड़ उखाड़ कर अपने सींग में लगा लिया हो ॥

व्युत्पत्तिः—आसीनानाम्—आ + √आस् + लट् (शानच्) + 'ईदासः' इत्यनेन आकारस्येकारे + विभक्तिः। **सुरभित०**—सुरभि + इतच् + टाप् + विभक्त्यादिः। **प्रभवम्**—प्रभवति अस्मादिति तम्। प्र + √भू + अप् + विभक्तिः। **प्राप्य**—प्र + √ आप् + ल्यप्। **निषण्णः**—नि + √सद् + क्त (न) + विभक्तिः ॥ ५२ ॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफला संपदो ह्युत्तमानाम् ॥ ५३ ॥

वायु वेग से देवदार की डालें यदि रगड़ा खावें,
सुरहगाय की पूँछ जलाती दावानल को उपजावें।
बरस मूसलाधार शैल को तो अवश्य ठंढा करना,
उत्तम की विभूति का फल है दुखी जनों का दुख हरना ॥ ५३ ॥

अन्वयः—वायौ, सरति (सति), सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा, उल्काक्षपितचमरीवालभारोदवाग्निः, तम्, बाधेत चेत्, (तर्हि), एनम्, वारिधारासहस्रैः,

अलम्, शमयितुम्, अर्हसि; हि, उत्तमानाम्, सम्पदः, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः, (भवन्ति) ॥ ५३ ॥

शब्दार्थः—वायौ = वायु के, सरति (सति) = बहने पर, सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा = सरल (चीड़) वृक्षों के तनों की रगड़ से उत्पन्न, उल्काक्षपितचमरीबालभारः = उल्काओं से चमरी गायों के बाल-समूह को जलाने वाली, दवाग्निः= वनाग्नि, तम् = उस (हिमालय) को, बाधेत चेत् = यदि पीडित करे, यदि जलावे, (तर्हि = तो), एनम् = उसे, वारिधारासहस्रैः = जल की हजार धाराओं से, अलम् = अच्छी तरह, शमयितुम् = बुझाने में, अर्हसि = समर्थ हो; हि = क्योंकि, उत्तमानाम् = बड़ों की, सम्पदः = सम्पत्तियाँ, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः= आपत्ति से पीड़ित जनों की पीडा दूर करने वाली, (भवन्ति = होती हैं) ॥५३॥

अर्थः—वायु के बहने पर सरल (चीड़) वृक्षों के तनों की रगड़ से उत्पन्न उल्काओं से चमरी गायों के बालसमूह को जलाने वाली वनाग्नि उस (हिमालय) को यदि जलावे (तो) उसे जल की हजार धाराओं से अच्छी तरह बुझा देना; क्योंकि बड़ों की सम्पत्तियाँ आपत्ति से पीड़ित जनों की पीड़ा दूर करने वाली (होती हैं) ॥ ५३ ॥

सञ्जीवनी—तामिति। **वायौ** वनवाते **सरति** वाति सति **सरलानां** देवदारुद्रुमाणां **स्कन्धाः** प्रदेशविशेषाः। 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः' इत्यमरः। तेषां **सङ्घट्टेन** सङ्घर्षणेन **जन्म** यस्य स तथोक्तः। जन्मोत्तरपदत्वाद् व्यधिकरणोऽपि बहुव्रीहिः साधुरित्युक्तम्। **उल्काभिः** स्फुलिङ्गैः **क्षपिता** निर्दग्धाश्चमरीणां **बालभाराः** केशसमूहा येन। दव एवाग्निर्दवाग्निर्वनवह्निः। 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव ईष्यते' इति यादवः। तं हिमाद्रिं **बाधेत चे**त्पीडयेद्यदि। **एनं** दवाग्निं **वारिधारासहस्रैः शमयितुमर्हसि**। युक्तं चैतदित्याह—**उत्तमानां** महतां **सम्पदः** समृद्धय आपन्नानामार्तानामार्तिप्रशमनमापन्निवारणमेव **फलं** प्रयोजनं यासां तास्तथोक्ता हि। अतो हिमाचलस्य दावानलस्त्वया शमयितव्य इति भावः ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—**वायौ सरति**...**वनाग्निः**—गर्मी में हवा के जोर से बहने पर चीड़ वृक्ष तथा बाँस आदि आपस में रगड़ खाते हैं। इस से आग उत्पन्न हो

जाती है। यह आग चमरी गायों की पूछ में भी लग जाती है। वे दौड़-दौड़ कर चारों ओर वन में इसे फैला देती हैं। सारा जंगल जलने लगता है। इसे वनाग्नि या दावाग्नि कहते हैं।

सम्पदो ह्युत्तमानाम्—मेघ परोपकारी है। अतः उत्तम है। वह प्राणियों को तृप्त करने वाले जल से भरा है। यही उसकी सम्पत्ति है। वनाग्नि को बुझा कर पीड़ित हिमालय का दुःख दूर करना उसकी जल-सम्पत्ति का फल है ॥५३॥

व्युत्पत्तिः—सरति—√सृ + शतृ (अत्) + सप्तम्येकवचने विभक्तिकार्यम्। शमयितुम्—√शम् + णिच् + तुमुन्। आपन्नः—आ + √पद् + (न) कर्तरि + विभक्तिः। आर्तिः—आ + √ऋ ने क्तिन् भावे + विभक्तिः ॥ ५३ ॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान् कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ ५४ ॥

तुझे लाँघ कर जी देने का शरभ अगर संरम्भ करें,
राह छोड़ कर चलने पर भी यदि तेरा अपमान करें।
तो ओले बरसा कर उनको मार भगाना, मैं कहता,
बिना काम का काम उठा कर कौन नहीं दुर्गति सहता ॥ ५४ ॥

अन्वयः—तस्मिन्, संरम्भोत्पतनरभसाः, ये, शरभाः; मुक्ताध्वानम्, भवन्तम्, सपदि, स्वाङ्ग भङ्गाय, लङ्घयेयुः; तान्, तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्, कुर्वीथाः; निष्फलारम्भयत्नाः, के वा, परिभवपदम्, न, स्युः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थः—तस्मिन् = उस (हिमालय) में, संरम्भोत्पतनरभसाः = कोपपूर्वक वेग से उछलने वाले, ये = जो, शरभाः = शरभ, मुक्ताध्वानम् = (उनकी पहुँच के) मार्ग को छोड़ कर चलने वाले, भवन्तम् = आपको, सपदि = शीघ्र, सद्यः, स्वाङ्गभङ्गाय = अपने अङ्गों को (ही) तोड़ने के लिये, लङ्घयेयुः = लाँघने का प्रयास करें तो, तान् = उन्हें, तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान् = भीषण ओलों के वृष्टिपात से तितर-बितर, कुर्वीथाः = कर देना; निष्फलारम्भयत्नाः = व्यर्थ के

कार्यों के लिये प्रयत्न करने वाले, के वा=कौन-से व्यक्ति, परिभवपदम् = तिरस्कार के पात्र, न = नहीं, स्युः = होते हैं ॥ ५४ ॥

अर्थः—उस (हिमालय) में कोपपूर्वक वेग से उछलनेवाले शरभ यदि (उनकी पहुँच के) मार्ग को छोड़ कर चलने वाले आपको, शीघ्र अपने अङ्गों को (ही) तोड़ने के लिए लाँघने का प्रयास करें तो उन्हें भीषण ओलों के वृष्टि-पात से तितर-बितर कर देना; व्यर्थ के कार्यों के लिए प्रयत्न करनेवाले कौन-से व्यक्ति तिरस्कार के पात्र नहीं होते हैं ? (अर्थात् सभी होते हैं) ॥ ५४ ॥

सञ्जीवनी— य इति । **तस्मिन्हिमाद्रौ संरम्भः** कोपः । 'संरम्भः संक्रमे कोपे' इति शब्दार्णवे तेनोत्पतन उत्प्लवने **रभसो** वेगो येषां ते तथोक्ताः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इत्यमरः । ये **शरभा** अष्टापदमृगविशेषाः । 'शरभः शलभे चाष्टापदे प्रोक्तो मृगान्तरे' इति विश्वः । **मुक्तोऽध्वा** शरभोत्प्लवनमार्गो येन **तं भवन्तं सपदि स्वाङ्गभङ्गाय लङ्घयेयुः** । सम्भावनायां लिङ् । भवतोऽतिदूरत्वात्स्वाङ्गभङ्गातिरिक्तं फलं नास्ति लङ्घनस्येत्यर्थः । **ताञ्छरभांस्तुमुलाः** संकुलाः **करका** वर्षोपलाः । 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरः । तासां **वृष्टिस्तस्याः पातेनावकीर्णान्विक्षिप्तान्कुर्वीथाः** कुरुष्व । विध्यर्थे लिङ् । क्षुद्रोऽप्यधिक्षिपन्प्रतिपक्षः सद्यः प्रतिक्षेप्तव्य इति भावः । तथाहि आरभ्यन्ते इत्यारम्भाः कर्माणि तेषु **यत्न** उद्योगः स **निष्फलो** येषां ते तथोक्ताः । निष्फलकर्मोपक्रमा इत्यर्थः । अतः **के वा परिभवपदं** तिरस्कारपदं **न स्युर्न** भवन्ति । सर्व एव भवन्तीत्यर्थः । यदत्र 'घनोपलस्तु करके' इति यादववचनात्करकशब्दस्य नियतपुंल्लिङ्गताभिप्रायेण करकाणामवृष्टिः इति केषांचिद्व्याख्यानं तदन्ये नानुमन्यन्ते । 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामिना 'कमण्डलौ च करकः सुगते च विनायके' इति नानार्थे पुंस्यपि वक्ष्यतीति वदतोभयलिङ्गताप्रकाशनात् । यादवस्य तु पुंल्लिङ्गताविधाने तात्पर्यं न तु स्त्रीलिङ्गतानिषेध इति न तद्विरोधोऽपि । 'करकस्तु करङ्के स्याद्दाडिमे च कमण्डलौ । पक्षिभेदे करे चापि करका च घनोपले' इति विश्वप्रकाशवचने तूभयलिङ्गता व्यक्तैवेति न कुत्रापि विरोधवार्ता । अत एव रुद्रः—'वर्षोपलस्तु करका करकोऽपि च दृश्यते' इति ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—स्वाङ्गभङ्गाय···शरभाः—शरभ एक अत्यन्त बलशाली जङ्गली जानवर होता है । यह शेर से भी अधिक बलवान् होता है । आकाश में बादलों का

गर्जन सुन कर क्रोधवश यह ऊपर की ओर उन्हें पकड़ने के लिए उछलता है। किन्तु कुछ दूर ऊपर जाकर पुनः नीचे की ओर गिर पड़ता है। फलतः उसके पैर आदि अङ्ग टूट-फूट जाते हैं। शक्ति से बाहर कार्य करने का यही परिणाम होता है। इसी बात की ओर कवि यहाँ सङ्केत कर रहा है ॥ ५४ ॥

व्युत्पत्तिः—संरम्भ०—सम् + √रभ् + घञ् भावे + विभक्त्यादिः। आरम्भ०—आ + रभ् + अ + विभक्त्यादिः। परिभव०—परि + √भू + अप् भावे + विभक्त्यादिः ॥ ५४ ॥

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥ ५५ ॥

वहाँ शिला पर है, सिद्धों से पूजित, शिवचरणों की छाप,
उसकी परिक्रमा करना तू भक्तिभाव से झुककर आप।
उसके दर्शन से उड़ जाते श्रद्धावानों के अघमात्र,
देह त्यागते ही वे होते शिवगण की पदवी के पात्र ॥ ५५ ॥

अन्वयः—तत्र, दृषदि, व्यक्तम्, सिद्धैः, शश्वत्, उपचितवलिम्, अर्धेन्दुमौलेः, चरणन्यासम्, भक्तिनम्रः (सन्), परीयाः। यस्मिन्, दृष्टे (सति), उद्धूतपापाः (सन्तः), श्रद्धधानाः, करणविगमात्, ऊर्ध्वम्, स्थिरगणपदप्राप्तये, सङ्कल्पन्ते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ (हिमालय में), दृषदि = शिला पर, व्यक्तम् = स्पष्ट, प्रकट, उभरे हुए, सिद्धैः = सिद्धों अथवा योगियों के द्वारा, शश्वत् = निरन्तर, उपचितवलिम् = पूजित, अर्धेन्दुमौलेः = चन्द्रकला को मस्तक पर धारण करने वाले शिवजी के, चरणन्यासम् = चरण-चिह्न को, भक्तिनम्रः (सन्)=श्रद्धा से अवनत होकर, परीयाः = परिक्रमा करना। यस्मिन्=जिसके, दृष्टे (सति) = दिखलायी पड़ने पर, उद्धूतपापाः (सन्तः)= निष्पाप होकर, श्रद्धधानाः = श्रद्धालु जन, करणविगमात् = शरीर त्याग के, ऊर्ध्वम् = अनन्तर,

बाद में, स्थिरगणपदप्राप्तये = अविनाशी प्रमथ-पद की प्राप्ति के लिये, सङ्कल्पन्ते= समर्थ होते हैं ॥ ५५ ॥

अर्थः—वहाँ (हिमालय में) शिला पर उभरे हुए, सिद्धों एवं योगियों के द्वारा निरन्तर पूजित, चन्द्रकला को मस्तक पर धारण करने वाले शिव जी के चरण-चिह्न की श्रद्धा से अवनत होकर परिक्रमा करना। जिसके दिखलायी पड़ने पर (अर्थात् जिसका दर्शन होने पर) निष्पाप होकर श्रद्धालु जन शरीर-त्याग के अनन्तर अविनाशी प्रमथ-पद की प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं ॥ ५५ ॥

सञ्जीवनी—तत्रेति। **तत्र** हिमाद्रौ **दृषदि** कस्यांचिच्छिलायां **व्यक्तं** प्रकटं **शश्वत्**सदा **सिद्धैर्योगिभिः**। सिद्धिर्निष्पत्तियोगयोः' इति विश्वः। **उपचितबलि** रचितपूजाविधिम्। 'वलिः पूजोपहारयोः' इति यादवः। अर्धश्चासाविन्दुश्चेत्य-**र्धेन्दुः**। 'अर्धः खण्डे समेंऽशके' इति विश्वः। **मौलौ यस्य** तस्येश्वरस्य **चरणन्यासं** पादविन्यासम्। **भक्तिः** पूज्येष्वनुरागस्तया **नम्रः** सन् **परीयाः** प्रदक्षिणं कुरु। परिपूर्वादिणो लिङ्। **यस्मिन्** पादन्यासे **दृष्टे** सत्युद्**धूतपापा** निरस्तकल्मषाः सन्तः **श्रद्दधानाः** विश्वसन्तः पुरुषाः। श्रद्धा विश्वासः। आस्तिक्यबुद्धिरिति यावत्। 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिर्वक्तव्या' इति श्रत्पूर्वाद्दधातेः शानच्। **करणस्य** क्षेत्रस्य **विगमादूर्ध्वं** देहत्यागानन्तरम्। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेषु च' इत्यमरः। **स्थिरं** शाश्वतं **गणानां** प्रमथानां **पदं** स्थानम्। 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती। तस्य **प्राप्तये संकल्पन्ते** समर्था भवन्ति। क्लृप्तेः पर्याप्तिवचनस्याल-मर्थत्वात्तद्योगे 'नमःस्वस्ति'—इत्यादिना चतुर्थी। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इति भाष्यकारः। 'अव्यक्तं व्यञ्जयामास शिवः श्रीचरणद्वयम्। हिमाद्रौ शांभवादीनां सिद्धये सर्वकर्मणाम्। दृष्ट्वा श्रीचरणन्यासं साधकः स्थितये तनुम्। इच्छाधीन-शरीरो हि विचरेच्च जगत्त्रयम्।' इति शम्भुरहस्ये ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—सिद्धैः—सिद्ध शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) किन्नर तथा (२) सिद्धि को प्राप्त किये हुए योगी। वस्तुतः योगी अर्थ ही यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

उपचितबलिम्—कुछ टीकाकारों ने इस पाठ के स्थान पर 'उपहृतबलिम्' यह पाठ स्वीकार किया है। इसका अर्थ है जिसे बलि (पूजा) चढ़ा दी गयी

है ऐसे चरण-चिह्न को । यहाँ भी बलि का अर्थ पूजा ही है। अतः दोनों अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

अर्धेन्दुमौलेः—भगवान् शङ्कर अपने मस्तक पर चन्द्रमा की कला धारण करते हैं। अतः उन्हे अर्धेन्दुमौलि कहा जाता है।

चरणन्यासम्—शिवजी के चरण-चिह्न से अलङ्कृत इस स्थान को 'शम्भु रहस्य' नामक ग्रन्थ में 'श्रीचरणन्यास' कहा गया है। विल्सन का कहना है कि यह स्थान हरिद्वार के पास किसी पहाड़ी पर रहा होगा। यही कारण है कि वहाँ 'हर की पैड़ी' (अर्थात् शिव का चरण) स्थान है। किन्तु चमरी गायों, बर्फीले स्थानों तथा देवदारु के वृक्षों के वर्णनों से यह स्थान हरिद्वार से कहीं आगे होना चाहिए।

स्थिरगणपदप्राप्तये—शिव के लोक में, कैलास पर्वत पर, जो शिव की सेवा में सर्वदा रहते हैं उन्हें गण तथा प्रमथ कहते हैं। प्रमथ-पद अविनाशी बतलाया गया है॥ ५५॥

व्युत्पत्तिः—**व्यक्तम्**—√व्यञ्ज् + क्त + विभक्त्यादिः । **न्यासः**—नि + √अस् + घञ् + विभक्त्यादिः। **श्रद्दधानाः**—श्रत् + √धा + शानच् + कर्तरि + विभक्तिः॥ ५५॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ ५६॥

कीचक-वेणु वायु से पूरित होकर लेते मीठी तान,
किन्नरियाँ मिल कर गाती हैं सुन्दर त्रिपुर-विजय के गान।
गुहा-गर्भ में यदि गर्जनमय कर देगा मृदंग का नाद,
तो अवश्य पशुपति पाएँगे पूरे नाचरंग का स्वाद॥ ५६॥

अन्वयः—अनिलैः, पूर्यमाणाः, कीचकाः, मधुरम्, शब्दायन्ते; संसक्ताभिः, किन्नरीभिः, त्रिपुरविजयः, गीयते; कन्दरेषु, ते, निर्ह्रादः, मुरजे, ध्वनिः, इव, स्यात्, चेत्, (तर्हि), ततः, पशुपतेः, संगीतार्थः, समग्रः, भावी, ननु॥ ५६॥

शब्दार्थः—अनिलैः=वायु से, पूर्यमाणाः = पूरित, भरे हुए, कीचकाः = छेद वाले बाँस, मधुरम् = मधुर, मीठी, शब्दायन्ते = ध्वनि करते हैं। संसक्ताभिः = एक साथ मिलकर, किन्नरीभिः = किन्नर स्त्रियों के द्वारा त्रिपुरविजयः = त्रिपुर-विजय, गीयते= गाया जाता है। कन्दरेषु = कन्दराओं में, ते = तुम्हारा, निर्ह्रादः = गर्जन, मुरजे = मुरज पर, मृदङ्ग पर, अर्थात् मृदङ्ग की, ध्वनिः इव = ध्वनि की तरह, ताल की तरह, स्यात् चेत् = यदि हो जाय, (तर्हि = तो) ततः = उसके बाद, पशुपतेः = शिव जी का, संगीतार्थः = संगीत की वस्तु, संगीत, समग्रः = संपूर्ण, भावी = हो जाएगा, ननु = निश्चय ही ॥ ५६ ॥

अर्थः – वायु से भरे हुए छिद्रवाले बाँस मधुर ध्वनि करते हैं। एक साथ मिल कर किन्नर स्त्रियों के द्वारा त्रिपुरविजय गाया जाता है। कन्दराओं में तुम्हारा गर्जन मृदंग के ताल की तरह यदि हो जाय तो शिव जी का संगीत, निश्चय ही, संपूर्ण हो जायगा ॥ ५६ ॥

सञ्जीवनी—**शब्दायन्त इति**। हे मेघ, **अनिलैः पूर्यमाणाः कीचका** वेणु-विशेषाः। 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः। 'कीचको दैत्य-भेदे स्याच्छुष्कवंशे द्रुमान्तरे' इति विश्वः। **मधुरं** श्रुतिसुखं यथा तथा **शब्दायन्ते** शब्दं कुर्वन्ति। स्वनन्तीत्यर्थः। शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इत्यादिना क्यङ्। अनेन वंशवाद्यसंपत्तिरुक्ता। **संसक्ताभिः** संयुक्ताभिर्वंशवाद्यानुषक्ताभिर्वा। 'संरक्ताभिः' इति पाठे संरक्तकण्ठीभिरित्यर्थः। **किन्नरीभिः** किन्नरस्त्रीभिः। त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम्। 'तद्धितार्थोत्तरपद—' इति समासः। पात्रा-दित्वान्नपुंसकत्वम्। **तस्य विजयो गीयते**। **कन्दरेषु** दरीषु। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः। **ते** तव **निर्ह्रादो मुरजे** वाद्यभेदे **ध्वनिरिव**। मुरजध्वनिरिवेत्यर्थः। **स्याच्चेत्**तर्हि तव चरणसमीपे **पशुपते**र्नित्यसन्निहितस्य शिवस्य सङ्गीतम्। 'तौर्यत्रिकं तु सङ्गीतं न्यायारम्भे तूर्याणां त्रितये च' इति शब्दार्णवे। तदेवार्थः **सङ्गीतार्थः** सङ्गीतवस्तु। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। **समग्रः** सम्पूर्णो **भावी ननु** भविष्यति खलु। 'भविष्यति गम्यादयः' इति भविष्यदर्थे णिनिः ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—**कीचकाः**—'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' अमर-कोश के इस वचन के अनुसार 'कीचक' उस बाँस को कहते हैं, जो वायु भर

जाने से शब्दित होते हों। इस प्रकार 'कीचक' शब्द से ही वायु से भरे जाने पर शब्द करना अर्थ निकलने से 'कीचकाः' का 'अनिलैः पूर्यमाणाः शब्दायन्ते' यह विशेषण निरर्थक सिद्ध हो जाता है। अतः यहाँ कीचक शब्द अपने भीतर के विशेषणत्व को छोड़ कर केवल विशेष्यत्वरूप बाँस सामान्य का ही बोधक है।

संसक्ताभिः—यहाँ किन्नरियों के सहगान की ओर निर्देश किया गया है। स्त्रियों द्वारा संपादित सहगान अति मधुर होता है। कहीं-कहीं 'संरक्ताभिः' यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है—मधुर कण्ठवाली। दोनों पाठों के अभिप्राय में साम्य है।

किन्नरीभिः—किन्नर भी देवताओं का एक प्रकार है। देवों में किन्नर जाति गाने में प्रसिद्ध है। देवराज इन्द्र की सभा में किन्नर ही संगीत प्रस्तुत करते हैं।

त्रिपुरविजयः—मयदानव के द्वारा निर्मित तीन नगरों को 'त्रिपुर' कहते हैं। इस दानव ने पूर्वकाल में दैत्यों की सुरक्षा के लिये सोना, चाँदी तथा लोहे से तीन पुरों (नगरों) की रचना की थी। उन तीनों पुरों में रह कर दैत्यों ने उत्पात मचाना आरम्भ किया। ये तीनों पुर आकाश में उड़ा करते थे। इन्हें जीतना आसान न था। अतः देवों की प्रार्थना पर भगवान् शङ्कर ने इन तीनों पुरों का विनाश किया था। यह कथा भागवत में विस्तार के साथ वर्णित है। किन्नरियाँ त्रिपुरविजय से सम्बद्ध गीतों को वहाँ गाया करती थीं।

समग्रः—बाँसुरी का काम कीचक की ध्वनियाँ करती थीं। गान नृत्यरत किन्नरियों की ओर से प्रस्तुत था। अब कमी थी तो केवल मृदङ्ग की। वह कंदराओं में मेघ के गर्जन से पूरी हो जायगी। इस प्रकार नृत्य, गीत तथा वाद्य के मिल जाने पर संगीत के सभी अवयव पूरे हो जाते हैं॥ ५६॥

व्युत्पत्तिः—**पूर्यमाणाः**—√पृ (पूर्) + शानच् + प्रथमाबहुवचने विभक्ति-कार्यम्। **संसक्ताभिः**—सम् + √सञ्ज् + क्त + टाप + विभक्तिः। **निर्ह्रादः**—निर् + √ह्लाद् + अ (घञ्) + विभक्तिः। **भावी**— भविष्यति इति √—भू + इन् (णिनिः) भविष्यदर्थे + विभक्तिः॥ ५६॥

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ।। ५७ ।।

वहाँ तराई के दृश्यों के पार मिलेगा हंस द्वार,
क्रौंच-शैल की जो घाटी है भृगुपति के यश का विस्तार ।
बलिबन्धन में उद्यत वामन के श्यामल-रुचि-चरण-समान,
लम्बे तिरछे बन उत्तर को उसी मार्ग से कर प्रस्थान ।। ५७ ।।

अन्वयः—प्रालेयाद्रेः, उपतटम्, तान् तान्, विशेषान् अतिक्रम्य, हंसद्वारम्, भृगुपतियशोवर्त्म, यत्, क्रौञ्चरन्ध्रम्,तेन, बलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य, विष्णोः, श्यामः, पाद इव, तिर्यगायामशोभी (सन्), उदीचीम्, दिशम्, अनुसरेः ।। ५७ ।।

शब्दार्थः—प्रालेयाद्रेः = हिमालय पर्वत् के, उपतटम् = तराई में, तट के समीप, तान् तान् = उन-उन, विशेषान् = द्रष्टव्य स्थलों को, अतिक्रम्य = लाँघ कर, हंसद्वारम् = (मानसरोवर को जाने वाले) हंसों के लिए द्वार रूप, भृगुपति-यशोवर्त्म = परशुराम की कीर्ति का मार्गभूत, यत् = जो, क्रौञ्चरन्ध्रम् = क्रौञ्च पर्वत का छिद्र है, तेन = उससे, बलिनियमनाभ्युद्यतस्य = बलि को बाँधने के लिये तत्पर, विष्णोः = विष्णु के, वामन के, श्यामः = साँवले, पाद इव = पैर की तरह, तिर्यगायामशोभी (सन्) = तिरछे तथा लंबे (धारण किये गये रूप से) शोभित होते हुए, (तुम) उदीचीम् = उत्तर, दिशम् = दिशा को, अनुसरेः = बढ़ जाना ।। ५७ ।।

अर्थः—हिमालय पर्वत की तराइ में उन-उन द्रष्टव्य स्थलों को लाँघकर (मानसरोवर जाने वाले) हंसों के लिए द्वाररूप तथा परशुराम की कीर्ति का मार्गभूत जो क्रौंच पर्वत् का छिद्र है उससे, बलि को बाँधने के लिये तत्पर वामन के सावले पैर की तरह, तिरछे तथा लंबे (धारण किये गये रूप से) शोभित होते हुए तुम उत्तर दिशा की ओर बढ़ जाना ।। ५७ ।।

सञ्जीवनी—प्रालेयेति । प्रालेयाद्रेर्हिमाद्रेरुपतटं तटसमीपे । "अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना समीपार्थेऽव्ययीभावः । तांस्तान् । वीप्सायां द्विरुक्तिः ।

विशेषान् द्रष्टव्यार्थान् । 'विशेषोऽवयवे द्रव्ये द्रष्टव्योत्तमवस्तुनि' इति शब्दार्णवे । अतिक्रम्यानुसरेर्गच्छेरित्यनागतेन सम्बन्धः । हंसानां द्वारं **हंसद्वारम्** । मानस-प्रस्थायिनो हंसाः क्रौञ्चरन्ध्रेण सञ्चरन्त इत्यागमः । **भृगुपतेर्जामदग्न्यस्य यशोवर्त्म** यशःप्रवृत्तिकारणमित्यर्थः । **यत्क्रौञ्चस्याद्रे रन्ध्रमस्ति तेन क्रौञ्चबिलेन बलेर्दैत्यस्य नियमने** बन्धनेऽभ्युद्यतस्य **प्रवृत्तस्य विष्णोर्व्यापकस्य** त्रिविक्रमस्य **श्यामः** कृष्ण-वर्णः **पाद इव तिर्यगायामेन** क्षिप्रप्रवेशनार्थं तिरश्चीनदैर्घ्येण **शोभत** इति तथाविधः सन्नुदीचिमुत्तरां **दिशमनुसरेरनुगच्छ** । पुरा किल भगवतो देवाद्धूर्जटेर्धनुरुपनिष-दमधीयानेन भृगुनन्दनेन स्कन्दस्य स्पर्धया क्रौञ्चशिखरिणमतिनिशितविशिखमुखेन हेलया मृत्पिण्डभेदं भित्त्वा तत एव क्रौंचक्रोडादेव सद्यः समुज्जृम्भिते कस्मिन्नपि यशःक्षीरनिधौ निखिलमपि जगज्जालमाप्लावितमिति कथा श्रूयते ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—तान्-तान्—तत् शब्द से यहाँ प्रसिद्ध अर्थ बोधित होता है। यहाँ वीप्सा में द्वित्व हुआ है।

विशेषान्— यहाँ विशेष वस्तु कहने से कनखल के निकट स्थित द्रष्टव्य गंगा आदि ली जाती हैं।

हंसद्वारम्—वर्षा आरम्भ होने पर हंस मानसरोवर चले जाते हैं। वे क्रौंच पर्वत के जिस दर्रे से जाते हैं, उसे हंसद्वार कहते हैं।

भृगुपतियशोवर्त्म—परशुराम तथा कार्तिकेय साथ-साथ भगवान् शिव से धनुर्विद्या की शिक्षा लेते थे। शिव के इन दोनों शिष्यों में परस्पर स्पर्धा चला करती थी। एक दिन परशुराम जी ने वाण मारकर क्रौंच पर्वत में छिद्र कर दिया। उसी छिद्र से मानों उनकी कीर्ति भी बाहर निकलकर चतुर्दिक् फैल गयी। क्रौंच पर्वत के इसी छिद्र से हंस मानसरोवर जाया करते हैं। परशुराम को ही भृगुकुल में पैदा होने के कारण भृगुपति कहते हैं। परशुराम के द्वारा बनाये गये इस छिद्र को आजकल 'नीतिमाणा' दर्रा कहते हैं। यह गढ़वाल तथा कुमायूं की सीमा-संधि में है। यहाँ से तिब्बत जाया जाता है।

बलिनियमना०—विष्णोः—प्रह्लाद का पौत्र तथा विरोचन का पुत्र बलि बड़ा पराक्रमी था। इसने इंद्र को स्वर्ग से निर्वासित कर दिया था। तब भगवान्

विष्णु ने वामन रूप धारण कर उसे छला था। उससे सारा साम्राज्य दान में लेकर उसे पाताल भेज दिया था ॥ ५७ ॥

व्युत्पत्तिः—अतिक्रम्य—अति + √क्रम् + ल्यप्। अभ्युद्यतस्य—अभि + उत् + यम् + क्त + विभक्तिकार्यम्। उदीचीम्—उद् + √अञ्च् + क्विन् = उदक् ङीप् स्त्रियाम् + विभक्तिः ॥ ५७ ॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ ५८ ॥

ऊपर जा, दशमुख-भुज-भंजित जिसके तन में बनी दरार—
उस सुररमणी-दर्पण गिरिवर की कर पहुँनाई स्वीकार।
वह कैलास तुंग निज निर्मल शृंगों से नभमण्डल घेर,
शोभित होता ज्यों नटेश के सिमटे अट्टहास का ढेर ॥ ५८ ॥

अन्वयः—ऊर्ध्वम्, गत्वा, च, दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः, त्रिदशवनितादर्पणस्य, कैलासस्य, अतिथिः, स्याः। यः, कुमुदविशदैः, शृङ्गोच्छ्रायैः, खम्, वितत्य, प्रतिदिनम्, राशीभूतः, त्र्यम्बकस्य, अट्टहास, इव, स्थितः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थः—ऊर्ध्वम् = आगे, ऊपर, गत्वा = जाकर, च = यहाँ इसका कोई खास अर्थ नहीं है, दशभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः = दशानन (रावण) की भुजाओं के द्वारा दहला दिये गये हैं पत्थरों के जोड़ जिसके ऐसे, त्रिदशवनितादर्पणस्य = देव-सुंदयों के दर्पण तुल्य, कैलासस्य = कैलास पर्वत के, अतिथिः = अतिथि मेहमान, स्याः = बनना। यः = जो, कुमुदविशदैः = कुमुदों के समान उज्ज्वल, शृङ्गोच्छ्रायैः = ऊँची चोटियों से, खम् = आकाश को, वितत्य = घेर कर, आकाश को व्याप्त कर, प्रतिदिनम् = प्रतिदिन, राशीभूतः = एकत्र हुए, ढेर लगे हुए, त्र्यम्बकस्य = शंकर के, अट्टहासः इव = अट्टहास के समान, स्थितः = स्थित है ॥५८॥

अर्थः—ऊपर जाकर रावण की भुजाओं के द्वारा शिथिल या ढीले कर दिये गये हैं पत्थरों के जोड़ जिसके ऐसे, देवसुंदरियों के दर्पणतुल्य कैलास पर्वत के

अतिथि बनना । जो कुमुदों के समान उज्ज्वल ऊँची चोटियों से आकाश को व्याप्त कर, प्रतिदिन एकत्रित हुए शंकर के अट्टहास के समान स्थित है ॥ ५८ ॥

सञ्जीवनी— गत्वेति । क्रौञ्चविलनिर्गमनानन्तरमूर्ध्वं च गत्वा दशमुखस्य रावणस्य । भुजैर्बाहुभिरुच्छ्वासिताः विश्लेषिताः प्रस्थानां सानूनां सन्धयो यस्य तस्य । एतेन नयनकौतुकसद्भाव उक्तः । त्रिर्दशपरिमाणमेषामस्तीति त्रिदशाः । 'संख्ययाव्यया—' इत्यादिना बहुव्रीहिः । बहुव्रीहौ संख्येये डच्—'इत्यादिना समासान्तो डजिति क्षीरस्वामी । त्रिदशानां देवानां वनितास्तासां दर्पणस्य । कैलासस्य स्फटिकत्वाद्रजतत्वाद्वा बिम्बग्राहित्वेनेदमुक्तम् । कैलासस्यातिथिः स्याः । यः कैलासः कुमुदविशदैर्निर्मलैः शृङ्गाणामुच्छ्रायैरौन्नत्यैः खमाकाशं वितत्य व्याप्य प्रतिदिनं दिने दिने राशीभूतः त्र्यम्बकस्य त्रिलोचनस्याट्टहासोऽतिहास इव स्थितः । 'अट्टावतिशयक्षौमौ' इति यादवः । धावल्याद्धासत्वेनोत्प्रेक्षा । हासादीनां धावल्यं कविसमयसिद्धम् ॥ ५८ ॥

टिप्पणीः—दशमुख०—एक बार रावण ने सोचा—"कैलास पर जाकर शंकर की आराधना कष्टसाध्य है । मेरी भुजाओं में अपार बल है । क्यों न मैं कैलास को ही उठा कर लंका ले चलूँ ?" अतः पराक्रम के गर्वीले रावण ने कैलास को उठाना आरंभ किया । पर्वत अरराकर उखड़ने लगा । सभी घबरा उठे । पार्वती काँप गयीं । फलतः रावण के गर्व को तोड़ने के लिए शंकर जी ने अपने पैर के अंगूठे से कैलास पर्वत को दबाया । भगवान् के चरणभार से रावण भी दब गया । फिर उसने सामवेद की शाखाओं से शंकर की स्तुति की । फिर क्या था ? आशुतोष भगवान् प्रसन्न हो उठे । उन्होंने रावण को अभयदान दिया । यह कथा वाल्मीकि रामायण में है ।

त्रिदशवनितादर्पणस्य—कैलास पर्वत स्फटिक मणि की भाँति धवल है । देवसुंदरियाँ प्रस्तर-खंडों में ही अपनी आकृति देखकर प्रसाधन कर लेती हैं । उन्हे अन्य दर्पण की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

त्र्यम्बकस्याट्टहासः—हास्य का रङ्ग धवल बतलाया गया है । कैलास भी धवल है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह कैलास अन्य कुछ न होकर शंकर के प्रतिदिन किये गये अट्टहास का ढेर ही है ॥ ५८ ॥

व्युत्पत्तिः—कैलासस्य—के = जले लासः = लमनमस्य केलासः = स्फटिकः तस्यायं कैलासः—केलास + अन् + विभक्तिः । वितत्य—वि + √तन् + ल्यप् । त्र्यम्बकस्य—त्रीणि अम्बकानि = नेत्राणि यस्य तस्य, अथवा त्रयाणां लोकानाम् अम्बकः = पिता, अथवा त्रीन् वेदान् अम्बते = शब्दायते इति तस्य, अथवा त्रयः अकारोकारमकारा अम्बाः = शब्दाः वाचका अस्य, अथवा तिस्रोऽम्बा द्यौर्भुमिरापो यस्येति महाभारते (भानुजी दीक्षितः) स्थितः—√स्था + क्त (त) + विभक्तिः ॥ ५८ ॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥ ५९ ॥

वह, गज के तत्काल तराशे दाँत समान शुक्ल कैलास,
जब देगा चिकने अंजन-सा असित तुझे निज तट पर वास।
तब होगा अनिमेष दृगों से दर्शनीय उसका आकार,
जैसे गौरवर्ण हलधर के कन्धे पर नीला प्रावार ॥ ५९ ॥

अन्वयः—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे, त्वयि, तटगते, सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य, तस्य, अद्रेः, मेचके, वाससी, अंसन्यस्ते सति, हलभृतः, इव, स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम्, भवित्रीम्, शोभाम्, उत्पश्यामि ॥ ५९ ॥

शब्दार्थः—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे = चिकने तथा खूब फेंटे गये अंजन के समान कांतिवाले, त्वयि = तुम्हारे, तटगते = पास पहुँचने पर, सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य = तत्काल तराशे गये हाथी के दाँत के टुकड़े की भाँति गौर, तस्य = उस, अद्रेः = पर्वत की, मेचके = नीले, वाससि = वस्त्र को, अंसन्यस्ते सति = कंधे पर रखने पर, कन्धे पर रखे हुए, हलभृतः = वलराम की, इव = तरह, स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम् = निर्निमेष दृष्टि से दर्शनीय, भवित्रीम् = होनेवाली, शोभाम् = शोभा को, उत्पश्यामि = सम्भावना करता हूँ ॥ ५९ ॥

अर्थः—चिकने तथा खूब फेंटे गये अंजन के समान (काली) कांतिवाले तुम्हारे पास पहुँचने पर तत्काल तराशे गये हाथी के दाँत के टुकटे की भाँति गौर

उस (कैलास) पर्वत की, नीले वस्त्र को कन्धे पर रखे हुए वलराम की तरह, निर्निमेष दृष्टि से दर्शनीय भावी शोभा की मैं संभावना करता हूँ ॥ ५९ ॥

सञ्जीवनी—उत्पश्यामीति। स्निग्धं मसृणं भिन्नं मर्दितञ्च यदञ्जनं कज्जलं तस्याभेवाभा यस्य तस्मिंस्त्वयि तटगते सानुं गते सति सद्यः कृत्तस्य छिन्नस्य द्विरदरदनस्य गजदन्तस्य छेदवद् गौरस्य धवलस्य तस्याद्रेः कैलासस्य मेचके श्यामले। 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः। वाससि वस्त्रेऽसन्यस्ते सति हलभृतो बलभद्रस्येव स्तिमिताभ्यां नयनाभ्यां प्रेक्षणीयां शोभां भवित्रीं भाविनीमुत्पश्यामि। शोभा भविष्यतीति तर्कयामीत्यर्थः। श्रौती पूर्णोपमालंकारः ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—बलराम जी गौर वर्ण के थे। वे सर्वदा नीला वस्त्र धारण करते थे। जब कभी वे अपने गौर कंधे पर नीला दुपट्टा रख लेते थे तो लोग निर्निमेष दृष्टि से उनके सौंदर्य को निरखने लगते थे। ठीक ऐसी ही शोभा धवलवर्ण कैलास की उस समय होगी जबकि श्याम मेघ उसकी चोटी के पास मँडराने लगेगा ॥५९॥

व्युत्पत्तिः—स्निग्ध०—√स्निह् + क्त + विभक्तिः। भिन्न०√भिद् + क्त + विभक्त्यादिः। कृत्त०—√कृ + क्त + विभक्त्यादिः। प्रेक्षणीयाम्—प्र + √ईक्ष् + अनीयर + टाप् + विभक्तिः। भवित्रीम्—√भू + इ + तृच् + ङीप् + विभक्तिः ॥ ५९ ॥

हित्वा तस्मिन् भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ ६० ॥

यदि गौरी भुजंग-कंकण से रहित शम्भु का धरकर हाथ।
अपने उस क्रीडापर्वत पर चलें टहलने उनके साथ।
तू निज जल को भीतर दृढ़ कर मणि-तट पर चढ़ने के हेतु,
आगे चल कर बनते जाना लगातार सीढ़ी का सेतु ॥६०॥

अन्वयः—तस्मिन्, क्रीडाशैले, शम्भुना, भुजगवलयम्, हित्वा, दत्तहस्ता, गौरी, यदि, पादचारेण, विचरेत्, (तर्हि), अग्रयायी, स्तम्भिताऽन्तर्जलौघः, भङ्गी-

भक्त्या, विरचितवपुः, (त्वम्, आत्मानम्), मणितटारोहणाय, सोपानत्वम्, कुरु ॥ ६० ॥

शब्दार्थः—तस्मिन् = उस, क्रीडाशैले = केलि पर्वत पर, शम्भुना = शंकरजी के द्वारा, भुजगवलयम् = सर्परूप कंकण को, हित्वा = छोड़कर, दत्तहस्ता = हाथ से सहारा दी गयी, गौरी = पार्वती, यदि = यदि, पादचारेण = पैदल, विचरेत् = विचरण करें, (तर्हि = तो), अग्रयायी = आगे-आगे चलते हुए, स्तम्भितान्तर्जलौघः = अपने भीतर स्थित जलधार को रोक कर, भङ्गीभक्त्या = लगातार जुड़ी हुई सीढ़ियों की रचना के समान, विरचितवपुः = अपने शरीर को बना कर, त्वम् = तुम, आत्मानम् = अपने आपको, मणितटारोहणाय = मणितट पर चढ़ने के लिये, सोपानत्वम् = सीढ़ी के रूप में परिणत, कुरु = कर लेना, बना लेना ॥ ६० ॥

अर्थः—उस क्रीडापर्वत (कैलास) पर शंकर जी के द्वारा सर्परूप कंकण को छोड़ कर हाथ से सहारा दी गयी पार्वती यदि पैदल विचरण करें तो आगे-आगे चलते हुए तथा अपने भीतर स्थित जलधार को रोक कर, लगातार जुड़ी हुई सीढ़ियों की रचना के समान अपने शरीर को बनाकर, (तुम अपने आपको) मणितट पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों के रूप में परिणत कर लेना ॥ ६० ॥

सञ्जीवनी— हित्वेति । तस्मिन्क्रीडाशैले कैलासे । 'कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः । क्रीडार्थं निर्मिताः शंभोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन् ।' इति शंभुरहस्ये । शंभुना शिवेन भुजग एव वलयः कङ्कणं हित्वा गौर्या भीरुत्वात्त्यक्त्वा दत्तहस्ता सती गौरी पादचारेण विचरेद्यदि तर्ह्यग्रयायी पुरोगतस्तथा स्तम्भितो घनीभावं प्रापितोऽन्तर्जलस्यौघः प्रवाहो यस्य स तथाभूतः । भङ्गीनां पर्वणां भक्त्या रचनया विरचितवपुः कल्पितशरीरः सन् । मणीनां तटं मणितटं तस्यारोहणाय सोपानत्वं कुरु । सोपानभावं भजेत्यर्थः ॥ ६० ॥

टिप्पणी—भुजगवलयं हित्वा—भगवान् शङ्कर के आभूषण हैं—सर्प । हाथ में भी वे सर्प का कङ्कण पहनते हैं । अतः पार्वती उनके हाथ में हाथ डालकर चलने का साहस नहीं कर पातीं । किन्तु जब शङ्कर जी साँप के कङ्कण को निकाल कर दूर रख देते हैं तब वे शङ्कर जी के हाथ में हाथ मिलाकर, उनके हाथ का सहारा लेकर चलती हैं ।

व्युत्पत्तिः—हित्वा--√हा + क्त्वा । अग्रयायी—अग्र + √या + णिनिः + विभक्तिः ॥ ६० ॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥ ६१ ॥

वहाँ कड़ों की कड़ी कोर से तुझे रगड़ कर नीर निकाल,
सुर-सुन्दरियाँ बस कर देंगी तेरा फौवारे का हाल ।
यों आतप में सुख पाकर जो छोड़ें नहीं तुझे वे मीत !
तो तू भी उन कौतुकियों को घोर नाद कर करना भीत ॥६१॥

अन्वयः—तत्र, सुरयुवतयः, वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयम्, त्वाम्, अवश्यम्, यन्त्रधारागृहत्वम्, नेष्यन्ति; हे सखे, घर्मलब्धस्य, तव, ताभ्यः, यदि, मोक्षः, न, स्यात्, (तदा), क्रीडालोलाः, ताः, श्रवणपरुषैः, गर्जितैः, भाययेः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थः—तत्र = वहाँ, कैलास पर्वत पर, सुरयुवतयः = देवसुन्दरियाँ, वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयम् = कङ्कण की कड़ी कोर से कुरेद कर निकाले गये जलवाले, त्वाम् = तुम्हें, अवश्यम् = अवश्य ही, यन्त्रधारागृहत्वम् = यन्त्रों के द्वारा प्रवाहित की जा रही जलधाराओं के घर (Shower-bath) के रूप में, फौवारे के रूप में, नेष्यन्ति = बदल डालेंगी । हे सखे = हे मित्र, घर्मलब्धस्य = गर्मी में पाये गये, तव = तुम्हारा, ताभ्यः = उनसे, यदि = यदि, मोक्षः = छुटकारा,, न = न, स्यात् = हो पावे, (तदा = तब), क्रीडालोलाः = क्रीडा में आसक्त, ताः = उनको, श्रवणपरुषैः = कर्णकटु, घोर, कान फाड़नेवाले, गर्जितैः = गर्जनों से, भाययेः = भयभीत कर देना ॥ ६१ ॥

अर्थः—वहाँ (कैलास पर्वत पर) देव-सुन्दरियाँ कङ्कण की कड़ी कोर से तुम्हें कुरेद कर जल वाले फौवारे के रूप में अवश्य ही बदल डालेंगी । हे मित्र, गर्मी में पाये जाने से तुम्हारा उनसे यदि छुटकारा न हो पावे (तब) क्रीडा में आसक्त उन्हें कर्णकटु गर्जनों से भयभीत कर देना ॥ ६१ ॥

सञ्जीवनी—तत्रेति। तत्र कैलासेऽवश्यं सर्वथा सुरयुवतयो वलयकुलिशानि कङ्कणकोटयः। शतकोटिवाचिना कुलिशशब्देन कोटिमात्रं लक्ष्यते। तैरुद्घट्टनानि प्रहारास्तैरुद्गीर्णमुत्सृष्टं तोयं येन तं त्वां यन्त्रेषु धारा यन्त्रधारास्तासां गृहत्वं कृत्रिमधारागृहत्वं नेष्यन्ति प्रापयिष्यन्ति। हे सखे हे मित्र, घर्मे निदाघे लब्धस्य। घर्मलब्धत्वं चास्य देवभूमिषु सर्वदा सर्वर्तुसमाहारात्प्राथमिकमेघत्वाद्वा। तथोक्तम्—'आषाढस्य प्रथम—'इति। तव ताभ्यः सुरयुवतिभ्यो मोक्षो न स्याद्यदि तदा क्रीडालोलाः क्रीडासक्ताः। प्रमत्ता इत्यर्थः। ता सुरयुवतीः श्रवणपरुषैः कर्णकटुभिर्गर्जितैः। करणैः भाययेस्त्रासयेः। अत्र हेतुभयाभावादात्मनेपदं षुगागमश्च ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—मोक्षः—गर्मी जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब बादलों का आना, उनकी छाया, उनकी जलवृष्टि अति आनन्दप्रद प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में देवललनाएँ मेघ को क्यों छोड़ेंगी। वे उसे वहाँ रोक कर गर्मी की परेशानी दूर करेंगी। अतः यक्ष कह रहा है कि जब वे तुम्हें न छोड़ना चाहें तो डरा कर उन्हें भयभीत कर देना ॥ ६१ ॥

व्युत्पत्तिः—उद्गीर्ण०—उत् + √गॄ + क्त (न) + विभक्तिः। **मोक्षः**—√मुच् + सन् + अ + विभक्तिः। **गर्जितैः**— √गर्ज् + क्त भावे + विभक्तिः ॥ १६ ॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन् कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन् कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानि स्ववातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥ ६२ ॥

करते हुए कनक-कमलाकर मानसरोवर का पय पान,
मुख-पट सा बन कर तू देना ऐरावत को मोद महान।
अंशुक-तुल्य कल्पपादप के पल्लव मारुत से झकझोर,
नानाविध क्रीड़ाएँ करके लेना गिरि की मौज बटोर ॥६२॥

अन्वयः—हे जलद, हेमाम्भोजप्रसवि, मानसस्य, सलिलम्, आददानः, ऐरावतस्य, क्षणमुखपटप्रीतिम्, कुर्वन्, अंशुकानि, इव, कल्पद्रुमकिसलयानि, वातैः, धुन्वन्, नानाचेष्टैः, ललितैः, (त्वम्), तम्, नगेन्द्रम्, कामम्, निर्विशेः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थः—हे जलद = हे मेघ, हेमाम्भोजप्रसवि = सुवर्ण-कमलों को उत्पन्न करनेवाले, मानसस्य = मानसरोवर के, सलिलम् = जल को, आददानः = पीते हुए, ऐरावतस्य = ऐरावत हाथी के, क्षणमुखपटप्रीतिम् = जल पीने के समय मुख को ढकनेवाले वस्त्र का आनंद, कुर्वन् = देते हुए, अंशुकानि = सूक्ष्म वस्त्रों के, इव = सदृश, कल्पद्रुमकिसलयानि = कल्पवृक्ष के पल्लवों को, वातैः = वायु से, धुन्वन् = झकझोरते हुए, नानाचेष्टैः = अनेक तरह की चेष्टाओं से युक्त, ललितैः = क्रीडाओं के साथ, (त्वम् = तुम), तम् = उस, नगेन्द्रम् = पर्वतराज का, कामम् = यथेच्छ, निर्विशेः = आनन्द लेना ॥ ६२ ॥

अर्थः—हे मेघ, सुवर्ण-कमलों को उत्पन्न करने वाले मानसरोवर के जल को पीते हुए, ऐरावत हाथी के, जल पीने के समय, मुख को ढकनेवाले वस्त्र का आनंद देते हुए, सूक्ष्म वस्त्रों के सदृश कल्पवृक्ष के पल्लवों को वायु से झकझोरते हुए, अनेक तरह की चेष्टाओं से युक्त क्रीडाओं के साथ (तुम) उस पर्वतराज (कैलास) का यथेच्छ आनंद लेना ॥ ६२ ॥

सञ्जीवनी—हेमेति। हे **जलद**! **हेमाम्भोजानां प्रसवि** जनकम्। 'जिदृक्षि-' इत्यादिनेनिप्रत्ययः। **मानसस्य** सरसः **सलिलमाददानः**। पिबन्नित्यर्थः। **तथैरावतस्येन्द्रगजस्य**। कामचारित्वाद्वा शिवसेवार्थमिन्द्रागमनाद्वा समागतस्येति भावः। **क्षणे** जलदानकाले **मुखे पटेन** या **प्रीतिस्तां कुर्वन्** तया **कल्पद्रुमाणां किसलयानि** पल्लवभूतान्यंशुकानि सूक्ष्मवस्त्राणीव। 'अंशुकं वस्त्रमात्रे स्यात्परिधानोत्तरीययोः। सूक्ष्मवस्त्रे नातिदीप्तौ' इति शब्दार्णवे। **वातैर्मेघवातैर्धुन्वन्**। **नाना** बहुविधा**श्चेष्टास्तोयपानादयो** येषु **तैर्ललितैः** क्रीडितैः। 'ना भावभेदैः स्त्रीनृत्ये ललितं त्रिषु सुन्दरे। अस्त्रियां प्रमदागारे क्रीडिते जातपल्लवे' इति शब्दार्णवः। **तं नगेन्द्रं** कैलासं **कामं** यथेष्टं **निर्विशेः** समुपभुङ्क्ष्व। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः। यथेच्छविहारो मित्रगृहेषु मैत्र्याः फलम्। सहजमित्रं च ते कैलासः। मेघपर्वतयोरब्जसूर्ययोरब्धिचन्द्रयोः शिखिजीमूतयोः समीराग्न्योर्मित्रता स्वयमिति भावः ॥६२॥

टिप्पणी—**हेमाम्भोजप्रसवि**—ऐसी प्रसिद्धि है कि मानसरोवर के जल में सुवर्ण के कमल खिलते हैं।

व्युत्पत्तिः—**आददानः**—आ + √दा = शानच् + विभक्तिः । **कुर्वन्**—√कृ + शतृ (अत्) + विभक्तिः । **धुन्वन्**—√धु + शतृ + विभक्तिः ॥६२॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ ६३ ॥

जिसकी गंगारूपी साड़ी सरक पड़ी प्रिय-गिरि की गोद,
क्या न देखते पहचानोगे उस अलका को मित्र पयोद ! ।
वर्षा में जल-विन्दु चुवाते मेघवृन्द महलों पर आप—
धारण करती जैसे रमणी मुक्तामण्डित केश-कलाप ॥६३॥

अन्वयः—हे कामचारिन्, प्रणयिनः, इव, तस्य, उत्सङ्गे, स्रस्तगङ्गादुकूलाम्, अलकाम्, दृष्ट्वा, त्वम्, पुनः, नः ज्ञास्यसे, (इति), न, उच्चैर्विमाना, या, वः, काले, सलिलोद्गारम्, अभ्रवृन्दम्; कामिनी, मुक्ताजालग्रथितम्, अलकम्, इव, वहति ॥ ६३ ॥

शब्दार्थः—हे कामचारिन् = इच्छानुसार विचरण करनेवाले हे मेघ, प्रणयिनः = प्रेमी की, इव = तरह, तस्य = उस (कैलास पर्वत) की, उत्सङ्गे = गोद में, स्रस्तगङ्गादुकूलाम् = खिसक गयी है गंगारूपी साड़ी जिसकी ऐसी, अलकाम् = अलका को, दृष्ट्वा = देख कर, त्वम् = तुम, पुनः = तो, न = नहीं, ज्ञास्यसे = पहचानोगे, (इति = ऐसी वात), न = नहीं है । उच्चैर्विमाना = ऊँचे-ऊँचे सात मञ्जिले महलों से युक्त, या = जो अलका, वः = आपके, काले समय में, अर्थात् वर्षा में, सलिलोद्गारम् = वरसने वाले, अभ्रवृन्दम् = मेघ-समूह को, कामिनी = सुन्दरी स्त्री, मुक्ताजालग्रथितम् = मोती की लड़ियों से गूँथे गये, अलकम् = केश-कलाप की, इव = तरह, वहति = धारण करती है ॥६३॥

अर्थः—इच्छानुसार विचरण करनेवाले हे मेघ, प्रेमी की तरह उस (कैलास पर्वत) की गोद में खिसक गयी है गंगारूपी साड़ी जिसकी ऐसी अलका को देख कर तुम तो नहीं पहचानोगे (ऐसी वात) नहीं है (अर्थात् अवश्य ही पहचान

जाओगे)। ऊँचे-ऊँचे सात मंजिले महलों से युक्त जो अलका वर्षाकाल में बरसने वाले मेघ-समूह को उसी तरह धारण करती है जैसे कोई सुन्दरी स्त्री मोती की लड़ियों से गूँथे गये केश-कलाप को धारण करती है ॥ ६३ ॥

सञ्जीवनी—तस्येति । प्रणयिनः प्रियतमस्येव **तस्य** कैलासस्योत्सङ्ग ऊर्ध्वभागे कटौ च । 'उत्सङ्गो मुक्तसंयोगे सक्थन्यूर्ध्वतलेऽपि च' इति मालतीमालायाम् । गङ्गादुकूलं शुभ्रवस्त्रमिवेत्युपमितिसमासः । दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रे स्यादुत्तरीये सितांशुके' इति शब्दार्णवे । अन्यत्र तु गंगेव दुकूलम् । **तत्स्रस्तं** यस्यास्तां तथोक्तामलकां कुबेरनगरीं **दृष्ट्वा** कामिनीमिवेति शेषः । हे **कामचारिन्** ! **त्वं पुनस्त्वं तु न ज्ञास्यस** इति **न** किन्तु ज्ञास्यस एवेत्यर्थः । कामचारिणस्ते पूर्वमपि बहुकृत्वो दर्शनसंभवादज्ञानमसंभावितमेवेति निश्चयार्थं नञ्द्वयप्रयोगः । तदुक्तम्-'स्मृतिनिश्चयसिद्धयर्थेषु नञ्द्वयप्रयोगः' इति । **उच्चैरु**न्नतानि **विमानानि** सप्तभूमिकभवनानि यस्यां सा । 'विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभूमौ च सद्मनि' इति यादवः । मेघसंवाहनस्थानसूचनार्थमिदं विशेषणम् । अन्यत्र विमाना निष्कोपा । **याऽलका । वो** युष्माकं **काले** । मेघकाल इत्यर्थः । कालस्य सर्वमेघसाधारण्याद् व इति बहुवचनम् । सलिलमुद्गिरतीति **सलिलोद्गारम्** स्रवत्सलिलधारमित्यर्थः । **अभ्रवृन्दं** मेघकदम्बकं **कामिनी स्त्री मुक्ताजालै**र्मौक्तिकसरै**र्ग्रथितं** प्रत्युप्तम् 'पुंश्चल्यां मौक्तिके मुक्ता' इति यादवः । **अलकमिव** चूर्णकुन्तलानिव जातावेकवचनम् । 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः । **वहति** बिभर्ति । अत्र कैलासस्यानुकूलनायकत्वमलकायाश्च स्वाधीनपतिकाख्यनायिकात्वं ध्वन्यते । 'एकायत्तोऽनुकूलः स्यात्' इति । 'प्रियोपलालिता नित्यं स्वाधीनपतिका मता' इति च लक्षयन्ति । उदाहरन्ति च —'लालयन्नलकप्रान्तान् रचयन् पत्रमञ्जरीम् । एकां विनोदयन् कान्तां छायावदनुवर्तते ।' इति ॥ ६३ ॥

टिप्पणी – प्रणयिन उत्सङ्गे इव—प्रेमिका अपने प्रेमी की गोद में बेफिक्र निढाल हो पड़ जाती है । उस समय उसकी साड़ी खिसक कर नीचे गिर जाती है । ठीक यही हाल अलका का है । अलका अपने प्रेमी कैलास की गोद में पड़ी है । उसकी गगारूपी धवल साड़ी खिसक कर नीचे चली गयी है । यहाँ अलका प्रेमिका के रूप में, कैलास प्रेमी के रूप में तथा गंगा अलकानायिका की साड़ी के रूप में अंकित है ।

मुक्ताजालग्रथितमलकम्—सुंदरियाँ अपने कृष्ण केशकलाप में धवल मोतियों की लड़ियों को लगाती हैं। अलकापुरी में ऊँचे-ऊँचे महल हैं। उन महलों पर काले-काले मेघ बैठते हैं। मेघों से धवल जल की बूँदें टपकती हैं। अतः मालूम पड़ता है कि मानो अलकारूपी नायिका ने अपने मेघरूपी काले केश-कलाप में बूँद रूपी मोतियों को गूँथ रखा है॥ ६३॥

व्युत्पत्तिः—कामचारिन्—कामेन = स्वेच्छया चरतीति काम + √चर् + णिनिः + सम्बोधने विभक्तिकार्यम्। दृष्ट्वा—√ दृश् + क्त्वा॥ ६३॥

॥ इति डॉ॰ रमाशङ्करत्रिपाठिविरचितया सरस्वतीसमाख्यया व्याख्ययाऽलङ्कृते महाकविकालिदासविरचिते मेघदूतकाव्ये पूर्वमेघः समाप्तः॥

॥ शम्॥

महाकवि-कालिदास-विरचितं

मेघदूतम्

(उत्तरमेघः)

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ १ ॥

चपला इधर, उधर नवलाएँ, इधर इन्द्रधनु, चित्र उधर,
इधर मधुर गर्जन, मृदंग का नाद गान का मित्र उधर।
इधर विमल जल, उधर रत्नमय भूमि, तुंग तो उभय विशाल,
अलका के प्रासाद करेंगे यों तेरी तुलना, तत्काल ॥१॥

अन्वयः—यत्र, ललितवनिताः, सचित्राः, संगीताय, प्रहतमुरजाः, मणिमयभुवः, अभ्रंलिहाग्राः, प्रासादाः विद्युत्वन्तम्, सेन्द्रचापम्, स्निग्धगम्भीरघोषम्, अन्तस्तोयम्, तुङ्गम्, त्वाम्, तैः तैः, विशेषैः, तुलयितुम्, अलम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलकापुरी में, जहाँ पर, ललितवनिताः = सुन्दर रमणियों से युक्त, सचित्राः = चित्रों से अलंकृत, संगीताय = संगीत के लिये, प्रहतमुरजाः = बजाये गये मृदङ्गों से युक्त, मणिमयभुवः = मणियों से बने हुए फर्श वाले, अभ्रंलिहाग्राः = गगनचुम्बी, प्रासादाः = भवन, विद्युत्वन्तम् = बिजली से युक्त, सेन्द्रचापम् = इन्द्र धनुष से अलंकृत, स्निग्धगम्भीरघोषम् = मधुर गम्भीर गर्जन करने वाले, अन्तस्तोयम् = भीतर जल से भरे हुए, तुङ्गम् = ऊँचे, त्वाम् = तुम्हारे साथ, तैः तैः = उन-उन, विशेषैः = विशेषताओं से, तुलयितुम् = तुलना करने में, बराबरी करने में, अलम् = समर्थ हैं ॥ १ ॥

अर्थः—जिस अलकापुरी में सुन्दर रमणियों से युक्त, चित्रों से अलंकृत, संगीत के लिए बजाये गये मृदङ्गों से युक्त, मणियों से बनी हुई फर्श वाले, गगनचुम्बी भवन बिजली से सनाथ, इन्द्रधनुष से अलंकृत, मधुर गम्भीर गर्जन करनेवाले, भीतर जल से भरे हुए, तथा उन्नत तुम्हारे साथ उन-उन विशेषताओं से बराबरी करने में समर्थ हैं ॥ १ ॥

सञ्जीवनी—**विद्युत्वन्तमिति** । यत्रालकायां **ललिता** रम्या **वनिताः** स्त्रियो येषु ते ॥ चित्रैर्वर्तन्त इति **सचित्राः** । 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । ''वोपसर्जनस्य'' इति सहशब्दस्य समासः । **सङ्गीताय** तौर्यत्रिकाय **प्रहतमुरजा**स्ताडितमृदङ्गाः । 'मुरजा तु मृदङ्गे स्याड्ढक्का-मुरजयोरपि' इति शब्दार्णवे । **मणिमया** मणिविकारा **भुवो** येषु । अभ्रं लिहन्तीत्य-भ्रंलिहान्यभ्रंकषाणि । 'वहाभ्रेलिहः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विष—' इत्यादिना मुमागमः । **अग्राणि** शिखराणि येषां ते तथोक्ताः । अतितुङ्गा इत्यर्थः । **प्रासादा** देवगृहाणि । 'प्रासादो देवभूभुजाम्' इत्यमरः । विद्युतोऽस्य सन्तीति **विद्युत्वन्तम्** । **सेन्द्रचापमि**न्द्रचापवन्तम् । **स्निग्धः** श्राव्यो **गम्भीरो घोषो** गर्जितं यस्य **तम्** । **अन्तर्गतं तोयं** यस्य तम् । **तुङ्ग**मुन्नतं **त्वां तैस्तैर्विशेषैर्ल**लितवनितत्वादिधर्मै-**स्तुलयितुं** समीकर्तु**मलं** पर्याप्ताः । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्य-मरः । अत्रोपमानोपमेयभूतमेघप्रासादधर्माणां विद्युद्वनितादीनां यथासंख्यमन्योन्य-सादृश्यान्मेघप्रासादयोः साम्यसिद्धिरिति । बिम्बप्रतिबिम्बभावेनेयं पूर्णोपमा । वस्तुतो भिन्नयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोरुपमानोपमेयधर्मयोः पृथगुपादानाद्बिम्ब-प्रतिबिम्बभावः ॥ १ ॥

टिप्पणीः—**तुलयितुम्**—तुम्हारे साथ उन प्रासादों की इस प्रकार तुलना है—तुम्हारे पास बिजली है तो उनमें बिजली जैसी सुन्दरियाँ रहती हैं । तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो वे रङ्ग-बिरङ्गे चित्रों से सजाये गये हैं । तुम्हारे पास श्रवण-मधुर गर्जन है तो उनमें मनोहर मृदङ्ग बज रहे हैं । तुम्हारे भीतर जल है तो वहाँ के महलों का फर्श उन मणियों से बना है जिनसे पानी बहता रहता है । तुम उन्नत हो तो वे भी ऊँचे हैं ॥ १ ॥

व्युत्पत्तिः—**विद्युत्वन्तम्**— वि + √द्युत् + क्विप् = विद्युत् + मतुप् =

विभक्त्यादिः । स्निग्ध०—√स्निह् + क्त + विभक्त्यादिः । तुलयितुम्—√तुल् + णिच् + तुमुन् + विभक्तिः ॥ १ ॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ २ ॥

कर में लीला-कमल अलक में गुँथी ललित नव कुन्दकली,
लोध-धूल से कामिनियों के गोरे मुख की प्रभा भली।
जूड़े में टटके कुरबक हैं कानों पर शिरीष के फूल,
और माँग में तेरे कारण खिला कदम्ब चारुता-मूल ॥२॥

अन्वयः - यत्र, वधूनाम्, हस्ते, लीलाकमलम्, अलके, बालकुन्दानुविद्धम्, आनने, लोध्रप्रसवरजसा, पाण्डुताम्, नीता, श्रीः, चूडापाशे, नवकुरबकम्, कर्णे, चारु, शिरीषम्, सीमन्ते, च, त्वदुपगमजम्, नीपम्, (अस्ति) ॥ २ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलकापुरी में, वधूनाम् = वधुओं के, नवोढाओं के, हस्ते = हाथ में, लीलाकमलम् = क्रीडा-कमल, अलके = अलकों में, कुञ्चित केशों में, बालकुन्दानुविद्धम् = ताजे खिले कुन्द के फूल का गुम्फन, आनने = मुख पर, लोध्रप्रसवरजसा = लोध पुष्पों के पराग से, पाण्डुताम् = उज्ज्वलता को, नीता = प्राप्त करायी गयी, श्रीः = शोभा, चूडापाशे = केशपाश में, नवकुरबकम् = नूतन कुरबक पुष्प, कर्णे = कान में, चारु मनोहर, शिरीषम् = शिरीष-पुष्प, सीमन्ते = सीमन्त (माँग) में, च = भी, त्वदुपगमजम् = तुम्हारे आगमन से उत्पन्न, नीपम् = कदम्बपुष्प, (अस्ति) रहता है ॥ २ ॥

अर्थः—जिस अलकापुरी में नवोढाओं के हाथ में क्रीडा-कमल, अलकों में ताजे खिले कुन्द के फूलों का गुम्फन, मुख पर लोध-पुष्पों के पराग से उज्ज्वल शोभा, केशपाश में नूतन कुरबक पुष्प, कान में मनोहर शिरीष-पुष्प तथा सीमन्त (माँग) में तुम्हारे आगमन से उत्पन्न कदम्ब पुष्प (रहते हैं) ॥ २ ॥

सम्प्रति सर्वदा सर्वसंपत्तिमाह—

सञ्जीवनी—हस्त इति। यत्रालकायां वधूनां स्त्रीणां हस्ते लीलार्थं कमलं **लीलाकमलम्**। शरल्लिङ्गमेतत्। तदुक्तम्—'शरत्पङ्कजलक्षणा' इति। **अलके** कुन्तले। जातावेकवचनम्। अलकेष्वित्यर्थः। **बालकुन्दैः** प्रत्यग्रमाघ्यकुसुमैरनुविद्धम्। अनुवेधो ग्रन्थनम्। नपुंसके भावे क्तः। यद्यपि कुन्दानां शैशिरत्वमस्ति 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यभिधानात्तथापि हेमन्ते प्रादुर्भावः शिशिरे प्रौढत्वमिति व्यवस्था-भेदेन हेमन्तकार्यत्वमित्याशयेन बालेति विशेषणम्। 'अलकम्' इति प्रथमान्तपाठे सप्तमीप्रक्रमभङ्गः स्यात्। नाथस्तु नियतपुंलिङ्गताहानिश्चेति दोषान्तरमाह। तदसत्। 'स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्।' 'निर्धूतान्यलकानि पातिनमुरः कृत्स्नोऽधरः खण्डितः' इत्यादिषु प्रयोगेषु नपुंसकलिङ्गदर्शनात्। **आनने** मुखे **लोध्रप्रसवानां** लोध्रपुष्पाणां शैशिराणां **रजसा** परागेण। 'प्रसवस्तु फले पुष्पे वृक्षाणां गर्भमोचने' इति विश्वः। **पाण्डुतां नीता श्रीः** शोभा। **चूडापाशे** केशपाशे **नवकुरबकं** वासन्तः पुष्पविशेषः। **कर्णे चारु** पेशलं **शिरीषं** ग्रैष्मः पुष्पविशेषः। **सीमन्ते** मस्तककेशवीथ्याम्। 'सीमन्तमस्त्रियां मस्तकेशवीथ्यामुदाहृतम्' इति शब्दार्णवे। तवोपगमः। मेघागम इत्यर्थः। तत्र जातं **त्वदुपगमजम्**। वार्षिकमित्यर्थः। **नीपं** कदम्बकुसुमम्। सर्वत्रास्तीति शेषः, अस्तिर्भवतिपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति न्यायात्। इत्थं कमलकुन्दादितत्तत्कार्यसमाहाराभिधानादर्थात्सर्वर्तुसमाहार-सिद्धिः। कारणं विना कार्यस्यासिद्धेरिति भावः॥ २॥

टिप्पणीः—लीलाकमलम्—कमल ग्रीष्म तथा शरद् में खिलता है। यहाँ इसके शरद् में ही खिलने से तात्पर्य है। कुन्द हेमन्त (Winter) में तथा लोध्र शिशिर (Cold) में विकसित होते हैं। कुरबक वसंत (Spring) एवं शिरीष ग्रीष्म (Sommer) की शोभा बढ़ाते हैं। कदम्ब वर्षा आने के साथ-साथ प्रफुल्लित होता है। इस प्रकार महाकवि ने यह दिखलाया है कि अलका में छहों ऋतुओं की शोभा सर्वदा विराजमान रहती हैं। यह वर्णन अलका की अलौकिकता अवश्य बतलाता है, किन्तु इसके साथ-साथ इससे महाकवि के ऋतुविषयक ज्ञान की ढिलाई भी प्रतीत होती है।

लोध्रप्रसवरजसा—लोध्र पुष्प का पराग (Pollen) मुख पर लगाने के लिए पाउडर का काम देता था। इससे यह सिद्ध होता है कि अति प्राचीनकाल

में भी यहाँ की नारियाँ मुख पर पाउडर लगाती थीं। ओठों पर लाली लगाने का वर्णन कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में देखा जा सकता है ॥ २ ॥

व्युत्पत्तिः—अनुविद्धम्—अनु + √विध् + क्त (त) + विभक्त्यादिः। **सीमन्ते**—सीमायाः = सीम्नः वा अन्ते—सीमन् + अन्त। यहाँ माँग (Parting Line of Hair) के अर्थ में 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्तिक (नियम) से दीर्घ नहीं हो पाया। सीमन्त शब्द का पाठ शकन्ध्वादिगण में है 'माँग' से भिन्न अर्थ में 'सीमन्त' न होकर 'सीमान्त' हो जायगा। **उपगमजम्**—उप + √गम् + अ + जन् अ (ड) + विभक्त्यादिः ॥ २ ॥

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनां नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥ २ क ॥

जहाँ नित्य पुष्पित तरुओं पर गुंजित मत्त भ्रमर मिलते,
हंसावलि-मेखला सरसियाँ, नित्य कमल जिनमें खिलते।
जहाँ घरेलू मोर कूजते नित्य चमकते पंख पसार,
नित्य चन्द्रिका-धौत-तमस् रजनी का है रमणीय प्रसार ॥ २ क ॥

अन्वयः—यत्र, पादपाः, नित्यपुष्पाः, (अत एव), उन्मत्तभ्रमरमुखराः, नलिन्यः, नित्यपद्माः, (अत एव), हंसश्रेणीरचितरशनाः, भवनशिखिनः, नित्यभास्वत्कलापाः, (अत एव), केकोत्कण्ठाः, प्रदोषाः, नित्यज्योत्स्नाः, (अत एव), प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः, (सन्ति) ॥ (२क) ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलका में, पादपाः = वृक्ष, नित्यपुष्पाः = सर्वदा फूलों से लदे हुए, (अत एव = अतः), उन्मत्तभ्रमरमुखराः = मतवाले भौरों के गुञ्जन से युक्त हैं, नलिन्यः = कमलनियाँ, नित्यपद्माः = सदा विकसित कमलों से सुशोभित, (अत एव = अतः) हंसश्रेणीरचितरशनाः = हंसों की पंक्तिरूपी करधनी को धारण करने वाली हैं, भवनशिखिनः = गृह-मयूर, पालतू मोर, नित्यभास्वत्कलापाः = नित्य चमकीले पंखों से युक्त, (अत एव = इसीलिए),

केकोत्कण्ठाः = कूकने के समय प्रसन्नतापूर्वक ग्रीवा को ऊपर उठाए रहते हैं, प्रदोषाः = रात्रियाँ, नित्यज्योत्स्नाः = नित्य चाँदनी से प्रकाशित, (अत एव = अतः), प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः = अन्धकार के दूर रहने के कारण मनोहर दिखलायी देती हैं ॥ (२क) ॥

अर्थः—जिस अलका में वृक्ष सर्वदा फूलों से लदे हुए (अतः) मतवाले भौंरों के गुञ्जन से युक्त रहते हैं, कमलनियाँ सदा विकसित कमलों से सुशोभित (अतः) हंसों की पंक्तिरूपी करधनी को धारण करने वाली हैं, गृह-मयूर नित्य चमकीले पंखों से युक्त (अतः) कूकने के समय प्रसन्नतापूर्वक ग्रीवा को ऊपर उठाये रहते हैं, रात्रियाँ सदा चाँदनी से प्रकाशित (अतः) अन्धकार के दूर रहने के कारण मनोहर दिखलायी पड़ती हैं ॥ (२क) ॥

सञ्जीवनी—यत्रेति। **यत्रालकायां पादपा** वृक्षाः। **नित्यानि पुष्पाणि** येषां ते तथा न त्वृतुनियमादिति भावः। अत **एवोन्मत्तैर्भ्रमरैर्मुखराः** शब्दायमानाः **नलिन्यः** पद्मिन्यो **नित्यानि पद्मानि** यासां तास्तथा। न तु हेमन्तवर्जितमित्यर्थः। अत एव **हंसश्रेणीभी रचितरशनाः** नित्यं हंसपरिवेष्टिता इत्यर्थः। **भवनशिखिनः** क्रीडामयूरा **नित्यं भास्वन्तः कलापा** वर्हाणि येषां ते तथोक्ताः न तु वर्षास्वेव। अत एव **केकाभिरुत्कण्ठा** उद्ग्रीवाः **प्रदोषा** रात्रयो। **नित्या ज्योत्स्ना** येषां ते। न तु शुक्लपक्ष एव। अत एव **प्रतिहता तमसां वृत्तिर्व्याप्तिर्येषां ते च ते रम्याश्चेति** तथोक्ताः ॥ २ क ॥

टिप्पणी—पादपा नित्यपुष्पाः—अलका के वृक्षों में मौसम-बेमौसम सर्वदा फूल खिले रहते हैं। अतः भौंरे उनके ऊपर गुनगुनाते हुए मँडराते रहते हैं।

नलिन्यः—अलका के जलाशयों में कमल-लताएँ फैली हैं। उनमें हमेशा कमल विकसित होते रहते हैं। वैसे कमलों के विकसित होने का समय ग्रीष्म है।

भवनशिखिनः—घर-घर पालतू मोर हैं। मोर वर्षा की काली घटा देखकर कूकते हैं। इसी समय इनके नये-नये पंख निकलते हैं। किन्तु अलका में सर्वदा मयूर बोलते हैं तथा उनके पंख चमकीले एवं नये बने रहते हैं।

प्रदोषाः—सूर्यास्त के बाद भी अलका में कभी अँधेरा नहीं होता। वहाँ रात्रि में चाँदनी की लुभावनी बहार सबका मन मुग्ध करती रहती है ॥ (२क)

व्युत्पत्तिः—नलिन्यः—नल + इन् (इ) + प्रथमाबहुवचने विभक्तिकार्यम्। शिखिनः—शिखा + इनिः + विभक्तिकार्यम् ॥ (२क) ॥

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ २ ख ॥

नहीं अन्य कारण से आते आँसू, केवल आनन्दान्त,
अन्य न ताप भिन्न कामज, जो इष्ट मिलन से होता शान्त ।
प्रणय-कलह से भिन्न विरह अलका में होता नहीं कहीं,
यक्षों में यौवन रहता है सदा, जरा का नाम नहीं ॥२ख॥

अन्वयः—यत्र, वित्तेशानाम्, आनन्दोत्थम्, नयनसलिलम्, अन्यैः, निमित्तैः, न, इष्टसंयोगसाध्यात्, कुसुमशरजात्, अन्यः, तापः, न, प्रणयकलहात्, अन्यस्मात्, विप्रयोगोपपत्तिः, अपि, न, यौवनात्, अन्यत्, वयः, न, अस्ति, खलु ॥ (२ख) ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलकापुरी में, वित्तेशानाम् = यक्षों के, आनन्दोत्थम् = आनन्द से ही निकलते हैं, नयनसलिलम् = नेत्र-जल, अश्रु; अन्यैः = दूसरे, निमित्तैः = कारणों से, न = नहीं इष्टसंयोगसाध्यात् = प्रिय-मिलन से दूर किये जाने वाले, कुसुमशरजात्=काम-वाण के अतिरिक्त, अन्यः = दूसरा, तापः = ताप, क्लेश, न = नहीं है, प्रणयकलहात् = प्रेम-कलह से अतिरिक्त, अन्यस्मात् = अन्य कारण से, विप्रयोगोपपत्तिः = विरह-प्राप्ति, अपि = भी, न = नहीं होती है, यौवनात् = यौवन के अतिरिक्त, अन्यत् = दूसरी, वयः = अवस्था, न = नहीं, अस्ति होती है, खलु = यह निश्चय का सूचक अव्यय है ॥ (२ख) ॥

अर्थः—जिस अलकापुरी में यक्षों के आँसू आनन्द से ही निकलते हैं, दूसरे कारण से नहीं। प्रिय-मिलन से दूर किये जाने वाले, काम-वाण के अतिरिक्त दूसरा ताप नहीं है। प्रणय कलह के अतिरिक्त अन्य कारण से विरह-प्राप्ति भी नहीं होती है। यौवन के अतिरिक्त दूसरी अवस्था भी नहीं होती है ॥ (२ख) ॥

सञ्जीवनी—आनन्देति। यत्रालकायां वित्तेशानां यक्षाणाम्। 'वित्ताधिपः कुबेरः स्यात्प्रभौ धनिकयक्षयोः' इति शब्दार्णवे। आनदन्दोत्थमानन्दजन्यमेव नयन-

सलिलम् । अन्यैर्निमित्तैः शोकादिभिर्न । इष्टसंयोगेन प्रियजनसमागमेन साध्या-न्निवर्तनीयात् । न त्वप्रतीकार्यादित्यर्थः । कुसुमशरजान्मदनशरजादन्यस्तापो नास्ति । प्रणयकलहादन्यस्मात्कारणाद्विप्रयोगोपपत्तिर्विरहप्राप्तिरपि नास्ति । किं च यौवनादन्यद् वयो वार्धकं नास्ति । श्लोकद्वयं प्रक्षिप्तम् ॥ (२ ख। ॥

टिप्पणी—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि अलकापुरी में किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है। अतः वहाँ कोई रोता नहीं है। रोकर आँसू नहीं बहाता है। वहाँ अन्य कोई बात लोगों के मन को सन्तप्त नहीं करती। बस, काम की अभिलाषा ही लोगों के मन को उद्वेलित करती है, प्रिय मिलन होने पर यह संताप भी अपने आप समाप्त हो जाता है। वहाँ कलह तो होता ही नहीं है। केवल प्रेमकलह अवश्य होता है। वहाँ सभी सर्वदा जवान ही रहते हैं। कोई वृद्ध नहीं होता ॥ (२ख) ॥

व्युत्पत्तिः—आनन्दोत्थम्—आनन्द = उद् + √स्था + क (कर्तरि) = विभक्त्यादिः। कुसुमशरजात्—कुसुमशर + √जन् + डः (कर्तरि भूते) + विभक्त्यादिः। यौवनात्—युवन् + अण् + वृद्धिः, विभक्त्यादिकार्यञ्च ॥ (२ख) ॥

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ३ ॥

जिन पर तारागण की छाया करती है कुसुमों का काम-
फटिक रचे उन महल-थलों पर लेकर ललनाएँ अभिराम।
रसिक यक्ष होते तेरी सी ध्वनि वाले मृदंग का नाद,
सुरतरु से प्रसूत रतिदायक रतिफल मधु का लेते स्वाद ॥३॥

अन्वयः—यस्याम्, उत्तमस्त्रीसहायाः, यक्षाः, सितमणिमयानि, ज्योतिश्छाया-कुसुमरचितानि, हर्म्यस्थलानि, एत्य, त्वद्गम्भीरध्वनिषु, पुष्करेषु, शनकैः, आहते, कल्पवृक्षप्रसूतम्, रतिफलम्, मधु, आसेवन्ते ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—यस्याम् = जिस अलकापुरी में, उत्तमस्त्रीसहायाः = सुन्दरियों को साथ में लिए हुए, यक्षाः = यक्ष, सितमणिमयानि = धवल मणियों से बने हुए,

ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि = तारागणों के प्रतिबिम्बरूप पुष्पों से परिष्कृत, हर्म्यस्थलानि = प्रासादों की अट्टालिकाओं पर, एत्य = जाकर, त्वद्गम्भीरध्वनिषु = तुम्हारी गम्भीर ध्वनि की तरह गम्भीर ध्वनि वाले, पुष्करेषु = मृदङ्गों पर, शनकैः = धीरे-धीरे, आहतेषु = थपकी लगाये जाने पर, कल्पवृक्षप्रसूतम् = कल्पवृक्ष से उत्पन्न, रतिफलम् = रतिक्रीडारूप फलवाले, रतिफल नामक, मधु = मद्य का, आसेवन्ते = वारम्बार सेवन करते हैं ।। ३ ।।

अर्थः—जिस अलकापुरी में सुन्दरियों को साथ में लिये यक्ष धवल मणियों से बने हुए तथा तारागणों के प्रतिबिम्बरूप पुष्पों से परिष्कृत, प्रासादों की अट्टालिकाओं पर जाकर तुम्हारी गम्भीर ध्वनि की तरह गम्भीर ध्वनिवाले मृदगों पर धीरे-धीरे थपकी लगाये जाने पर कल्पवृक्ष से उत्पन्न, रतिक्रीडारूप फलवाले, रतिफलनामक मद्य का वारम्बार सेवन करते हैं ।। ३ ।।

सञ्जीवनी—यस्यामिति । **यस्यामलकायां यक्षा** देवयोनिविशेषा **उत्तमस्त्रीसहाया** ललिताङ्गनासहचराः सन्तः **सितमणिमयानि** स्फटिकमणिमयानि चन्द्रकान्तमयानि वा । अत एव **ज्योतिषां** तारकाणां **छायाः** प्रतिबिम्बान्येव **कुसुमानि** तैः **रचितानि** परिष्कृतानि । 'ज्योतिस्तारग्निभाज्वालादृक्पुत्रार्थध्वरात्मसु' वैजयन्ती । एतेन पानभूमेरम्लानशोभत्वमुक्तम् । **हर्म्यस्थलान्येत्य** प्राप्य । **त्वद्गम्भीरध्वनिरिव** ध्वनिर्येषां तेषु **पुष्करेषु** वाद्यभाण्डमुखेषु । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे गजे' इत्यमरः । **शनकैर्मन्दमाहतेषु** सत्सु । एतच्च नृत्यगीतयोरप्युपलक्षणम् । **कल्पवृक्षप्रसूतं** कल्पवृक्षस्य काङ्क्षितार्थप्रदत्वान्मध्वपि तत्र प्रसूतम् । रतिः फलं यस्य **तद्रतिफलाख्यं मधु** मद्य**मासेवन्ते** । आदृत्य पिबन्तीत्यर्थः । 'तालक्षीरसितामृतामलगुडान्मत्तास्थिकालाह्वयादार्विन्द्रद्रुममोरटेक्षुकदलीगुग्मप्रसूनैर्युतम् । इत्थं चेन्मधुपुष्पभङ्ग्युपचितं पुष्पद्रुमूलावृतं क्वाथेन स्मरदीपनं रतिफलाख्यं स्वादु शीतं मधु ।' इति मदिरार्णवे ।। ३ ।।

टिप्पणी—**ज्योतिश्छाया**—अलकापुरी में प्रासाद हैं । प्रासादों की छतें अति निर्मल धवल मणियों से बनी हुई हैं । रात्रि के समय उन पर तारागणों का प्रतिबिम्ब पड़ता है । अतः प्रतीत होता है मानों इनमें फूल चित्रित किये गये हों । ऐसा दृश्य रति-क्रीडा को बढ़ाने वाला है ।

रतिफलम्—देवताओं के उद्यान का नाम है नन्दन। नन्दन उपवन में एक वृक्ष है। उसका नाम है—कल्प या कल्पवृक्ष। उससे एक रस निकलता है। इसको 'रतिफल' कहते हैं। इसको पीने से व्यक्ति की रति-क्रीडा-क्षमता बढ़ जाती है। यह एक प्रकार का मद्य है॥ ३॥

व्युत्पत्तिः—सितमणिमयानि—सितमणि + मयट् + विभक्तिकार्यम्। एत्य—आ + √इण् + क्त्वा (ल्यप्)। शनकैः—शनैस् + अकच् + विभक्तिः। आहृतेषु—आ + √हन् + क्त + विभक्तिः॥ ३॥

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥ ४॥

सुरसरिता-शीकर से शीतल पवन जिन्हें ठंडा करता,
मन्दारों का कुंज तीर पर छाया से आतप हरता।
वहाँ खेल में वे कन्याएँ—देवगणों को जिनकी चाह,
कनक-बालुका की मूठों से गुप्त-मणी की लेतीं थाह॥४॥

अन्वयः—यत्र, मन्दाकिन्याः, सलिलशिशिरैः, मरुद्भिः, सेव्यमानाः, अनुतटरुहाम्, मन्दाराणाम्, छायया, वारितोष्णाः, अमरप्रार्थिताः, कन्याः, कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः, (अतः), अन्वेष्टव्यैः, मणिभिः, संक्रीडन्ते॥ ४॥

शब्दार्थः—यत्र=जिस अलकापुरी में, जहाँ पर, मन्दाकिन्याः=आकाशगङ्गा के, सलिलशिशिरैः=जल से शीतल, मरुद्भिः=पवन से, सेव्यमानः=सेवित, अनुतटरुहाम्=तट पर उगे हुए, मन्दाराणाम्=मन्दारवृक्षों की, छायया=छाया से, वारितोष्णाः=निवारित ताप वाली, दूर की गई धूपवाली, अमरप्रार्थिताः=देवगणों के द्वारा चाही गयी, कन्याः=कुमारियाँ, कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः=सुनहरी बालुओं में मुट्ठी रखकर छिपायी गयी, (अतः=अत एव) अन्वेष्टव्यैः=ढूँढने के योग्य, मणिभिः=मणियों से, संक्रीडन्ते=क्रीड़ा किया करती हैं॥ ४॥

अर्थः—जिस अलकापुरी में आकाश-गंगा के जल से शीतल पवन से सेवित, तट पर उगे हुए मंदार वृक्षों की छाया से निवारित ताप वाली, देवगणों के द्वारा चाही गयी (यक्ष-) कुमारियाँ सुनहरी वालुओं में मुट्ठी रखकर छिपायी गयी (अत एव)ढूँढने के योग्य मणियों से क्रीडा किया करती हैं ॥ ४ ॥

सञ्जीवनी—**मन्दाकिन्या इति ।** यत्रालकायाममरैः प्रार्थिताः । सुन्दर्य इत्यर्थः । **कन्या** यक्षकुमार्यः । 'कन्या कुमारिकानार्योः' इति विश्वः । **मंदाकिन्या** गंगायाः **सलिलेन शिशिरैः** शीतलैर्**मरुद्भिः सेव्यमानाः** सत्यः । तथानुतटं तटेषु रोहन्तीत्यनुतटरुहः । क्विप् । तेषां **मन्दाराणां छायया**नातपेन **वारितोष्णाः** शमितातपाः सत्यः । **कनकस्य सिकतामुष्टिभिर्निक्षेपेन गूढैः** संवृतैरत एवान्वेष्टव्यैर्मृ**ग्यैर्मणिभी रत्नैः संक्रीडन्ते ।** गुप्तमणिसंज्ञया दैशिकक्रीडया सम्यक्क्रीडन्तीत्यर्थः । 'क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च' इत्यात्मनेपदम् । 'रत्नादिभिर्वालुकादौ गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभिः । कुमारीभिः कृता क्रीडा नाम्ना गुप्तमणिः स्मृता ॥ रासक्रीड़ा गूढमणिर्गुप्तकेलिस्तुलायनम् । पिच्छकन्दुकदण्डाद्यैः स्मृता दैशिककेलयः ॥' इति शब्दार्णवे ॥४॥

टिप्पणी–**मरुद्भिः सेव्यमानाः छायया वारितोष्णाः, अमरप्रार्थिताः कन्याः**—यक्षकुमारियाँ आकाश गंगा के तट पर बैठी हैं। सुरसरिता के जलकणों से शीतल पवन बहकर उनको सुख प्रदान कर रहा है। उनकी सेवा कर रहा है। तट पर उगे हुए मन्दार वृक्ष अपनी छाया से उनके ताप का निवारण कर रहे हैं। वे यक्ष-कन्याएँ इतनी सुन्दरी हैं कि देवगण भी उनसे विवाह करने के लिए ललकते रहते हैं।

कनकसिकतामुष्टि—बालक-बालिकाएँ तथा युवक-युवतियाँ एक खेल खेलती हैं। इस खेल में एक साथ दो व्यक्ति आमने सामने बैठते हैं। दोनों के बीच प्रायः एक फुट लंबी तथा तीन-चार अंगुल ऊँची धूल या बालू की दीवार बनायी जाती है। एक व्यक्ति दाहिने हाथ में मणि या अन्य कोई वस्तु लेकर उसी दीवार में गाड़ते हुए तथा बाएँ हाथ की हथेली से धूल को पाटते हुए एक सिरे से दूसरे सिरे तक बढ़ता है। इसके बाद दूसरी ओर का व्यक्ति धूल की रेखा पर अपनी हथेली रखता है। फिर यह देखा जाता कि वह वस्तु उसकी पकड़ में आयी या नहीं। इस खेल को प्राचीन काल में 'गुप्तमणि' या 'गूढ़मणि' कहा जाता था ॥४॥

व्युत्पत्तिः—प्रार्थिताः—प्र + √अर्थ + णिच् + क्त + (कर्मणि) + विभक्तिः। सेव्यमानाः— √सेव् + शानच् (कर्मणि) + टाप् + विभक्तिः। अन्वेष्टव्यैः—अनु + √इष् + तव्यत् (कर्मणि) + विभक्तिः ॥ ४ ॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ५ ॥

नीवी को उसास से सरकी साड़ी कम्पित कर से खींच,
प्रियतम वहाँ डुबाते मुग्धा वधुओं को लज्जा के बीच।
वे चाहतीं रत्नमय दीपों की द्युति को करना निर्मूल,
मूढ़ मुट्ठियों में भर उन पर व्यर्थ फेंकतीं कुंकुम धूल ॥५॥

अन्वयः—यत्र, अनिभृतकरेषु, प्रियेषु, नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम्, क्षौमम्, रागात्, आक्षिपत्सु (सत्सु) ह्रीमूढानाम्, बिम्बाधराणाम्, चूर्णमुष्टिः, अर्चिस्तुङ्गान्, रत्नप्रदीपान् अभिमुखम्, प्राप्य, अपि, विफलप्रेरणा, भवति ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलकापुरी में, अनिभृतकरेषु = चंचल हाथों वाले, शैतानी करनेवाले हाथों से युक्त, प्रियेषु = प्रियतम जनों के, नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम्=कमर में साड़ी बाँधने की गाँठ के ढीली पड़ने से शिथिल, क्षौमम् = रेशमी साड़ी को, रागात् = आसक्तिवश, प्रेम के कारण, आक्षिपत्सु (सत्सु) = हटा देने के लिए खींचने पर, ह्रीमूढानाम् = लज्जा के कारण किंकर्तव्यविमूढ, बिम्बाधराणाम् = बिम्ब फल के समान रक्त अधरों वाली सुंदरियों के, चूर्णमुष्टिः = मुट्ठी भर कुंकुम आदि चूर्ण, अर्चिस्तुङ्गान् = उन्नत प्रकाश वाले, रत्नप्रदीपान् = मणिमय दीपों को, अभिमुखम् = सामने, प्राप्य = पाकर, अपि = भी, विफलप्रेरणा = निष्फल-प्रक्षेप, भवति=हो जाता है ॥ ५ ॥

अर्थः—जिस अलकापुरी में चंचल हाथों वाले प्रियतम को साड़ी के कटिबंध के ढीले पड़ने से शिथिल रेशमी साड़ी को प्रेम के कारण खींचने पर लज्जा के कारण किंकर्तव्यविमूढ, बिम्बफल के समान रक्त अधरोंवाली सुन्दरियों के मुट्ठी

भर कुंकुम आदि चूर्ण उन्नत प्रकाश वाले मणिमय दीपों को सामने पाकर भी निष्फलप्रक्षेपण (अर्थात् उनका फेंका जाना निष्फल हो जाता है) हो जाता है ।।५।।

सञ्जीवनी—नीवीति । यत्रालकायामनिभृतकरेषु चपलहस्तेषु **प्रियेषु नीवी** वसनग्रन्थिः । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । सैव **बन्धो** नीवीबन्धः । चूतवृक्षवदपौनरुक्त्यम् । **तस्योच्छ्वसितेन** त्रुटितेन **शिथिलं क्षौमं दुकूलं** रागादाक्षिपत्स्वाहरत्सु सत्सु **ह्रीमूढानां** लज्जाविधुराणाम् । **बिम्बं** बिम्बिकाफलम् । 'बिम्बं फले बिम्बिकायाः प्रतिबिम्बे च मण्डले' इति विश्वः । बिम्बमिवाधरो यासां तासां **बिम्बाधराणां** स्त्रीविशेषाणाम् । 'विशेषाः कामिनी-कान्ताभीरुबिम्बाधराङ्गनाः' इति शब्दार्णवे । **चूर्णस्य** कुङ्कुमादेर्मुष्टिः । **अर्चिर्भि-र्मयूखैस्तुङ्गान्** । 'अर्चिर्मयूखशिखयोः' इति विश्वः । **रत्नान्येव प्रदीपानभिमुखं** यथा तथा प्राप्यापि **विफलप्रेरणा** दीपनिर्वाणाक्षमत्वान्निष्फलप्रक्षेपा भवति । अत्रा-ङ्गनानां रत्नप्रदीपनिर्वापणप्रवृत्त्या मौग्ध्यं व्यज्यते ।। ५ ।।

टिप्पणी—अनिभृतकरेषु .... विफलप्रेरणा—

रात्रि आरम्भ हो चुकी थी । नवोढा प्रियतमा सजधज कर अपने कक्ष में प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही थी । उसी समय पान चवाते बेले की माला धारण किये प्रियतम ने प्रेयसी के कक्ष में प्रवेश किया । कक्ष मणिमय दीपों से जगमगा रहा था । उसमें प्रवेश करके नायक बहुत देर तक चंदा जैसे लुभावने प्रियतमा के मुख को एक टक निरखता रहा । फिर लपककर उसने अपनी प्रेयसी को बाहों में जकड़ लिया । कुछ देर तक नोक-झोंक के बीच चुंबन आदि का आदान-प्रदान चलता रहा । रस का परि-पाक होने पर नायक से न रहा गया । फलतः छीना-झपटी में पहले से ही ढीली नायिका की साड़ी की गाँठ को खोलकर नायक ने उसे खींच दिया । प्रियतमा का सर्वाङ्ग सुंदर शरीर प्रियतम के समक्ष अनावृत हो गया । बेचारी नवोढा लज्जा के मारे सिमट गयी । उसने पास में पड़े कुंकुम की एक मुट्ठी उठाकर दीपक पर फेंकी । वह चाहती थी कि दीपक बुझ जाय । पर दीपक साधारण नहीं, मणिमय था । अतः वह बुझ न सका । सुंदरी के कुंकुभ चूर्ण का फेंकना निरर्थक सिद्ध हुआ ।। ५ ।।

व्युत्पत्तिः—अनिभृत०—अ + नि + √भृ + क्त (त) + विभक्त्यादिः । क्षौमम्—क्षुमा + अण् + विभक्त्यादिः । आक्षिपत्सु—आ + √क्षिप् + अत् + विभक्त्यादिः । ०मूढानाम्—√मुह् + क्त (त) + विभक्त्यादिः ॥ ५ ॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ६ ॥

उसके सप्तभूम भवनों में ऊपर गये वायु के संग,
बूँदों से चित्रावलियों का चौपट करके सारा रंग।
तेरे ऐसे बादल भय से धर कर धूमसदृश आकार,
तितर बितर हो निकल भागते झपट झरोखे के ही द्वार ॥६॥

अन्वयः—नेत्रा, सततगतिना, यद्विमानाग्रभूमीः, नीताः, त्वादृशाः, जलमुचः, आलेख्यानाम्, स्वजलकणिकादोषम्, उत्पाद्य, सद्यः, शङ्कास्पृष्टाः, इव, धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः, जर्जराः (सन्तः), जालमार्गैः, निष्पतन्ति, ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—नेत्रा = उड़ा कर लें जाने वाले, सततगतिना = वायु के द्वारा, यद्विमानाग्रभूमीः = जिस (अलका) के सात तल्ले वाले प्रासादों के ऊपरी भाग में, नीताः = पहुँचा दिये गये, त्वादृशाः = तुम्हारे जैसे, जलमुचः = मेघ, आलेख्यानाम् = चित्रों में, स्वजलकणिकादोषम् = अपने जल-कणों से दोष, उत्पाद्य = उत्पन्न करके, पैदा करके, सद्यः = शीघ्र, उसी क्षण, शङ्कास्पृष्टाः = डरे हुए, शङ्कित, इव = से, धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः = धुँआ निकलने की नकल करने में निपुण, जर्जराः (सन्तः) = टुकड़े-टुकड़े होकर, जर्जर होते हुए, जालमार्गैः = झरोखों से, निष्पतन्ति = निकल जाते हैं, निकल भागते हैं ॥ ६ ॥

अर्थः—उड़ाकर ले जाने वाले वायु के द्वारा जिस (अलका) के सात तल्ले वाले प्रासादों के ऊपरी भाग में पहुँचा दिये गये तुम्हारे जैसे मेघ चित्रों में अपने जलकणों से दोष उत्पन्न करके उसी क्षण डरे हुए-से, धुँआ निकलने की नकल करने में निपुण (अतः) टुकड़े-टुकड़े होकर झरोखों से निकल जाते हैं ॥ ६ ॥

सञ्जीवनी—**नेत्रेति**। हे मेघ, **नेत्रा** प्रेरकेण **सततगतिना** सदागतिना वायुना। 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः। **यस्या** अलकाया **विमानानां** सप्तभूमिकभवनानामग्रभूमीरुपरिभूमिका **नीताः** प्रापिताः। त्वमिवदृश्यन्त इति **त्वादृशाः**। त्वत्सदृशा इत्यर्थः। 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति कञ् प्रत्ययः। **जलमुचो** मेघाः। आलेख्यानां सच्चित्राणाम्। 'चित्रं लिखितरूपाढ्यं स्यादालेख्यं तु यत्नतः' इति शब्दार्णवे। **नवजलकणैर्दोषं** स्फोटनमुत्पाद्य **सद्यः शङ्कास्पृष्टा इव** सापराधत्वाद्भयाविष्टा इव। 'शङ्का वितर्कभययोः' इति शब्दार्णवे। **धूमोद्गारस्य** धूमनिर्गमस्यानुकृतावनुकरणे **निपुणाः** कुशला **जर्जरा** विशीर्णाः सन्तो **जालमार्गैर्गवाक्षरन्ध्रैर्निष्पतन्ति** निष्क्रामन्ति। यथा केनचिदन्तःपुरसंचारवता दूतेन गूढवृत्त्या रहस्यभूमिं प्रापितास्तत्र स्त्रीणां व्यभिचारदोषमुत्पाद्य सद्यः साशङ्काः क्लृप्तवेशान्तरा जारा क्षुद्रमार्गैर्निष्क्रामन्ति तद्वदिति ध्वनिः। प्रकृतार्थे शङ्कास्पृष्ट इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—**शङ्कास्पृष्टाः**—यहाँ शङ्का का अर्थ है—भय। मेघों ने अपराध किया है अतः वे भयभीत हुए हैं। उन्होंने जल की बूंदों से चित्रों को खराब किया है। यही उनका अपराध है। इसी भय से वे टुकड़े-टुकड़े हो झरोखों से निकल भागते हैं। यहाँ अचेतन में चेतन के व्यवहार का आरोप किया गया है। आज भी शैतान बच्चे घर के भीतर की वस्तुओं को नुकसान पहुँचा कर भयवश निकल भागते हैं।

निष्पतन्ति—मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में यह ध्वनि निकलती है—जिस प्रकार अंतःपुर के दूतों द्वारा छिपाकर एकांत स्थान में लाये गये जार (व्यभिचारी व्यक्ति) स्त्रियों से व्यभिचार करके (स्त्रियों को दूषित करके) पकड़े जाने के भय से वेश बदल कर शीघ्र ही चोर दरवाजे से खिसक जाते हैं, उसी प्रकार मेघ भी चित्रों को दूषित कर गृहस्वामिनियों के भय से निकल भागते हैं।

स्त्रियों तथा आलेख्यों में लिङ्ग की समता न होने के कारण यहाँ 'समासोक्ति' अलङ्कार नहीं है। 'शङ्कास्पृष्टा इव' में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६ ॥

व्युत्पत्तिः—नेत्रा—√नी + तृच् तृतीयैकवचने विभक्तिकार्यम् । नीताः—√नी + त (क्त) + विभक्तिकार्यम् । उत्पाद्य—उत् + √पद् + णिच् + ल्यप् । जर्जराः—√जर्ज् + अर + विभक्तिः ॥ ६ ॥

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ७ ॥

चारु चँदोवे की जाली से चन्द्रकान्त जो लटक रहे,
तेरे हटने से शशिकिरणें पड़ कर उनसे नीर बहे।
उसकी बूँदें दृढ़-आलिंगन-अलस अंगनाओं के अंग,
टपक टपक कर शीलत करतीं होता सुरत-खेद का भंग ॥७॥

अन्वयः—यत्र, निशीथे, त्वत्संरोधाऽपगमविशदैः, चन्द्रपादैः, स्फुटजललवस्यन्दिनः, तन्तुजालावलम्बाः, चन्द्रकान्ताः, प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानाम्, स्त्रीणाम्, सुरतजनिताम्, अङ्गग्लानिम्, व्यालुम्पन्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलका में, जहाँ पर, निशीथे = अर्धरात्रि में, त्वत्संरोधाऽपगमविशदैः = तुम्हारी रुकावट हट जाने से निर्मल, चन्द्रपादैः = चन्द्रमा की किरणों से, स्फुटजललवस्यन्दिनः = स्वच्छ जल-बिंदुओं को टपकाने वाली, तन्तुजालावलम्बाः = चँदोवे की जाली से लटक रही, चन्द्रकान्ताः = चन्द्रकान्त-मणियाँ, प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानाम् = प्रियतम की बाहुओं के (द्वारा कस-कर किये गये) आलिङ्गन के कारण श्रान्त, स्त्रीणाम् = स्त्रियों की, सुरतजनिताम् = रति-क्रीडा से उत्पन्न, अङ्गग्लानिम् = शारीरिक थकान को, व्यालुम्पन्ति = दूर करती हैं ॥ ७ ॥

अर्थः—जिस अलका में अर्धरात्रि के समय तुम्हारी रुकावट हट जाने से निर्मल चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से स्वच्छ जल-विन्दुओं को टपकाने वाली, चँदोवे की जाली से लटक रही चन्द्रकान्त मणियाँ प्रियतम की बाहुओं के (द्वारा कस कर किये गयें) आलिंगन के कारण श्रान्त स्त्रियों की रतिक्रीड़ा से उत्पन्न शारीरिक थकान को दूर करती हैं ॥ ७ ॥

सञ्जीवनी—यत्रेति। यत्रालकायां निशीथेऽर्धरात्रे। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः। त्वत्संरोधस्य मेघावरणस्यापगमेन विशदैर्निर्मलैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रमरीचिभिः। 'पादा रश्म्यंघ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। स्फुटजललवस्यन्दिन उल्बणाम्बुकणस्राविणस्तन्तुजालावलम्बा वितानलम्बिसूत्रपुञ्जाधाराः। तद्गुणगुम्फिता इत्यर्थः। चन्द्रकान्ताश्चन्द्रकान्तमणयः प्रियतमानां भुजैरालिङ्गनेषूच्छ्वासितानां प्रशिथिलीकृतानाम्। श्रान्त्या जलसेकाय वा शिथिलितालिङ्गनानामिति यावत्। स्त्रीणां सुरतजनितामङ्गग्लानिं शरीरखेदम्। अवयवानां ग्लानतामिति यावत्। व्यालुम्पन्त्यपनुदन्ति ॥ ७ ॥

टिप्पणी—तन्तुजालावलम्बाः—यहाँ 'तन्तुजाल' का अर्थ है—तन्तुवितान (झालर)। झालरों में मणियाँ लटकती रहती हैं। खिड़कियों एवं झरोखों से चन्द्रकिरणें प्रवेश कर चन्द्रकान्तमणियों का स्पर्श करती हैं। किरणों का स्पर्श पाते ही मणियाँ जल की बूँदें टपकाने लगती हैं। ये जल-बिंदु अतिशीतल तथा श्रमनिवारक होते हैं ॥ ७ ॥

व्युत्पत्तिः—० ग्लानिम्—√ग्लै + नि (क्ति) भावे + विभक्त्यादिः। व्यालुम्पन्ति—वि + आ + √लुप् + झि + विभक्तिकार्यम् ॥ ७ ॥

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्द्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ८ ॥

जो अपने रंगीन गले से धनपति का यश करते गान,
ऐसे किन्नरगण को ले कर बड़े बड़े कामी धनवान।
करते हुए रसीली बातें रच सुर-नर्तकियों का गोल,
बाहर के उपवन में जा कर लेते मौज वहाँ जी खोल ॥८॥

अन्वयः—यत्र, अक्षय्याऽन्तर्भवननिधयः, विबुधवनितावारमुख्यासहायाः, बद्धालापाः, कामिनः, प्रत्यहम्, रक्तकण्ठैः, धनपतियशः, उद्गायद्भिः, किन्नरैः, सार्धम्, वैभ्राजाख्यम्, बहिरुपवनम्, निर्विशन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलकापुरी में, जहाँ, अक्षय्यान्तर्भवननिधयः = भवनों के भीतर अनन्त निधियों से सम्पन्न, विबुधवनितावारमुख्या सहायाः = अप्सरारूपी वेश्याओं को साथ लिये हुए, बद्धालापाः = रसीली बातें करते हुए, कामिनः = कामीजन, प्रत्यहम् = प्रतिदिन, रक्तकण्ठैः = मधुर कण्ठध्वनि वाले, धनपतियशः = कुबेर के यश को, उद्गायद्भिः = ऊँचे स्वर से गाने वाले, किन्नरैः = किन्नरों के, सार्धम् = साथ, वैभ्राजाख्यम् = 'वैभ्राज' नामक, बहिरुपवनम् = बाह्य उद्यान में, निर्विशन्ति = प्रवेश करके आनन्द लेते रहते हैं ॥ ८ ॥

अर्थः—जिस अलकापुरी में भवनों के भीतर (स्थापित) अनन्त निधियों से सम्पन्न, अप्सरारूपी वेश्याओं को साथ लिये हुए, रसीली बातें करते हुए कामीजन प्रतिदिन, कुबेर के यश को ऊँचे स्वर से गाने वाले किन्नरों के साथ 'वैभ्राज' नामक बाह्य उद्यान में प्रवेश करके आनन्द लेते रहते हैं ॥ ८ ॥

सञ्जीवनी—**अक्षय्येति** । **यत्रा**लकायाम् । क्षेतुं शक्याः **क्षय्याः** । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः । ततो नञ्समासः । भवनानामन्तरन्त**र्भवनम्** । 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिनाव्ययीभावः । अक्षय्या अन्तर्भवने **निधयो** येषां ते तथोक्ताः । यथेच्छभोगसम्भावनार्थमिदं विशेषणम् । **विबुधवनिता** अप्सरसस्ता एव **वारमुख्या** वेश्यास्ता एव **सहाया** येषां ते तथोक्ताः । 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवाथ सा जनैः । सत्कृता वारमुख्या स्यात्' इत्यमरः । **बद्धालापाः** सम्भावितसंलापाः **कामिनः** कामुकाः **प्रत्यहम**हन्यहनि । 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना समासः । **रक्तो** मधुरः **कण्ठः** कण्ठध्वनिर्येषां ते तैः सुन्दरकण्ठध्वनिभि**र्धनपतियशः** कुबेरकीर्ति**मुद्गायद्भि**रुच्चैर्गायनशीलैः । देवगानस्य गान्धारग्रामत्वात्तारतरं गायद्भिरित्यर्थः । **किन्नरैः** **सार्धं** सह । विभ्राजस्येदं वैभ्राजम् । वैभ्राजमित्याख्या यस्य **तद्वैभ्राजाख्यम्** । 'विभ्राजेन गणेन्द्रेण त्रातं वैभ्राजमाख्यया' इति शम्भुरहस्ये । चैत्ररथस्य नामान्तरमेतत् । **बहिरुपवनं** बाह्योद्यानं **निर्विशन्त्य**नुभवन्ति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—विबुधवनिता०—'विबुधवनिता' शब्द अप्सराओं के लिए प्रयुक्त हुआ है । यहाँ 'वनिता' का अर्थ 'पत्नी' नहीं है । 'वारमुख्या' उन गणिकाओं को कहते हैं जो उच्च श्रेणी की कलाकार हुआ करती हैं । इनका कार्य देवालयों में नृत्यादि करना होता था । यही कारण है कि समाज में इन्हें आदरणीय स्थान

प्राप्त था। देखिए अमरकोश—'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवाऽथ सा जनैः। सत्कृता वारमुख्या स्यात्।' वैभ्राजाख्यम्—विभ्राज शङ्कर का एक सेवक है। उसने इस उद्यान की रक्षा कर रखी थी। यही कारण है कि इस उद्यान को 'वैभ्राज' कहते थे। उद्यान का एक दूसरा नाम 'चैत्ररथ' भी था॥ ८॥

व्युत्पत्तिः—क्षय्या०—√क्षि + यत् + विभक्त्यादिः। कामिनः—√काम् + इनिः + विभक्त्यादिः। उद्गायद्भिः—उत् + √गै + शतृ (अत्) + तृतीया-बहुवचने विभक्तिकार्यम्। निर्विशन्ति—निर् + √विश् + लटि प्रथमपुरुषबहु-वचने विभक्तिकार्यम्॥ ८॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥ ९॥

चलने की धुन में अलकों से टपक पड़े सुरतरु के फूल,
बाले पत्ते, कर्णफूल जो पतित हुए कानों को भूल।
मोती की लड़, उलझ उरोजों की टक्कर से टूटे हार,
वहाँ सबेरे सूचित करते कामिनियों का निशाविहार॥९॥

अन्वयः—यत्र, कामिनीनाम्, नैशः, मार्गः, सवितुः, उदये, गत्युत्कम्पात्, अलकपतितैः, मन्दारपुष्पैः, पत्रच्छेदैः, कर्णविभ्रंशिभिः, कनककमलैः, मुक्ताजालैः, स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः, हारैः, च, सूच्यते॥ ९॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलका में, कामिनीनाम् = अभिसारिकाओं का, नैशः = रात का, मार्गः = मार्ग, रास्ता, सवितुः = सूर्य के, उदये = निकलने पर, गत्युत्कम्पात् = चलने के समय हिल जाने के कारण, अलकपतितैः = केशों से गिरे हुए, मन्दारपुष्पैः = मन्दार के फूलों से, पत्रच्छेदैः = किसलयों के टुकड़ों से, कर्णविभ्रंशिभिः = कानों से गिरे हुए, कनककमलैः = सुवर्ण कमलों से, मुक्ताजालैः = मोतियों की लड़ियों से, स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः = कुचप्रदेश पर टूटे हुए सूत्र वाले, हारैः = हारों से, च = भी, सूच्यते = सूचित होता है, अनुमानित होता है॥ ९॥

अर्थः—जिस अलका में अभिसारिकाओं का (प्रिय मिलन हेतु जाने का) रात का रास्ता सूर्य के निकलने पर, चलने के समय हिल जाने के कारण केशों से गिरे हुए मन्दार के फूलों से तथा किसलयों के टुकड़ों से, कानों से गिरे हुए सुवर्ण-कमलों से, मोतियों की लड़ियों से, कुचप्रदेश पर टूटे हुए सूत्रवाले हारों से भी सूचित होता है ॥ ९ ॥

सञ्जीवनी—गतीति । यत्रालकायां **कामिनीनाम**भिसारिकाणाम् निशि भवो **नैशो मार्गः सवितुरुदये** सति **गत्या** गमनेनो**त्कम्प**श्चलनं तस्माद्धेतो**रलकेभ्यः पतितैर्मन्दारपुष्पैः** सुरतरुकुसुमैः । तथा **पत्राणां** पत्रलतानां **छेदैः** खण्डैः । पतितै-रिति शेषः । तथा कर्णेभ्यो विभ्रश्यन्तीति **कर्णविभ्रंशीनि तैः कनकस्य कमलैः** । षष्ठ्या विवक्षितार्थलाभे सति मयटा विग्रहेऽध्याहारदोषः । एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम् । तथा **मुक्ताजालै**र्मौक्तिकसरैः । शिरोनिहितैरित्यर्थः । तथा **स्तनयोः परिसरः** प्रदेशस्तत्र **छिन्नानि सूत्राणि** येषां **तैर्हारैश्च सूच्यते** ज्ञाप्यते । मार्गपतितमन्दार-कुसुमादिलिङ्गैरयमभिसारिकाणां पन्था इत्यनुमीयत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—कामिनीनाम्—अतिशयेन कामः विद्यते आसामिति कामिन्यः तासाम् । इसका यहाँ अर्थ है—अभिसारिका । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अभि-सारिका की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं—'अभिसारयते कान्तं या मन्मथव-शंगता । स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका ॥' इसका अर्थ इस प्रकार है—'कामपीड़ित जो स्त्री प्रेमी को अपने पास बुलाती है, अथवा जो स्वयं प्रेमी के पास जाती है वह है—अभिसारिका ।'

गत्युत्कम्पात्—अभिसारिका खूब सजधज कर अँधेरी रात में प्रियतम से मिलने जा रही है । वह बड़ी तेज चाल से चल रही है । अतः शरीर के शीघ्र सञ्चालन से कहीं जूड़े का फूल गिर रहा है तो कहीं केशों में लगी सुन्दर-सुन्दर कोंपलें आदि गिर रही हैं । इन्हीं वस्तुओं को सूर्योदय होने पर जब लोग देखते हैं तब अन्दाज लगाते हैं कि रात्रि में इसी रास्ते से अभिसारिका अपने प्रिय से मिलन सुख का आनन्द लेने गयी थी ॥ ९ ॥

व्युत्पत्तिः—पतितैः √पत् + क्तः (कर्तरि) + विभक्तिः । **०छेदैः**—√छिद् + घञ् + विभक्त्यादिः । **नैशः**—निशा निश् वा + अण् + विभक्ति-वृद्धिश्च ॥ ९ ॥

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभङ्गं प्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ १० ॥

मदन जानकर वहाँ धनद के मित्र रुद्र को रहते आप,
तेरे उठने पर भी भयवश प्रायः नहीं उठाता चाप।
चतुर नारियों की वे बांकी भौंहें, वह चितवन अतिवाम,
कामि-लक्ष्य पर नहीं चूकतीं कर देती हैं उसका काम ॥१०॥

अन्वयः—यत्र, मन्मथः, धनपतिसखम्, देवम्, साक्षात्, वसन्तम्, मत्वा, भयात्, षट्पदज्यम्, चापम्, प्रायः, न, वहति, तस्य, आरम्भः, सभ्रूभङ्गप्रहित-नयनैः, कामिलक्ष्येषु, अमोघैः, चतुरवनिताविभ्रमैः, एव, सिद्धः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—यत्र = जहाँ, जिस अलकापुरी में, मन्मथः = कामदेव, धनपति-सखम् = धनपति (कुवेर) के मित्र, देवम् = महादेव को, साक्षात् = प्रत्यक्षरूप से, वसन्तम् = निवास करते हुए, मत्वा = जानकर, भयात् = भयवश, षट्पदज्यम् = भौंरों की प्रत्यञ्चावाले, चापम् = (अपने) धनुष को, प्रायः = प्रायः, न = नहीं, वहति = धारण करता है, तस्य = उस (काम) का, आरम्भः = कार्य, सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः = भौंहें तिरछी करके चलाये गये नयनों के साथ, कामिलक्ष्येषु = कामीजनरूपी लक्ष्यों पर, अमोघैः = कभी भी निष्फल न होने वाले, चतुरवनिताविभ्रमैः = विदग्ध वनिताओं के विलासों से, एव = ही, सिद्धः = सिद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

अर्थः—जहाँ कामदेव धनपति (कुबेर) के मित्र महादेव को साक्षात् निवास करते हुए जानकर भयवश भौंरों की प्रत्यञ्चावाले (अपने) धनुष को प्रायः नहीं धारण करता है। उस (कामदेव) का कार्य भौंहें तिरछी करके चलाये गये नयनों के साथ, कामीजनरूपी लक्ष्यों पर कभी भी निष्फल न होनेवाले, विदग्ध वनिताओं के विलासों से ही सिद्ध हो जाता है ॥ १० ॥

सञ्जीवनी—मत्वेति। यत्रालकायां मन्मथः कामः। धनपतेः कुबेरस्य सखेति धनपतिसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्।' तं देवं महादेवं साक्षाद्वसन्तं सखिस्नेहान्नि-

जरूपेण वर्तमानं **मत्वा** ज्ञात्वा **भयाद्** भ्रूलिक्षणभयात्षटपदा **एव ज्या** मौर्वी यस्य **तं चापं प्रायः** प्राचुर्येण **न वहति** न बिभर्ति। कथं तर्हि तस्य कार्यसिद्धिरत आह—सभ्रूभङ्गेति। **तस्य** मन्मथस्या**रम्भः** कामिजनविजयव्यापारः **सभ्रूभङ्गं प्रहितानि** प्रयुक्तानि **नयनानि** दृष्टयो येषु तैस्तथोक्तैः **कामिन एव लक्ष्याणि तेष्वमोघैः।** सफलप्रयोगैरित्यर्थः। मन्मथचापोऽपि क्वचिदपि मोघः स्यादिति भावः। **चतुराश्च ता वनिताश्च** तासां **विभ्रमै**र्विलासैरेव **सिद्धो** निष्पन्नः। यदनर्थकरं पाक्षिकफलं च तत्प्रयोगाद्दूरे निश्चितसाधनप्रयोग इति भावः॥ १०॥

टिप्पणी— मत्वा देवम्—भगवान् शङ्कर धनाधिपति कुबेर के परम मित्र हैं। अतः वे अलकापुरी में भी रहते हैं—'बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या' (पूर्व मेघ, श्लोक ७)। एक बार कामदेव ने भगवान् शंकर पर बाण चलाया था। फलतः वह उनकी कोपाग्नि में जलकर भस्म हो गया था। अतः अब अनंग हो जाने पर भी वह उनके आस-पास भयवश लोगों पर बाण नहीं चलाता है।

षट्पदज्यम्—कामदेव का धनुष पुष्पों का है। उसकी प्रत्यञ्चा भौंरों की बनी हुई है। भ्रमरावलि काम को भड़कानेवाली है। अतः उसे कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा के रूप में बतलाया गया है। देखिये—कुमारसंभव ४। १५ भी।

अमोघैः—कामदेव का बाण अमोघ है या नहीं, यह विचारणीय हो सकता है। किन्तु सुन्दरियों के नयनबाण निश्चय ही अमोघ हैं। वे अभीप्सित व्यक्ति को बिना घायल किये नहीं छोड़ते। इससे शङ्कर जी के पास में भी धनुष-बाण न उठाने पर भी कामदेव का काम सुन्दरियों के बाँकी चितवनों से हो जाता है। अलकापुरी की सुन्दरियों की बाँकी आँखों के वर्णन का यह एक तरीका है॥१०॥

व्युत्पत्तिः—मत्वा—√मन् + क्त्वा। **वसन्तम्**—√वस् + लट् (शतृ) + विभक्त्यादिः। **मन्मथः**—मनो मथ्नातीति, पृषोदरादिवत्साधुः। अथवा मननं मत् = चेतना, 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' इति क्विप्, तस्य सर्वापहारी लोपः, 'गमादीनां क्वौ' इति न लोपः। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुक्। √मन् + क्विप् = मत्। मथतीति मथः, पचाद्यच्। मथ् + अच्। मतो मथो मन्मथः। (ष० त०)।

सिद्धः—√सिध् + क्त (त) + विभक्त्यादिः ॥ १० ॥

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ ११ ॥

रंग बिरंगे वसन, कोंपलें, कुसुम, विभूषण विविध प्रकार,
नयनों में रँग लाने वाला मद्य मदन का परमाधार ।
चरणकमल रंजन करने के योग्य महावर आदि अनेक,
सुन्दरियों के मण्डन देता वहाँ कल्पपादप ही एक ॥११॥

अन्वयः—यस्याम्, एकः, कल्पवृक्षः, (एव), चित्रम्, वासः, नयनयोः, विभ्रमादेशदक्षम्, मधु, किसलयैः, सह, पुष्पोद्भेदम्, भूषणानाम्, विकल्पान्, च, चरणकमलन्यासयोग्यम्, लाक्षारागम्, सकलम्, अबलामण्डनम्, सूते ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—यस्याम् = जिस अलका में, एकः = एक, अकेला, कल्पवृक्षः = कल्पवृक्षः, (एव = ही), चित्रम् = रंग-बिरंगा, वासः = वस्त्र, नयनयोः = नेत्रों को, विभ्रमादेशदक्षम् = विलास सिखलाने में दक्ष, मधु = मदिरा, किसलयैः = किसलयों के, कोंपलों के, सह = साथ, पुष्पोद्भेदम् = फूल, पुष्प; भूषणानाम् = आभूषणों के, विकल्पान् = विविध प्रकार, च = तथा, चरणकमलन्यासयोग्यम् = चरणकमलों में लगाने योग्य, लाक्षारागम् = महावर, (इत्थम् = इस प्रकार), सकलम् = सम्पूर्ण, अबलामण्डनम् = स्त्रियों के आभूषणों को, सूते = उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

अर्थः—जिस अलका में अकेला कल्पवृक्ष (ही) रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्र, नेत्रों को विलास सिखलाने में दक्ष मदिरा, आभूषणों के लिए कोंपलों के साथ पुष्प तथा चरण-कमलों में लगाने योग्य महावर (इस प्रकार) स्त्रियों के सम्पूर्ण आभूषणों को उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

सञ्जीवनी—वास इति । यस्यामलकायां चित्रं नानावर्णं वासो वसनम् । परिधेयमण्डनमेतत् । नयनयोर्विभ्रमाणामादेश उपदेशे दक्षम् । अनेन विभ्रमद्वारा

मधुनो मण्डनत्वमनुसन्धेयम् । तच्च मण्डनादिवद्देहधार्येऽन्तर्भाव्यम् । मधु मद्यम् । किसलयैः पल्लवैः सह पुष्पोद्भेदम् । उदयं चेत्यर्थः । इदं तु कचधार्यम् । भूषणानां विकल्पान्विशेषान् । देहधार्यमेतत् । तथा चरणकमलयोर्न्यासस्य योग्यम् । रज्यतेऽनेनेति रागो रञ्जकद्रव्यम् । लाक्षैव रागस्तं लाक्षारागं च । चकारोऽङ्गरागादिविलेपनमण्डनोपलक्षणार्थः । सकलं सर्वम् । चतुर्विधमपीत्यर्थः । अबलामण्डनं योषित्प्रसाधनजातमेकः कल्पवृक्ष एव सूते जनयति । न तु नानासाधनसम्पादनप्रयास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—वासश्चित्रम्—स्त्रियाँ रङ्ग-बिरङ्गी साड़ियाँ अधिक पसन्द करती हैं । मदिरापान कर वे अपनी मुखाकृति को मधूक जैसा रसीला तथा रङ्गदायक बनाती हैं । उनके केशकलाप में फूलों की मालाएँ तथा कानों में कोंपलें शोभा बढ़ाती हैं । उनके रक्ताभ चरण महावर की महिमा से अधिक आकर्षक बनाये जाते हैं । कल्पवृक्ष इन सभी वस्तुओं को उन्हें प्रदान करता है । कल्पवृक्ष स्वर्ग के उद्यान का एक ऐसा वृक्ष है, जो माँगनेवालों को मनचाही वस्तुएँ देता है ॥ ११ ॥

व्युत्पत्तिः—०आदेशः—आ + √दिश् + घञ् + विभक्त्यादिः । उद्भेदः—उद् + √भिद् + घञ् + विभक्त्यादिः । भूषणानाम्—√भूष् + ल्युट् (अन्) + विभक्त्यादिः । ०रागः—√रञ्ज् + घञ् + विभक्त्यादिः ॥ ११ ॥

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
तस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ १२ ॥

देख दूर से जिसका तोरण सुन्दर सुरपति-धनुष-समान,
उसे धनाधिप के भवनों से उत्तर मेरा घर तू जान ।
उसके पास प्रिया का पाला पोष्य पुत्र सा करके प्यार,
करप्राप्य गुच्छों से लद कर अतिशय झुका बाल मन्दार ॥१२॥

अन्वयः—तत्र, धनपतिगृहात्, उत्तरेण, अस्मदीयम्, आगारम्, सुरपतिधनुश्चारुणा, तोरणेन, दूरात्, लक्ष्यम्; यस्य, उपान्ते, मे, कान्तया, वर्द्धितः, कृत-

कतनयः, हस्तप्राप्यस्तवकनमितः, बालमन्दारवृक्षः, (अस्ति) ॥ १२ ॥

शब्दार्थः — तत्र = उस अलकापुरी में, धनपतिगृहात् = कुबेर के प्रासाद से, उत्तरेण = उत्तर की ओर अवस्थित, सुरपतिधनुश्चारुणा = इन्द्रधनुष के समान मनोहर, तोरणेन = दरवाजे के कारण, दूरात् = दूर से ही, लक्ष्यम् = दिखलायी पड़ता है; यस्य = जिसके, उपान्ते = पास में, मे = मेरी, कान्तया = प्रियतमा के द्वारा, वर्द्धितः = पाला गया, बड़ा किया गया, कृतकतनयः = गोद लिये गये (Adopted) पुत्र के समान, हस्तप्राप्यस्तवकनमितः = हाथ से पाये जा सकने योग्य पुष्प-गुच्छों से झुका हुआ, बालमन्दारवृक्षः = छोटा सा मन्दार का वृक्ष, (अस्ति = है) ॥ १२ ॥

अर्थ—उस अलकापुरी में कुबेर के प्रासादों से उत्तर की ओर अवस्थित हम लोगों का घर इन्द्रधनुष के समान मनोहर दरवाजे (Gate) के कारण दूर से ही दिखलायी पड़ता है। जिसके पास में मेरी प्रियतमा के द्वारा पाला गया, गोद लिये गये पुत्र के समान, हाथ से पाये जा सकनेवाले पुष्प-गुच्छों से झुका हुआ, छोटा-सा मन्दार वृक्ष (है) ॥ १२ ॥

इत्थमलकां वर्णयित्वा तत्र स्वभवनस्याभिज्ञानमाह—

सञ्जीवनी – **तत्रेति**। **तत्रा**लकायां **धनपतिगृहान्** कुबेरगृहा**नुत्तरेणो**त्तरस्मिन्नदूरदेशे। 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' इत्येनप्प्रत्ययः। 'एनपा द्वितीया' इति द्वितीया। 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव' इत्यमरः। अथवा 'उत्तरेण' इति नैनप्प्रत्ययान्तं किन्तु 'तोरणेन' इत्यस्य विशेषणं तृतीयान्तम्। धनपतिगृहादुत्तरस्यां दिशि यत्तोरणं बहिर्द्वारं तेन लक्षितमित्यर्थः। **अस्माक**मिदमस्मदीय**म्**। 'वृद्धाच्छः' इति पक्षे छप्रत्ययः। **अगारं** गृहम्। **सुरपतिधनुश्चारुणा** मणिमयत्वादभ्रंकषत्वाच्चेन्द्रचापसुन्दरेण **तोरणेन** बहिर्द्वारेण **दूराल्लक्ष्यं** दृश्यम्। अनेनाभिज्ञानेन दूरत एव ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः। अभिज्ञानान्तरमाह—**यस्यागारस्योपान्ते** प्राकारान्तपार्श्वदेशे **मे** मम **कान्तया वर्धितः** पोषितः **कृतकतनयः** कृत्रिमसुतः। पुत्रत्वेनाभिमन्यमान इत्यर्थः। **हस्तेन प्राप्यै**र्हस्तावचेयैः **स्तवकै**र्गुच्छैः **नमितः**। 'स्याद्गुच्छकस्तु स्तबकः' इत्यमरः। **बालोमन्दारवृक्षः** कल्पवृक्षोऽस्तीति शेषः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—**धनपतिगृहानुत्तरेण**—'उत्तरेण' इस एनप् प्रत्ययान्त पद के

योग में 'एनपा द्वितीया' इस सूत्र से द्वितीया हो गई है। 'गृहाः पुंसि च भून्येव' अमरकोश के इस वचन के अनुसार 'गृह' शब्द पुंल्लिङ्ग में नित्य ही बहुवचनान्त है।

तोरणेन—'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्', अमरकोश के इस वचन के अनुसार बाहरी दरवाजे को तोरण कहते हैं। किन्तु बाहरी दरवाजे के चतुर्दिक् जो कलात्मक बेल-बूटे बनाये जाते हैं उन्हें तोरण समझना चाहिए। इन्द्रधनुष के साथ बाह्य दरवाजे की तुलना करने से मालूम पड़ता है कि यक्ष के गृह का दरवाजा विविध रंग-बिरंगी मणियों से जटित तथा काफी ऊँचा था।

कृतकतनयः—कृतकश्चासौ तनयः (क० धा०)। 'वाऽऽहिताऽग्न्यादिषु' इस सूत्र के अनुसार आहिताग्नि गण में पाठ होने से कृतक शब्द का पूर्वप्रयोग तथा उत्तरप्रयोग—दोनों ही किया जाता है। कृतक शब्द का उत्तर प्रयोग देखिए—'सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते' (शाकुन्तल ४।१६) ॥ १२ ॥

व्युत्पत्तिः—वर्धितः—√वृध् + णिच् + क्त (त) + विभक्तिः। **०नमितः**-√नम् + णिच् + क्त + विभक्त्यादिः ॥ १२ ॥

वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ १३ ॥

अति सुन्दर वैदूर्य-नालयुत रम्य कनककमलों की खान,
मरकत मणिमय सोपानों से शोभित वापी कलानिधान।
तुझे देख कर भी जो उसके जल में रह कर लेते स्वाद,
उन सुखिया हंसों को होगी नहीं निकट मानस की याद ॥१३॥

अन्वयः—अस्मिन्, मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा, च स्निग्धवैदूर्यनालैः, हैमैः, विकचकमलैः, छन्ना, वापी, (अस्ति); यस्याः, तोये, कृतवसतयः, हंसाः, त्वाम्, प्रेक्ष्य, अपि, व्यपगतशुचः (सन्तः), सन्निकृष्टम्, मानसम्, न अध्यास्यन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—अस्मिन् = (मेरे) इस घर में, मकरतशिलाबद्धसोपानमार्गा = मरकत मणि (पन्ना Emerald) की शिलाओं से बनी हुए सीढ़ियों वाली, च = तथा, स्निग्धवैदूर्यनालैः = चिकने वैदूर्यमणि (बिल्लौर) के नाल (दण्ड) वाले, हैमैः = स्वर्णमय, सुनहले, विकचकमलैः = खिले हुए कमलों से, छन्ना = ढकी हुई, व्याप्त, वापी = बावली, (अस्ति = है), यस्याः = जिसके, तोये = जल में, कृतवसतयः = निवास करने वाले, हंसाः = हंस, त्वाम् = तुझे, प्रेक्ष्य = देख कर, अपि = भी, व्यपगतशुचः (सन्तः) = दुःख न मानते हुए, सन्निकृष्टम् = निकटस्थ, मानसम् = मानसरोवर की, न = नहीं, आध्यासन्ति = याद करते हैं ॥ १३ ॥

अर्थः—(मेरे) इस घर में मरकत मणि (पन्ना Emerald) की शिलाओं से बनी हुई सीढ़ियों वाली तथा चिकने वैदूर्य मणि (बिल्लौर) के नाल (दण्ड) वाले स्वर्णमय खिले हुए कमलों से ढकी हुई बावली (है)। जिसके जल में निवास करने वाले हंस तुझे देखकर भी दुःख न मानते हुए निकटस्थ (भी) मानसरोवर की याद नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

इतः परं चतुर्भिः श्लोकैरभिज्ञानान्तरमाह—

सञ्जीवनी—वापीति । **अस्मिन्** मदीयागारे **मरकतशिलाभिर्बद्धः सोपानमार्गो** यस्याः सा तथोक्ता । विदूरे भवा वैदूर्याः । 'विदूराञ्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः । वैदूर्याणां विकारा वैदूर्याणि । विकारार्थेऽण्प्रत्ययः । **स्निग्धानि वैदूर्याणि नालानि** येषां तै**र्हैमैः** सौवर्णै**र्विकचकमलैश्छन्ना** वापी च । अस्तीति शेषः । **यस्या** वाप्या**स्तोये कृतवसतयः** कृतनिवासा **हंसास्त्वां** मेघं **प्रेक्ष्यापि व्यपगतशुचो** वर्षाकालेऽपि व्यपगतकलुषजलत्वाद्वीतदुःखाः सन्तः **सन्निकृष्टं** सन्निहितम् । सुगममपीत्यर्थः । **मानसं** मानससरो **नाध्यास्यन्ति** नोत्कण्ठया स्मरिष्यन्ति । 'आध्यानमुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम्' इति काशिकायाम् ॥ १३ ॥

टिप्पणी—वापी—प्राचीन काल में सम्पत्तिशाली व्यक्ति अपने भवन के मध्य प्रियतमा के साथ विहार करने के लिए बावली का निर्माण कराते थे । यक्ष की बावली की सीढ़ियाँ मरकत मणि से बनी थीं । उसमें सोने के कमल खिले थे । उन कमलों की नालें (दण्ड) वैदूर्य मणि की बनी हुई थीं ।

व्यपगतशुचः—हंस पङ्कविहीन स्वच्छ जल में विहार करते हैं । वर्षा आने पर

आकाश में बादलों को देखकर वे खिन्न हो जाते हैं। अतः मैदानी भाग को छोड़कर वे मानसरोवर चले जाते हैं। फिर वर्षा की पूर्ण समाप्ति के बाद ही वे मानसरोवर से मैदान की ओर आते हैं किन्तु यक्ष के घर की बावली में रहने वाले हंस वर्षा के प्रारम्भ के बादलों को देखकर भी दुःखी नहीं होते। वे जानते हैं कि यह बावली मणियों से बनी हुई है अतः वर्षा होने पर न तो इसमें कीचड़ ही होगा और न इसका पानी ही गन्दा होगा। अतः आनन्द से वे उसमें बने रहते हैं। मानसरोवर अलकापुरी के पास में ही है ॥ १३ ॥

व्युत्पत्तिः—० **वैदूर्य०** – विदूरे भवाः वैदूर्याः—विदूर + ञ्य (य) + वृद्धयादिः। वैदूर्याणां विकाराः वैदूर्याणि—वैदूर्य + अण् (विकारार्थे) + विभक्त्यादिः। **हैमैः**—हेम्नो विकारैः—हेमन् + अण् + विभक्त्यादिः। **छन्ना**—✓छद् + क्त (न) + विभक्त्यादिः। **प्रेक्ष्य**—प्र + ✓ईक्ष + ल्यप्। **सन्निकृष्टम्**—सम् + नि + ✓कृष् + क्त + विभक्त्यादिः ॥ १३ ॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे! चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ १४ ॥

उसके तट पर रम्य नीलमणि-शृंग-विराजित रचा पहाड़,
जिसके चारों ओर लग रही रुचिर कनककदली की बाड़।
तेरे छोरों पर चपला की चमक देख कर आती याद,
उसी प्रिया के प्रिय पर्वत की कातर मन होता सविषाद ॥१४॥

अन्वयः—तस्याः, तीरे, पेशलैः, इन्द्रनीलैः, रचितशिखरः, कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः, क्रीडाशैलः, (अस्ति)। हे सखे, उपान्तस्फुरिततडितम्, त्वाम्, प्रेक्ष्य, मद्गेहिन्याः, प्रियः, इति, कातरेण, चेतसा, तम्, एव, स्मरामि ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—तस्याः = उस बावली के, तीरे = तट पर, पेशलैः = सुन्दर, इन्द्रनीलैः = इन्द्रनील मणियों से, रचितशिखरः = बनी हुई चोटियों वाला, कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः = सुनहले केलों से घिरे होने के कारण दर्शनीय, क्रीडाशैलः = क्रीडापर्वत, (अस्ति = है)। हे सखे = हे मित्र, उपान्तस्फुरिततडितम् = छोरों

पर चमकती हुई विजली वाले, त्वाम् = तुम्हें, प्रेक्ष्य = देखकर, मद्गेहिन्याः = मेरी गृहिणी का, प्रियः = (वह क्रीडा-पर्वत) प्रिय है, इति = इस कारण, कातरेण = अधीर, चेतसा = मन से, तम् = उस (क्रीडा-पर्वत) को, एव = ही, स्मरामि = याद करता हूँ ॥ १४ ॥

अर्थः—उस वावली के तट पर सुन्दर इन्द्रनील मणियों से बनी हुई चोटियों वाला, सुनहले केलों से घिरे होने के कारण दर्शनीय, क्रीडा-पर्वत (है)। हे मित्र, छोरों पर चमकती हुई विजली वाले तुम्हें देखकर मेरी गृहिणी का प्रिय है, इस कारण अधीर मन से उस (क्रीडा-पर्वत) को ही मैं याद करता हूँ ॥ १४ ॥

सञ्जीवनी—तस्या इति । तस्या वाप्यास्तीरे **पेशलैश्चारुभिः** । 'चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः । **इन्द्रनीलै** रचितशिखरः । इन्द्रनील मणिमयशिखर इत्यर्थः । **कनककदलीनां वेष्टनेन** परिधिना **प्रेक्षणीयो** दर्शनीयः **क्रीडाशैलः** । अस्तीति शेषः । **हे सखे ! उपान्तेषु** प्रान्तेषु **स्फुरितास्तडितो** यस्य तत्तथोक्तम् । इदं विशेषणं कदली-साम्यार्थमुक्तम् । इन्द्रनीलसाम्यं तु मेघस्य स्वाभाविकमित्यनेन सूच्यते । **त्वां प्रेक्ष्य मद्गेहिन्याः प्रिय इति हेतोः तस्य** शैलस्य मद्गृहीणीप्रियत्वाद्धेतोरित्यर्थः । **कातरेण** भीतेन **चेतसा** । भयं चात्र सानन्दमेव । 'वस्तूनामनुभूतानां तुल्यश्रवणदर्शनात् । श्रवणात्कीर्तनाद्वापि सानन्दा भीर्यथा भवेत् ।' इति रसाकरे दर्शनात् । **तमेव क्रीडा-शैलमेव स्मरामि** । एवकारो विषयान्तरव्यवच्छेदार्थः । सदृशवस्त्वनुभवादिष्टार्थ-स्मृतिर्जायत इत्यर्थः । अत एवात्र स्मरणाख्योऽलंकारः । तदुक्तम्—'सदृशानुभवादन्य स्मृतिः स्मरणमुच्यते' इति । निरुक्तकारस्तु 'त्वां तमेव स्मरामि' इति योजयित्वा मेघे शैलत्वारोपमाचष्टे । तदसंगतम् । अद्रयाकारारोपस्य पुरोवर्तिन्यनुभवात्मकत्वेन स्मरतिशब्दप्रयोगानुपपत्तेः । शैलत्वभावना स्मृतिरित्यपि नोपपद्यते । भावनायाः स्मृतित्वे प्रमाणाभावादनुभवायोगात्सादृश्योपन्यासस्य वैयर्थ्याच्च विसदृशेऽपि शालग्रामे हरिभावनादर्शनादिति ॥ १४ ॥

टिप्पणी—तमेव स्मरामि—विरही व्यक्ति विरह की अवस्था में अपने प्रिय या अपनी प्रिया की विशेष प्रिय वस्तु को वार-वार याद करता है। क्रीड़ा-पर्वत विरही यक्ष की प्रिया पत्नी का अत्यंत प्रिय है। अतः मेघ को देखकर यक्ष उस क्रीड़ा-शैल को ही अधीर मन से याद कर रहा है। मेघ और क्रीडा-शैल में

समता है। अतः मेघ को देखकर क्रीडाशैल यक्ष को बार-बार याद आ रहा है। दोनों में समता इस प्रकार है—

१-क—वर्षारम्भ का प्रथम मेघ नील वर्ण का होता है।

ख—यक्षप्रिया का प्रिय क्रीडा-शैल भी इन्द्रनील मणियों से बना होने के कारण नील है।

२-क-मेघ के छोरों पर पीली-पीली बिजली चमक रही है।

ख—क्रीडा-शैल के चारों ओर सुवर्णमय अतः पीताभ कदली-निकुञ्ज है।

इसी समता के कारण मेघ को देखकर यक्ष को अपनी प्रिया के क्रीडा-शैल की अधीर याद आ रही है ॥ १४ ॥

व्युत्पत्तिः— प्रेक्षणीयः—प्र + √ईक्ष् + अनीयर् + विभक्तिः। प्रेक्ष्य—प्र + √ईक्ष् + क्त्वा (ल्यप्)। गेहिन्याः—गेहम् अस्ति यस्याः सा तस्याः, गेह + इनि + ङीप् + विभक्ति ॥ १४ ॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ॥ १५ ॥

वहाँ कुरे के घेरे वाले वासन्ती-मण्डप के पास,
लाल अशोक चपल-पल्लवयुत तथा बकुल कमनीय सुवास।
पहला मेरे साथ चाहता तेरी आली का पद वाम,
और दूसरा दोहद के मिष मुख-मदिरा का स्वाद ललाम ॥१५॥

अन्वयः— अत्र, कुवरकवृतेः, माधवीमडपस्य, प्रत्यासन्नौ, चलकिसलयः, रक्ताशोकः, च, कान्तः, केसरः, (स्तः); (तयोः), एकः, मया, सह, तव, सख्याः, वामपादाभिलाषी, अन्यः, दोहदच्छद्मना, अस्याः, वदनमदिराम्, कांक्षति ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—अत्र = यहाँ, इस क्रीडा-पर्वत पर, कुरवकवृतेः = कुरबक के घेरे वाले, माधवीमण्डपस्य = माधवी (वासन्ती) लता-गृह के, प्रत्यासन्नौ = समीप में स्थित, चलकिसलयः = चञ्चल पल्लव वाला, रक्ताशोकः = लाल अशोक, च =

तथा, कान्तः = सुन्दर, केसरः = बकुल, मौलसिरी, (स्तः = हैं) (तयोः = उनमें से), एकः = एक (अर्थात् लाल अशोक), मया=मेरे, सह = साथ, तव = तुम्हारी सख्याः सखी (अर्थात्, मेरी प्रिया) के, वामपादाभिलाषी=बाएँ पैर के प्रहार का इच्छुक है, अन्यः = दूसरा (अर्थात् बकुल) दोहदच्छद्मना = दोहद के बहाने, अस्याः = इस (मेरी प्रिया) की, वदनमदिराम् =मुखमदिरा को, काङ्क्षति = चाहता है ॥ १५ ॥

अर्थः — यहाँ (इस क्रीडा-पर्वत पर) कुरवक के घेरे वाले माधवी (वासन्ती) लता-गृह के समीप में स्थित चञ्चल पल्लवों वाला लाल अशोक तथा सुन्दर बकुल (ये दो वृक्ष हैं)। उनमें से एक (अर्थात् लाल अशोक) मेरे साथ तुम्हारी सखी (अर्थात् मेरी प्रिया) के बायें पैर के प्रहार का इच्छुक है और दूसरा (अर्थात् बकुल) दोहद के बहाने इस (मेरी प्रिया) की मुख-मदिरा को चाहता है ॥ १५ ॥

सञ्जीवनी — **रक्तेति**। **अत्र** क्रीडाशैले **कुरबका एव वृतिरावरणं** यस्य तस्य। **मधौ** वसन्ते भवा **माधव्यस्तासां मण्डपस्तस्यातिमुक्तलतागृहस्य**। 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता' इत्यमरः। **प्रत्यासन्नौ** संनिकृष्टौ **चलकिसलयश्चञ्चलपल्लवः**। अनेन वृक्षस्य पादताडनेषु प्राञ्जलित्वं व्यज्यते। **रक्ताशोकः**। रक्तविशेषणं तस्य स्मरोद्दीपकत्वादुक्तम्। 'प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतो रक्त इति द्विधा। बहुसिद्धिकरः श्वेतो रक्तोऽत्र स्मरवर्धनः॥' इत्यशोककल्पे दर्शनात्। **कान्तः** कमनीयः **केसरो** बकुलश्च। 'अथ केसरे। बकुलो वंजुलः'। स्तः इति शेषः। **एकस्तयोरन्यतरः**। प्राथमिकत्वादशोक इत्यर्थः। **मया सह तव सख्याः**। स्वप्रियाया इत्यर्थः। **वामपादाभिलाषी**। दोहदच्छद्मनेत्यत्रापि सवन्धनीयम्। सा चाहं च। अभिलाषिणावित्यर्थः। **अन्यः** केसरः। **दोहदं** वृक्षादीनां प्रसवकारणं संस्कारद्रव्यम्। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया।' इति शब्दार्णवे। तस्य **छद्मना** व्याजेन। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। **अस्यास्तव सख्या वदनमदिरां** गण्डूषमद्यं **कांक्षति**। मया सहेत्यत्रापि संवन्धनीयम्। अशोकबकुलयोः स्त्रीपादताडनगण्डूषमदिरे दोहदमिति प्रसिद्धिः। 'स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूष-

सेकात्पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् । मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः' ॥ १५ ॥

टिप्पणी—रक्ताशोकः—अशोक वृक्ष दो प्रकार का होता है—(१)—सफेद फूलों वाला, सिद्धिदायक है और (२)—लाल फूलों वाला। जिसमें लाल फूल लगते हैं उसे रक्ताशोक कहा जाता है। यह स्मर-वर्धक कहा गया है।

चलकिसलयः—यह 'रक्ताशोक' का विशेपण है। इस विशेषण से ऐसा अर्थ ध्वनित होता है मानो रक्ताशोक मेरी प्रिया के चरण-ताड़न को पाने के लियं हाथ से बुला रहा हो, आतुर हो रहा हो।

वामपादाभिलाषी—ऐसी प्रसिद्धि है कि रक्ताशोक के ऊपर जब कोई सुन्दरी अपने बायें पैर से प्रहार करती है तो उसमें फूल निकल आते हैं। सुन्दरी के बायें पैर के प्रहार को पाने की रक्ताशोक की अभिलाषा को रक्ताशोक का दोहद कहते हैं। रक्ताशोक कामोद्दीपक माना गया है।

वदनमदिराम्—कवियों में ऐसी प्रसिद्धि रही है कि युवतियाँ जब अपने मुख में मदिरा भरकर बकुल वृक्ष के ऊपर कुल्ला करती हैं तब उसमें फूल निकल आते हैं। युवतियों की मुख मदिरा के कुल्लों को पाने को इच्छा ही वकुलवृक्ष का दोहद है। बकुल का पुष्प अत्यन्त सुगन्धित अतः कामवर्द्धक होता है। असमय में भी वृक्षों के पुष्पविकास के लिए कविसमयप्रसिद्ध दोहद नीचे के श्लोक से प्रदर्शित किया गया है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति, बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात्, पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

अर्थात् प्रियङ्गु वृक्ष सुन्दरियों के मुखमद्य के सेचन से, अशोक सुन्दरियों के वामचरण के प्रहार से, तिलक सुन्दरी के देखने से, कुरवक आलिङ्गन से, मन्दार हँसी-मजाक के वचन से, चम्पक सुन्दर तथा कोमल हास्य से, आम का वृक्ष मुख की हवा से, नमेरु गीत से तथा कर्णिकार सुन्दरी स्त्री के नृत्य करने से विकसित होता है ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिः—कान्तः—√कम् + क्तः + विभक्तिः । प्रत्यासन्नौ—प्रति + आ + सद् + क्तः (न) + विभक्तिः । अभिलाषी – अभि + √लष् + णिनिः + विभक्तिः ॥ १५ ॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टिः
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ १६ ॥

जिसके नीचे बना मनोहर मरकतमणि का मूल बड़ा,
वह सोने का अड्डा सिर पर फटिकशिला ले बीच खड़ा ।
तेरा मित्र मयूर उसी पर सदा बैठता सायंकाल,
उसे नचाती प्रिया झनाझन कंकणधर कर से दे ताल ॥१६॥

अन्वयः—च, तन्मध्ये, अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः, मणिभिः, मूले, बद्धा, स्फटिकफलका, काञ्चनी, वासयष्टिः, (अस्ति); याम्, शिञ्जावलयसुभगैः, दिवसविगमे, अध्यास्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—च = तथा, और, तन्मध्ये = उन (रक्ताशोक एवं बकुल वृक्ष दोनों) के बीच में, अनतिप्रौढवंशप्रकाशैः = कोमल बाँसो की तरह कान्ति वाले, मणिभिः = मणियों से, पन्नों से (With Emeralds), मूले = जड़ में, बद्धा = बँधी हुई, स्फटिकफ़लका = स्फटिकमणि (बिल्लोर) की पीठ से युक्त; काञ्चनी = सोने का बना, वासयष्टिः = (पक्षियों के) बैठने का दण्ड (Perch) (अस्ति = है), याम् = जिस (दण्ड), शिञ्जावलयसुभगैः = झन-झनाते हुए कंगनों से मनोहर, तालैः = तालियों से, मे = मेरी, कान्तया = प्रियतमा के द्वारा, नर्तितः = नचाया जाता हुआ, वः = तुम्हारा, सुहृद् = मित्र, नीलकण्ठः = मयूर, दिवसविगमे = दिन का अवसान हो जाने पर, अध्यास्ते = बैठता है ॥ १६ ॥

अर्थः—और उन (रक्ताशोक एवं बकुल वृक्ष दोनों) के बीच में कोमल बाँसों की तरह कांतिवाले पन्नों से (With Emeralds) जड़ में बँधा हुआ, स्फटिकमणि (बिल्लौर) की पीठ से युक्त, सोने का बना (पक्षियों के) बैठने का

दण्ड (perch) है। जिस (दण्ड) पर कंगनों की मनोहर झनझनाहट से भरी तालियों से मेरी प्रियतमा के द्वारा नाचाया गया, तुम्हारा मित्र मयूर दिन का अवसान हो जाने पर बैठता है ॥ १६ ॥

सञ्जीवनी — तन्मध्य इति। किं चेति चार्थः। **तन्मध्ये** तयोर्वृक्षयोर्मध्येऽनतिप्रौढानामनतिकठोराणां **वंशानां प्रकाश** इव **प्रकाशो** येषां तैस्तरुणवेणुसच्छायैर्मणिभिर्मरकतशिलाभिर्मूले **बद्धा**। कृतवेदिकेत्यर्थः। **स्फटिकं** स्फटिकमयं **फलकं** पीठं यस्याः सा काञ्चनस्य विकारः **काञ्चनी** सौवर्णी **वासयष्टि**र्निवासदण्डः। अस्तीति शेषः। **शिञ्जा** भूषणध्वनिः। 'भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः। भिदादित्वादङ्। शिञ्जिधातुरयं तालव्यादिर्न तु दन्त्यादिः। **शिञ्जा**प्रधानानि **वलयानि तैः सुभगा** रम्यास्तैस्**तालैः** करतलवादनैर्मे मम **कान्तया नर्तितो वो** युष्माकं **सुहृत्सखा नीलकण्ठो** मयूरः। 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्' इत्यमरः। **दिवसविगमे** सायङ्काले **यां यष्टिकामध्यास्ते**। यष्ट्यामास्त इत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वाद् द्वितीया। 'तत्रागारम्' इत्यारभ्य पञ्चसु श्लोकेषु समृद्धवस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः। तदुक्तम् — 'तदुदात्तं भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते'। न चैषा स्वभावोक्तिर्भाविकं वा तत्र तथास्थितवस्तुवर्णनात्। अत्र तु 'कविप्रतिभोत्थापितसम्भाव्यमानैश्वर्यशालिवस्तुवर्णनादारोपितविषयत्वमिति ताभ्यामस्य भेदः' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ १६ ॥

टिप्पणी — तन्मध्ये - रक्ताशोक एवं बकुल वृक्षों के बीच में कोमल बाँसों की तरह स्निग्ध कान्तिवाले पन्नों की बनी एक वेदिका के बीचोबीच सुवर्ण की एक छड़ी गड़ी है। उसके ऊपर (एक दम शीर्ष पर) स्फटिकमणि का एक पीठ जड़ा हुआ है। यह पीठ मयूर के बैठने के लिए बना है। अतः इसे वासयष्टि कहते हैं। सायंकाल की वेला में मयूर इस पर बैठता है। यक्ष की प्रियतमा पास में बैठकर ताली बजा-बजा कर मयूर को नचाती है।

वः सुहृद्—मेघ और मयूर की मित्रता जगद्विदित है। मेघ के मँडराने पर मयूर परम प्रसन्न हो नाचने लगते हैं। यही कारण है कि यक्ष मयूर को मेघ का मित्र बतला रहा है ॥ १६ ॥

व्युत्पत्तिः—०प्रौढ०—प्र + √वह् + क्त + विभक्त्यादिः। **बद्ध्वा**—बन्ध्

+ क्त + टाप् + विभक्तिः । काञ्चनी—काञ्चन + ङीप् + विभक्तिः । नर्तितः—√नृत् + णिच् + क्त + विभक्तिः ॥ १६ ॥

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ १७ ॥

साधु शिरोमणि मेघ ! हृदय में धारण कर ले ये पहचान,
शंख पद्म के चित्र द्वार लख तू घर मेरा लेना जान ।
निश्चय वह मेरे वियोग के कारण होगा विभा-विहीन,
दिनकर के अभाव में शोभा रख सकता क्या सरसिज दीन ? ॥१७॥

अन्वयः – हे साधो, हृदय-निहितैः, एभिः, लक्षणैः, (तथा) द्वारोपान्ते, लिखितवपुषौ, शङ्खपद्मौ, च, दृष्ट्वा, नूनम्, अधुना, मद्वियोगेन, क्षामच्छायम्, भवनम्, लक्षयेथाः, सूर्यापाये (सति), कमलम्, स्वाम्, अभिख्याम्, न, पुष्यति, खलु ॥ ·७ ॥

शब्दार्थः—हे साधो = हे निपुण मेघ, हृदय-निहितैः = मन में धारण किये गये, एभिः = इन (पूर्वोक्त), लक्षणैः = चिह्नों से, (तथा = और), द्वारोपान्ते = दरवाजे के पास, लिखितवपुषौ = चित्रित आकार वाले, शङ्खपद्मौ = शङ्ख एवं कमल को, च = भी, दृष्ट्वा = देखकर, नूनम् = निश्चय ही, अधुना = सम्प्रति, मद्वियोगेन = मेरे वियोग के कारण, क्षामच्छायम् = शोभा-विहीन, भवनम् = घर को, लक्षयेथाः = पहचान लेना, सूर्यापाये (सति) = सूर्य के अस्त हो जाने पर, कमलम् = कमल, स्वाम् = अपनी, अभिख्याम् = शोभा को, न = नहीं, पुष्यति = धारण करता है, बढ़ाता है, खलु = निश्चय से, ही ॥ १७ ॥

अर्थः—हे निपुण मेघ, मन में धारण किये गये इन (पूर्वोक्त) चिह्नों से तथा दरवाजे के पास चित्रित शंख एवं कमल के आकार को भी देख कर निश्चय ही संप्रति मेरे वियोग के कारण शोभा-विहीन (मेरे) घर को पहचान लोगे । सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल (भी) अपनी शोभा को नहीं ही धारण करता है ॥ १७ ॥

सञ्जीवनी—एभिरिति। हे साधो निपुण! 'साधुः समर्थो निपुणो वा' इति काशिकायाम्। **हृदयनिहितैः।** अविस्मृतैरित्यर्थः। **एभिः पूर्वोक्तैर्लक्षणै**स्तोरणादिभिरभिज्ञानैर्द्वारोपान्ते। एकवचनमविवक्षितम्। द्वारपार्श्वयोरित्यर्थः। **लिखिते वपुषी** आकृती ययोस्तौ तथोक्तौ **शङ्खपद्मौ** नाम निधिविशेषो। 'निधिर्ना शेवधिर्भेदाः पद्मशङ्खादयो निधे' इत्यमरः। **दृष्ट्वा च नूनं** सत्य**मधुनेदानीम्।** 'अधुना' इति निपातः। **मद्वियोगेन** मम प्रवासेन **क्षामच्छायं** मन्दच्छायमुत्सवोपरमात्क्षीणकान्ति **भवनं** मद्गृहं **लक्षयेथाः** निश्चिनुयाः। तथाहि। **सूर्यापाये** सति **कमलं** पद्मं **स्वामात्मीयामभिख्यां** शोभाम्। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। **न पुष्यति खलु** सूर्यविरहितं पद्ममिव पतिविरहितं गृहं न शोभत इत्यर्थः॥ १७॥

टिप्पणी—एभिः हृदयनिहितैः—यक्ष ने पीछे श्लोक १२ से १६ तक अपने भवन की स्थिति तथा उसके चिह्नों को बतलाया है। वह आशा करता है कि मेघ ने इन चिह्नों को मन में धारण कर लिया होगा। इनके साथ ही वह इस श्लोक में दो और लक्षणों को बतला रहा है। वह कहता है कि मेरे दरवाजे के एक ओर कमल का चित्र बना है और दूसरी ओर शंख अंकित है। दरवाजे पर कमल तथा शंख इसलिए बनाये जाते हैं, क्योंकि ये मांगलिक चिह्न हैं॥ १७॥

व्युत्पत्तिः—निहितैः—नि +√धा + क्त + विभक्तिः। **लिखित०**—√लिख् + क्त + विभक्तिः। **दृष्ट्वा**—√दृश् + क्त्वा। **क्षाम०**—√क्षै + क्तः ('क्षायो मः' इत्यनेन तस्य मः + विभक्तिः॥ १७॥

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॥ १८॥

उड़ चलने के लिए बना कर करिशावक का सा आकार,
उसी नीलमणि-मण्डित मेरे केलिशैल पर आसन मार।
करके चपलारूप दृष्टि में तू जुगुनू-जमात सी जोत,
मित्र! बहाना घर के भीतर उसका अल्पद्युति सा स्रोत॥१८॥

अन्वयः—(हे मेघ), शीघ्रसम्पातहेतोः, सद्यः, कलभतनुताम्, गत्वा, प्रथम-

कथिते, रम्यसानौ, क्रीडाशैले, निषण्णः, (त्वम्) अल्पाल्पभासम्, खद्योतालीविलसितनिभाम्, विद्युदुन्मेषदृष्टिम्, अन्तर्भवनपतितां कर्तुम्, अर्हसि ॥ १८ ॥

शब्दार्थः - (हे मेघ = हे बादल), शीघ्रसम्पातहेतोः = शीघ्र प्रवेश करने के लिए, सद्यः = तत्काल, कलभतनुताम् = हाथी के बच्चे के शरीर के आकार को, गत्वा = प्राप्त कर, धारण कर, प्रथमकथिते = पूर्वोक्त, पहले बतलाये गये, रम्यसानौ = मनोहर चोटी वाले, क्रीडाशैले = क्रीडा पर्वत पर, निषण्णः = बैठे हुए, (त्वम् = तुम), अल्पाल्पभासम् = अति अल्प प्रकाशवाली, खद्योतालीविलसितनिभाम् = जुगुनुओं की पंक्ति के प्रकाश की तरह, विद्युदुन्मेषदृष्टिम् = बिजली की चमकरूपी दृष्टि को, अन्तर्भवनपतितां कर्तुम् = घर के भीतर डालने में, अर्हसि = योग्य हो, समर्थ हो ॥ १८ ॥

अर्थः—हे मेघ, शीघ्र प्रवेश करने के लिये तत्काल हाथी के बच्चे के शरीर के आकार को धारण कर पहले बतलाये गये, मनोहर चोटीवाले क्रीडापर्वत पर बैठे हुए (तुम) अति अल्प प्रकाशवाली जुगुनुओं की पंक्ति के प्रकाश की तरह, बिजली की चमकरूपी दृष्टि को घर के भीतर डाल सकते हो (अर्थात् घर के भीतर डालना) ॥ १८ ॥

निजगृहनिश्चयानन्तरं कृत्यमाह—

सञ्जीवनी—**गत्वेति** । **शीघ्रसम्पात** एव **हेतुस्तस्य** । शीघ्रप्रवेशार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । 'सम्पातः पतने वेगे प्रवेशे वेदसंविदे' इति शब्दार्णवे । **सद्यः** सपदि **कलभस्य** करिपोतस्य **तनुरिव** तनुर्यस्य तस्य **भावस्तामल्प**-शरीरतां गत्वा प्राप्य । **प्रथमकथिते** 'तस्यास्तीरे' इत्यादिना पूर्वोद्दिष्टे **रम्यसानौ** । निषीदनयोग्य इत्यर्थः । **क्रीडाशैले निषण्ण** उपविष्टः सन् । **अल्पाल्प**-प्रकारा **भाः** प्रकाशो यस्यास्ताम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विरुक्तिः । **खद्योता**-नामाली तस्या **विलसितेन** स्फुरितेन **निभां** समानां **विद्युदुन्मेषो** विद्युत्प्रकाशः स एव **दृष्टिस्तां** भवनस्यान्तरन्त**र्भवनं** तत्र **पतितां** प्रविष्टां **कर्तुमर्हसि** । यथा कश्चित्किञ्चिदन्विष्यन्क्वचिदुन्नते स्थित्वा शनैःशनैरतितरां द्राघीयसीं दृष्टिमिष्टदेशे पातयति तद्वदित्यर्थः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—**कलभतनुताम्**—हाथी श्याम वर्ण का होता है । सजल जलद भी

श्याम होता है। अतः मेघ यक्ष को हाथी के बच्चे के समान लघुरूप धारण करने के लिए कह रहा है। मेघ को पूर्वमेघ में कामरूप कहा गया है। अतः उसे यहाँ कलभ जैसा रूप धारण करने की बात कही जा रही है।

अर्हस्यन्तर्भवन०—यक्ष का कहना है कि तुम अति लघु रूप धारण कर उस क्रीडा-शैल पर बैठ जाना। फिर जुगुनुओं की पंक्ति के प्रकाश की तरह मंद प्रकाश-वाली बिजली रूप अपनी आँख को हमारे घर के भीतर डालना। तेज बिजली मत कौंधाना। अन्यथा मेरी प्रियतमा तुम से भयभीत हो जाएगी ॥ १८ ॥

व्युत्पत्तिः—०संपात०—सम् + √पत् + घञ् + विभक्त्यादिः। **गत्वा**—√गम्+क्त्वा। **निषण्णः**— नि +√सद् + क्तः + विभक्त्यादिः। अत्र 'सदिरप्रतेः' इतिसूत्रेण सस्य पः। **अर्हसि**—√अर्ह + लट् + सिप् ॥ १८ ॥

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ १९ ॥

कृशकाया दाडिमसमदशना बिम्बाधरशुभ्रा श्यामा,
तनुमध्या भयचकित-मृगीलोचना गभीरनाभि रामा।
जो नितम्ब से मन्दगामिनी झुकी कुचों का पाकर भार,
हो विरंचि की नारी-रचना-कौशल का पहिला अवतार ॥ १९ ॥

अन्वयः—तन्वी, श्यामा, शिखरिदशना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी, मध्ये, क्षामा, चकितहरिणीप्रेक्षणा, निम्ननाभिः, श्रोणीभारात्, अलसगमना, स्तनाभ्याम्, स्तोक-नम्रा, (इत्थम्), युवतिविषये, धातुः, आद्या, सृष्टिः, इव, या तत्र, स्यात्, (ताम् मम भार्याम् जानीथाः) ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—तन्वी = दुबली-पतली, श्यामा = युवती, शिखरिदशना = नुकीले दाँतों वाली, पक्वबिम्बाधरोष्ठी = पके हुए बिम्ब फल के समान निचले होंठ वाली, मध्ये = कमर में, क्षामा = पतली, चकितहरिणीप्रेक्षणा = डरी हुई हरिणी के समान (चंचल) नेत्रों वाली, निम्ननाभिः = गहरी नाभिवाली, श्रोणीभारात् = नितंब के भार के कारण, अलसगमना = अलसायी चाल वाली, स्तनाभ्याम् =

उत्तुंग पयोधरों से, स्तोकनम्रा = थोड़ीसी झुकी हुई, (इत्थम् = इस प्रकार), युवतिविषये = युवतियों के मध्य, स्त्रियों में, धातुः = ब्रह्मा की, आद्या = सबसे पहली, सृष्टिः इव = रचना-सी, या = जो, तत्र = वहाँ, स्यात् = हो, (ताम् = उसे, मम = मेरी, भार्याम् = प्रियतमा, जानीथाः = समझ लेना) ॥ १९ ॥

अर्थः —दुबली-पतली, युवती, नुकीले दाँतों वाली, पके हुए बिंबफल के समान निचले ओठ वाली, कमर से पतली, डरी हुई हरिणी के समान (चञ्चल) नेत्रों वाली, गहरी नाभिवाली, नितम्ब के भार के कारण अलसायी चालवाली, ऊँचे, उन्नत पयोधरों से थोड़ी झुकी हुई, (इस प्रकार) स्त्रियों में ब्रह्मा की सबसे पहली रचना-की जो स्त्री वहाँ हो (उसे तुम मेरी प्रियतमा समझ लेना) ॥१९॥

सम्प्रति दृष्टिपातात्फलस्याभिज्ञानं श्लोकद्वयेनाह—

सञ्जीवनी—तन्वीति । तन्वी कृशाङ्गी । नतु पीवरी । "श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु' इत्यमरः । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप् । **श्यामा** युवतिः । 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम् । शिखराण्येषां सन्तीति शिखरिणः कोटिमन्तः । 'शिखरं शैलवृक्षाग्रकक्षापुलककोटिषु' इतिविश्वः । **शिखरिणो दशना** दन्ता यस्याः सा । एतेनास्या भाग्यवत्त्वं पत्यायुष्करत्वं च सूच्यते । तदुक्तं सामुद्रिके—'स्निग्धाः समानरूपाः सुपङ्क्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः । दन्ता भवन्ति यासां तासां पादे जगत्सर्वम् । ताम्बूलरसरक्तेऽपि स्फुटभासा समोदयाः । दन्ताः शिखरिणो यस्या दीर्घं जीवति तत्प्रियः ॥' इति । **पक्वं** परिणतं **बिम्बं** बिम्बिकाफलमिव**ाधरोष्ठो** यस्याः सा **पक्वबिम्बाधरोष्ठी** । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः' इति वामनः । "नासिकोदरोष्ठ=" इत्यादिना ङीष् । **मध्ये श्यामा** । कृशोदरीत्यर्थः । **चकितहरिण्याः प्रेक्षणानीव** प्रेक्षणानि दृष्टयो यस्याः सा तथोक्ता । एतेनास्याः पद्मिनीत्वं व्यज्यते । तदुक्तं रतिरहस्ये पद्मिनीलक्षणप्रस्तावे—'चकितमृगदृशाभे प्रान्तरक्ते च नेत्रे' इति । **निम्ननाभिर्ग**म्भीरनाभिः । अनेन 'नारीणां नाभिगाम्भीर्यान्मदनातिरेकः' इति कामसूत्रार्थः सूच्यते । **श्रोणीभारादलसगमना** मन्दगामिनी । न तु जघनदोषात् । **स्तनाभ्यां** । **स्तोकनम्रे**षदवनता । न तु वपुर्दोषाद् युवतय एव विषयस्तस्मिन्**युवतिविषये** । युवतीरधिकृत्येत्यर्थः । **धातुर्ब्रह्मण आद्या सृष्टिः** प्रथमशिल्पमिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । प्रथमनिर्मिता युवतिरियमेवेत्यर्थः । प्रायेण

शिल्पिनां प्रथमनिर्माणे प्रयत्नातिशयवशाच्छिल्पनिर्माणसौष्ठवं दृश्यत इत्याद्यविशेषणम्। तथा चास्मिन्प्रपञ्चे न कुत्राप्येवंविधं रमणीयं रमणीरत्नेष्वस्तीति भावः। तदेवम्भूता या स्त्री तत्रान्तर्भवने स्यात्। तत्र निवसेदित्यर्थः। तामित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥ १९ ॥

टिप्पणी— **श्यामा—** मल्लिनाथ ने श्यामा का अर्थ युवती किया है। कुछ टीकाकार 'श्यामा' से एक विशेष प्रकार की स्त्री का ग्रहण करते हैं। इस विषय में भट्टिकाव्य की टीका में अग्रिम श्लोक उद्धृत है:—

"शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते॥"

मोरेश्वर काले ने श्यामा का अर्थ 'अप्रसूता' (वह स्त्री जिसे बच्चा नहीं पैदा हुआ है) किया है। इसके लिए देखिए—"भवेत् श्यामा तन्वी च नवयौवना" अथवा—'अप्रसूता भवेच्छ्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी। श्यामा च श्यामवर्णा च श्यामा मधुरभाषिणी॥"

टिप्पणी— **तन्वी—** इस श्लोक में यक्ष ने अपनी प्रिया के अङ्गों का जैसा वर्णन किया है, वस्तुतः वह अद्भुत है और यह भी सच है कि जिस सुंदरी के सारे अङ्ग इस प्रकार के हों वह वास्तव में ब्रह्मा की पहली रची स्त्रीरत्नसृष्टि होगी। कोई भी व्यक्ति अपनी पहली रचना को अनुपम बनाने का पूर्ण प्रयास करता है। अतः ब्रह्मा ने स्त्रियों के मध्य इसे अनुपम सौंदर्य से मंडित किया है। इससे ज्ञात होता है कि वह सचमुच ब्रह्मा की पहली रचना है॥१९॥

व्युत्पत्तिः— **तन्वी—** तनु + ङीप् + विभक्त्यादिः। **धातुः—** √धा + तृच् + विभक्तिः। **आद्या—** आदौ भवा, आदि + यत् + टाप्। **सृष्टिः—** √सृज् + क्तिन् + विभक्त्यादिः ॥ १९ ॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥२०॥

उसे दूसरा जीवन मेरा समझ उसी चकवी-सी मूक,
जो प्रियतम से बिछुड़ अकेली सहती दुसह विरह की हूक।
इन वियोग के वज्र दिनों में उत्कण्ठित बाला का हाल,
उस सरोजिनि का सा होगा जिस पर पड़ा घोर हिमजाल ॥ २० ॥

अन्वयः— मयि, सहचरे, दूरीभूते (सति), चक्रवाकीम्, इव, परिमितकथाम्, एकाम्, ताम् मे, द्वितीयम्, जीवितम्, जानीथाः, गाढोत्कण्ठाम्, बालाम्, गुरुषु, एषु, दिवसेषु, गच्छत्सु, (सत्सु), शिशिरमथिताम्, पद्मिनीम्, वा, अन्यरूपाम्, जाताम्, मन्ये ॥ २० ॥

शब्दार्थः- मयि = मुझ, सहचरे = सहचर के, साथी के, दूरीभूते (सति) = दूर होने पर, बिछुड़ जाने पर, चक्रवाकीम् = चकवी की, इव = तरह, परिमित-कथाम् = अल्पभाषिणी, एकाम् = अकेली, ताम् = उसे, मे = मेरा, द्वितीयम् = दूसरा, जीवितम् = प्राण, जानीथाः = जानना, समझना, गाढोत्कण्ठाम् = गाढ़ी उत्कंठावाली, बालाम् = तरुणी को, गुरुषु = (विरह के कारण) दीर्घ, कठिनाई से बीतने वाले, एषु = इन, दिवसेषु = दिनों के, गच्छत्सु (सत्सु) = व्यतीत होने पर, शिशिरमथिताम् = पाला मारी गयी। पद्मिनीम् = कमलिनी की, वा = तरह, अन्यरूपाम् = दूसरे ही रूप को, जाताम् = प्राप्त हो गई, मन्ये = मानता हूँ, अनुमान करता हूँ ॥ २० ॥

अर्थः—मुझ साथी के बिछुड़ जाने पर चकवी की तरह अल्पभाषिणी एकाकिनी उसको मेरे दूसरे प्राण सी समझना। गाढ़ी उत्कंठावाली वह तरुणी (विरह के कारण) कठिनाई से बीतने वाले इन दिनों के व्यतीत होने से पाला मारी गई कमलिनी की तरह दूसरे ही रूप को प्राप्त हो गयी होगी—ऐसा मैं अनुमान करता हूँ ॥ २० ॥

सञ्जीवनी—तामिति। सहचरे सहचारिणि। अनेन वियोगासहिष्णुत्वं व्यज्यते **मयि दूरीभूते** दूरस्थिते सति। सहचरे चक्रवाके दूरीभूते सति **चक्रवाकीं** चक्रवाक-वधूमिव। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष्। **परिमितकथां** परिमितवाचम्। एकामेकाकिनीं स्थितां तामन्तर्भवनगतां मे **द्वितीयं जीवितं जानीथाः**। जीवित-तुल्यां मत्प्रेयसीमवगच्छेरित्यर्थः। 'तन्वी' इत्यादिपूर्वलक्षणैरिति शेषः। लक्षणाना-

मन्यथाभावभ्रममाशङ्क्याह—गाढेति । **गाढोत्कण्ठां** प्रबलविरहवेदनाम् । 'रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या । संशोषणी नु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ।' इत्यभिधानात् । **बालां गुरुषु** विरहमहत्स्वेष वर्तमानेषु **दिवसेषु गच्छत्सु** सत्सु **शिशिरेण** शिशिरकालेन **मथितां पद्मिनीमिव** । 'इववद्वायथाशब्दौ' इति दण्डी । **अन्यरूपां** पूर्वविवरित्ताकारां जातां मन्ये । हिमहतपद्मिनीव विरहेणान्यादृशी जातेति तर्कयामीत्यर्थः । एतावता नेयमन्येति भ्रमितव्यमिति भावः ॥ २० ॥

टिप्पणी—परिमितकथां चक्रवाकीम्—चकवा एवं चकवी का प्रेम अटूट तथा आर्दश माना जाता है। ये दोनों दिन में तो साथ-साथ रहते हैं किंतु रात्रि के समय एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। चकवा नदी के इस पार रहता है तो चकवी नदी के उस पार। उस समय प्रतीत होता है जैसे चकवी के ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है। वह प्रियतम से वियुक्त हो अकेली पड़ जाती है। सायंकाल के समय प्रारम्भ में तो वह बहुत रट लगाती है। किंतु बाद में रह-रह कर बोलती है। कहते हैं किसी मुनि के शाप के कारण अथवा श्री रामचंद्र के शाप के कारण इन्हें रात में अलग रहना पड़ता है।

गुरुषु-दिवसेषु जब प्रेमी प्रेमिका के पास रहता है, उसके साथ आमोद-प्रमोद करता है, तब कुछ पता ही नहीं चलता कि कब रात बीत गयी और कब दिन बीत गया। उस समय दिन-रात मिलकर घंटे भर के बराबर भी नहीं प्रतीत होते। किंतु वियोग की अवस्था में दिन पहाड़ हो जाते हैं। वे बीतते ही नहीं।

शिशिरमथिताम्—कमलिनी पर जब पाला पड़ जाता है, तब उसका रूप-रंग बदल जाता है। ठीक इसी तरह जब नवपरिणीता तरुणी पर वियोग के काले बादल मँडराते हैं तब उसका आकार-प्रकार बदल जाता है। उसे पहचानना भी कठिन हो जाता है ॥ २० ॥

व्युत्पत्तिः—जीवितम्—√जीव + क्त + विभक्तिः । **सहचरे**—सह चरतीति सहचरस्तस्मिन्—सह + √ चर् + अच् + विभक्तिः । **गच्छत्सु**—गम् (गच्छ्) = लट् + शतृ, भावे सप्तमी विभक्तिः । **जाताम्**—√जन् + क्त + टाप् + विभक्तिः । **पद्मिनीम्**—पद्म + इनिः + ङीप् + विभक्तिः ॥ २० ॥

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥ २१ ॥

हाय ! गई होंगी उसकी वे अँखियाँ रोते-रोते फूल,
गरम उसासों के लगने से होगा अधरवर्ण प्रतिकूल ।
छिपा हुआ बिखरी अलकों में कर पर रक्खा वह मुखचन्द,
होगा तेरे घेर-घार में पड़ कर मलिन इन्दु सा मन्द ॥ २१ ॥

अन्वयः - प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम्, निःश्वासानाम्, अशिशिरतया, भिन्नवर्णाधरोष्ठम्, हस्तन्यस्तम्, लम्बालकत्वात्, असकलव्यक्ति, तस्याः, प्रियायाः, मुखम्, त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः, इन्दोः, दैन्यम्, नूनम्, बिभर्ति ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम् = अत्यधिक रोने से सूजे हुए नेत्रों वाला, निःश्वासानाम् = निःश्वासों के, अशिशिरतया = गरम होने के कारण, भिन्नवर्णाधरोष्ठम् = मलिन अधरोष्ठ वाला, हस्तन्यस्तम् = हथेली के ऊपर रखा हुआ, लम्बालकत्वात् = लम्बी एवं बिखरी लटों के कारण, असकलव्यक्ति = पूरा-पूरा न दिखलायी पड़ने वाला, तस्याः = उस, प्रियायाः = मेरी प्रियतमा का, मुखम् = मुख, त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः = तुम्हारे पीछा करने से फीकी कांति वाले, इन्दोः = चंद्रमा की, दैन्यम् = दीनदशा को, नूनम् = निश्चय ही, बिभर्ति = धारण करता है ॥ २१ ॥

अर्थः—अत्यधिक रोने से सूजे हुए नेत्रों वाला, निःश्वासों के गरम होने के कारण मलिन अधरोष्ठ वाला, हथेली के ऊपर रखा हुआ लंबी एवं बिखरी लटों के कारण पूरा-पूरा न दिखायी पड़ने वाला, उस (मेरी) प्रियतमा का मुख; तुम्हारे पीछा करने से फीकी कांतिवाले चाँद की दीनदशा को निश्चय ही धारण किये होगा ॥ २१ ॥

सञ्जीवनी—नूनमिति । प्रबलरुदितेनोच्छूने उच्छ्वसिते नेत्रे यस्य तत् । उच्छूनेति श्वयतेः कर्तरि क्तः । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् । 'वचिस्वपि' इत्यादिना संप्रसारणम् । 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपत्वम् । 'हलः' इति दीर्घः ।

'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठादेशे कृते रूपसिद्धिरिति । वर्तमानसामीप्यप्रक्रिया प्रामादिकीत्युत्प्रेक्षा । तथा सति धातोरिकारस्य गत्यभावादूठादेशे छ्वोरन्त्यत्वेन विशेषणाच्चेति । एतेन विषादो व्यज्यते । निःश्वासानामशिशिरतयान्तस्तापोष्णत्वेन **भिन्नवर्णो** विच्छायोऽ**धरोष्ठो** यस्य तत् । हस्ते न्यस्तं **हस्तन्यस्तम्** । एतेन चिन्ता व्यज्यते । लम्बालकत्वात्संस्काराभावाल्लम्बमानकुन्तलत्वादसकलव्यक्तयसंपूर्णाभिव्यक्ति तस्याः प्रियाया **मुखं त्वदनुसरणेन** त्वदुपरोधेन । मेघानुसरणेनेति यावत् । **क्लिष्टकान्तेः** क्षीणकान्तेरि**न्दोर्दैन्यं** शोच्यतां **बिभर्ति** । **नूनमिति** वितर्के । 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चये' इत्यमरः । पूर्ववत्तथापि न भ्रमितव्यमिति भावः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—उच्छूननेत्रम्—विरह की अवस्था में रात-दिन रोते-रोते विरहिणी की आँखें सूज जाती हैं । गरम-गरम निःश्वासों से उसके लाल अधरोष्ठ मलिन हो जाते हैं । वह प्रायः हथेली पर मुख रखकर बैठी सोचती रहती है । वह प्रसाधन नहीं करती । अतः उसकी लटें मुख पर इधर-उधर बिखरी रहती हैं । लटों से आच्छादित होने के कारण उसका मुख बादलों से आच्छन्न चाँद-सा फीका मालूम पड़ता है ॥ २१ ॥

व्युत्पत्तिः—०उच्छून० – उद् + √श्वि + क्तः (कर्तरि) + विभक्त्यादिः = उच्छूनम्—यहाँ 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' इस धातु से कर्ता में क्त प्रत्यय हुआ है । यजादि गण में पढ़े जाने से "वचिस्वपियजादीनां किति" इस सूत्र से व को संप्रसारण होकर 'उ' हुआ । 'सम्प्रसारणाच्च' इस सूत्र से पूर्वरूप होने पर "श्वीदितो निष्ठायाम्" सूत्र से इट् आगम का निषेध होने पर 'हलः' से दीर्घ हुआ । फिर 'ओदितश्च' इस सूत्र से निष्ठा 'त' के स्थान पर 'न' आदेश हुआ है । इस प्रकार 'उच्छून' पद की सिद्धि होती है । ऐसी स्थिति में यहाँ 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इससे ऊठ् करके रूपसिद्धि करना समीचीन नहीं है । क्योंकि 'श्वि' धातु के अंत में इकार है न कि वकार । अतः यहाँ ऊठ् की प्राप्ति नहीं होगी । **असकलव्यक्ति**—वि + √अञ्ज् + क्तिन् + विभक्त्यादिः = व्यक्तिः ॥ २१ ॥

आलोके ते निपतति पुरा सा वलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ २२ ॥

या तो देख पड़ेगी तुझको वह पूजा में लगी हुई,
या वियोग से कृश मेरी छवि लिखने में ही पगी हुई।
या पिंजड़े की मधुरभाषिणी मैना से करती संवाद-
प्यारे की प्यारी रसिका ! क्या तुझे नाथ की आती याद ? ॥ २२ ॥

अन्वयः— (हे मेघ), वा, सा, वलिव्याकुला, वा, विरहतनु, भावगम्यम्, मत्सादृश्यम्, लिखन्ती, वा, मधुरवचनाम्, पञ्जरस्थाम्, सारिकाम्,—हे रसिके, भर्तुः; स्मरसि,कच्चित्, हि, त्वम्, तस्य, प्रिया, (असि),—इति, पृच्छन्ती, वा, ते, आलोके, पुरा, निपतति ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ = हे = बादल), सा = वह (मेरी प्रिया) वा = = या तो, वलिव्याकुला = पूजा में लगी हुई, वा = अथवा, विरहतनु = वियोग से कृश, भावगम्यम् = अनुमान से कल्पना की गयी, मत्सादृश्यम् = मेरी अनुकृति को, मेरी आकृति को, लिखन्ती = चित्रित करती हुई, वा = अथवा, मधुर-वचनाम् = मधुरभाषिणी, पञ्जरस्थाम् = पिंजरे में बंद, सारिकाम् = मैना से, – हे रसिके = हे रसीली, भर्तुः = स्वामी की, स्मरसि = याद कर रही है।, कच्चित् = क्या ? हि = क्योंकि, त्वम् = तुम, तस्य = उनकी, प्रिया = प्यारी, (असि = हो),—इति = इस प्रकार, पृच्छन्ती = पूछती हुई, ते = तुम्हारे, आलोके = समक्ष, पुरा = सर्वप्रथम, निपतति = आएगी, पड़ेगी ॥ २२ ॥

अर्थः—(हे मेघ), वह (मेरी प्रिया) या तो पूजा में लगी हुई, अथवा वियोग से कृश तथा अनुमान से कल्पना की गयी मेरी आकृति को चित्रित करती हुई अथवा मधुरभाषिणी, पिंजरे में बंद मैना से—'हे रसिके, स्वामी की याद कर रही हो क्या ? क्योंकि तुम उनकी प्यारी हो',—इस प्रकार पूछती हुई, तुम्हारे समक्ष सर्वप्रथम आएगी ॥ २२ ॥

सर्वविरहिणीसाधारणानि लक्षणानि संभाव्योत्प्रेक्ष्यागोत्याह 'आलोके' इत्यादिभिस्त्रिभिः—

सञ्जीवनी—आलोक इति। हे मेघ, सा मत्प्रिया। बलिषु नित्येषु प्रोषितागममार्गेषु च देवताराधनेषु **व्याकुला** व्यापृता वा। विरहेण तनु कृशं **भावगम्यम्**। तत्कार्श्यस्यादृष्टचरत्वात्संप्रति संभावनयोत्प्रेक्ष्यमित्यर्थः। **मत्सादृश्यं** नाम मदाकारसाम्यम्। मत्प्रतिकृतिमित्यर्थः। यद्यपि सादृश्यं प्रसिद्धवस्त्वन्तरगतमाकारसाम्यं तथापि प्रतिकृतित्वेन विवक्षितमितरथालेख्यत्वासंभवात्। अक्षय्यकोशे 'आलेख्येऽपि च सादृश्यम्' इत्यभिधानात् **लिखन्ती** क्वचित्फलकादौ विन्यस्यन्ती **वा** चित्रदर्शनस्य विरहिणीविनोदोपायत्वादिति भावः। एतच्च कामशास्त्रसंवादेन सम्यग्विवेचितमस्माभिः रघुवंशे संजीविन्याम् 'सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः' इत्यत्र। **मधुरवचनां** मञ्जुभाषिणीम्। अत एव **पञ्जरस्थाम्**। हिंस्रेभ्यः कृतसंरक्षणामित्यर्थः। **सारिकां** स्त्रीपक्षिविशेषाम्। हे **रसिके**! **भर्तुः** स्वामिनः **स्मरसि कच्चित्**। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। भर्तारं स्मरसि किमित्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी। स्मरणे कारणमाह—हि यस्मात्कारणा**त्त्वं तस्य** भर्तुः। प्रीणातीति **प्रिया**। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः। अतः प्रेमास्पदत्वात्स्मर्तुमर्हसीति भावः। **इत्येवं पृच्छन्ती वा**। वाशब्दो विकल्पे। 'उपमायां विकल्पे वा' इत्यमरः। **ते तवालोके** दृष्टिपथे **पुरा निपतति**। सद्यो निपतिष्यतीत्यर्थः। 'स्यात्प्रबन्धे पुरातीते निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। यावत्पुरानिपातयोर्लट्॥ २२॥

टिप्पणी— **आलोके ते निपतति**—विरहिणी स्त्रियों का कालयापन बड़ी कठिनता से होता है। वे या तो भगवान् की पूजा में अपना मन लगा कर प्रियतम की मंगल-कामना करती हैं, अथवा प्रियतम का चित्र वनाकर मन वहलाती हैं। कभी-कभी वे तोता-मैना से प्रियतम के बारे में बातें करती हैं। उनके जीवन-सूत्र का यही एक ढर्रा है॥ २२॥

व्युत्पत्तिः— **भावगम्यम्**—भाव + √गम् + यत् + विभक्तिः। **लिखन्ती**—√लिख + लट् + शतृ + ङीप् + विभक्तिः। **पृच्छन्ती**—√प्रच्छ् + लट् + शतृ + ङीप् + विभक्ति॥ २२॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ २३ ॥

या मुझ पर ही रचे गीत का ज्यों त्यों करने को आलाप,
मलिन वसन वाले उछंग पर परिचित वीणा रखकर आप।
जैसे तैसे पोंछ-पाँछ कर अश्रुपात से भीगे तार,
उसे भूलती स्वयं निकाली गयी मीड़ जो बारंबार ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे सौम्य, वा, मलिनवसने, उत्सङ्गे, वीणाम्, निक्षिप्य, मद्गोत्राङ्कम्, विरचितपदम्, गेयम्, उद्गातुकामा, नयनसलिलैः, आर्द्राम्, तन्त्रीम्, कथञ्चित्, सारयित्वा, भूयोभूयः, स्वयम्, कृताम्, अपि, मूर्च्छनाम्, विस्मरन्ती, (सा, ते, आलोके, पुरा, निपतति) ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—हे सौम्य = हे सत्पुरुष, वा = अथवा, मलिनवसने = मलिन वस्त्रवाली, उत्सङ्गे = (अपनी) गोद में, वीणाम् = वीणा को, निक्षिप्य = रखकर, मद्गोत्राङ्कम् = मेरे नाम का उल्लेख करके, विरचितपदम् = रचे गये पदों से युक्त, गेयम् = गीतिका को, उद्गातुकामा = गाने की इच्छा करती हुई; नयनसलिलैः = आँसुओं से, आर्द्राम् = भीगे हुए, तन्त्रीम् = तारों को, कथञ्चित् = किसी-किसी तरह, सारयित्वा = पोंछ-पाँछ कर, भूयो भूयः = बार-बार, स्वयम् = खुद, कृताम् = बनायी गयी, रची गई, मूर्च्छनाम् = मूर्च्छना को (स्वरों के उतार एवं चढ़ाव के क्रम को), विस्मरन्ती = भूलती हुई, (सा = वह मेरी प्रियतमा), ते = तुम्हारे, आलोके = दृष्टि-पथ में, पुरा = सर्वप्रथम, निपतति = आएगी ॥ २३ ॥

अर्थः—हे सज्जन, अथवा, मलिन वस्त्र वाली (अपनी) गोद में वीणा को रख कर, मेरे नाम का उल्लेख करके रचे गये पदों से युक्त गीतिका को गाने की इच्छा करती हुई, आँसुओं से भीगे हुए तारों को किसी-किसी तरह पोंछ कर बार-बार स्वयं बनायी गयी मूर्च्छना को भूलती हुई (वह मेरी प्रियतमा तुम्हारे दृष्टि-पथ में सर्वप्रथम आयेगी) ॥ २३ ॥

सञ्जीवनी—उत्सङ्ग इति। हे सौम्य साधो, मलिनवसने। 'प्रोषिते मलिना कृशा' इति शास्त्रादित्यर्थः। उत्सङ्ग ऊरौ वीणां निक्षिप्य। मम गोत्रं

नामाङ्कश्चिह्नं यस्मिस्तन्मद्गोत्राङ्कं यथा। 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च' इत्यमरः। **विरचितानि पदानि** यस्य तत्तथोक्तं **गेयं** गानार्हं प्रबन्धादि। 'गीतम्' इति पाठे स एवार्थः। **उद्गातुमुच्चैर्गातुं कामो** यस्याः सा। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। देवयोनित्वाद् गान्धारग्रामेण गातुकामेत्यर्थः। तदुक्तम् 'षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः। न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः।' इति। तथा **नयनसलिलैः** प्रियतमस्मृतिजनितैरश्रुभिरार्द्रां **तन्त्रीं कथञ्चित्कृच्छ्रेण सारयित्वा** आर्द्रत्वापहरणाय करेण प्रमृज्यान्यथा क्वणनासम्भवादिति भावः। **भूयो भूय** पुनः पुनः **स्वयमात्मना कृतामपि**। विस्मरणानर्हामपीत्यर्थः **मूर्च्छनां** स्वरारोहावरोहक्रमम्। 'स्वराणां स्थापनाः सान्ता मूर्च्छनाः सप्त सप्त हि' इति सङ्गीतरत्नाकरे। **विस्मरन्ती वा**। 'आलोके ते निपतति' इति पूर्वेणान्वयः। विस्मरणं चात्र दयितगुणस्मृतिजनितमूर्च्छावशादेव। तथा च रसरत्नाकरे-'वियोगायोगयोरिष्टगुणानां कीर्तनात्स्मृतेः। साक्षात्कारोऽथवा मूर्छा दशधा जायते तथा।' इति। मत्सादृश्यमित्यादिना मनःसङ्गानुवृत्तिः सूचिता॥ २३॥

टिप्पणी—मलिनवसने—यह साभिप्राय विशेषण है। इससे विरहिणी यक्ष-प्रिया का पातिव्रत्य-धर्म सूचित होता है। पतिव्रता का लक्षण इस प्रकार है—

"आर्त्ताऽऽर्त्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥"

यक्ष-पत्नी पतिव्रता है। यक्ष परदेश में रहता है। अतः समृद्धिशालिनी होने पर भी उसकी पत्नी दूसरा कपड़ा नहीं बदलती, जमीन पर सोती है तथा मैले कपड़ों की धुलायी नहीं करती। ऐसी ही कुछ अवस्था 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में शकुन्तला की वर्णित की गई है:—

"वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥"

मूर्च्छनाम्—स्वरों के आरोह और अवरोह अर्थात् चढ़ाव और उतार को 'मूर्च्छना' कहते हैं—"क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छना परिकीर्तिता।" इति भरतः। मूर्च्छना के इक्कीस भेद होते हैं॥ २३॥

व्युत्पत्तिः—निक्षिप्य—नि + √क्षिप् + ल्यप्। **गेयम्**—√गै + यत्।

उद्गातुकामा—उद् + √गै + तुमुन् + कामा । 'तुं काममनसोरपि' इत्यनेन तुमुनो मकारलोपः । सारयित्वा—√सृ + णिच् + क्त्वा । विस्मरन्ती—वि + √स्मृ + शतृ + ङीप् + विभक्तिः ॥ २३ ॥

शेषान् मासान् विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
संभोगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहे ह्यङ्गनानां विनोदाः ॥ २४ ॥

या वियोग के दिन से ले कर नियत अवधि के अन्तिम मास,
चढ़े देहली पर फूलों से गिनती होगी धर धर पास ।
मेरे मनोनीत संगम का या मन ही मन लेती मोद,
बहुधा रमण-विरह में होते कामिनियों के यही विनोद ॥ २४ ॥

अन्वयः—वा, विरहदिवसस्थापितस्य, अवधेः, शेषान्, मासान्, देहलीदत्तपुष्पैः, गणनया, भुवि, विन्यस्यन्ती, वा, हृदयनिहितारम्भम्, मत्सङ्गम्, आस्वादयन्ती, (सा, ते, आलोके, पुरा, निपतति), प्रायेण अङ्गनानाम्, रमणविरहेषु, एते, विनोदाः, (भवन्ति) ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—वा=अथवा, विरहदिवसस्थापितस्य = वियोग के दिन से आरंभ कर निर्धारित, अवधेः = अवधि के, शेषान् = अवशिष्ट, मासान् = महीनों को, देहलीदत्तपुष्पैः = देहली पर एकत्रित करके रखे गये पुष्पों को, गणनया = गिन-गिन कर, भुवि = भूतल पर, पास की जमीन पर, विन्यस्यन्ती = रखती हुई, वा = अथवा, हृदयनिहितारम्भम् = मन में कल्पना के द्वारा प्राप्त, मत्सङ्गम् = मेरे सङ्गम का, आस्वादयन्ती = आस्वाद लेती हुई, (सा = वह मेरी प्रियतमा, ते = तुम्हारी, आलोके = आँखों के समक्ष, पुरा=सर्वप्रथम, निपतति = आएगी), प्रायेण = प्रायः, अधिकतर, अङ्गनानाम् = रमणियों के, रमणविरहेषु = प्रियतम के विरह के दिनों में, एते = ये ही, विनोदाः = मन बहलाव के साधन, (भवन्ति= हुआ करते हैं) ॥ २४ ॥

अर्थः—अथवा वियोग के दिन से आरंभ कर निर्धारित अवधि के अवशिष्ट महीनों को देहली पर एकत्रित करके रखे गये पुष्पों से गिन-गिन कर भूतल पर

रखती हुई, अथवा मन में कल्पना के द्वारा प्राप्त मेरे संगम का आस्वाद लेती हुई (वह मेरी प्रियतमा तुम्हारी आँखों के समक्ष सर्वप्रथम आएगी), प्रायः रमणियों के लिए, प्रियतम के विरह के दिनों में, ये ही मनबहलाव के साधन (हुआ करते हैं) ॥ २४ ॥

सञ्जीवनी—शेषानिति । अथवा **विरहस्य दिवसस्तस्मात्स्थापितस्य** तत आरभ्य निश्चितस्यावधेरन्तस्य **शेषान्** गतावशिष्टान् **मासान् देहलीदत्तपुष्पैः** । देहलीद्वारस्याधारदारु । 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः । तत्र दत्तानि राशीकृतत्वेन निहितानि यानि पुष्पाणि **तैर्गणनया** एको द्वावित्यादिसंख्यानेन **भुवि** भूतले **विन्यस्यन्ती वा** पुष्पविन्यासैर्मासान् गणयन्ती वेत्यर्थः । यद्वा **हृदये निहितो** मनसि संकलित **आरम्भ** उपक्रमो यस्य तम् । अथवा हृदये निहिता आरम्भाश्चुम्बनादयो व्यापारा यस्मिंस्तं **मत्संभोगरतिमास्वादयन्ती वा** । 'आलोके ते निपतति' इति पूर्वेण संबन्धः । ननु कथमयं निश्चय इत्याशङ्कामर्थान्तरन्यासेन परिहरति । **प्रायेण** बाहुल्येनाङ्गनानां **रमणविरहेष्वेते** पूर्वोक्ता **विनोदाः** कालयापनोपायाः । एतेन संकल्पावस्थोक्ता । तदुक्तम्—'संकल्पो नाथविषये मनोरथ उदाहृतः' इति । त्रिभिः कुलकम् ॥ २४ ॥

टिप्पणी—देहलीदत्तपुष्पैः—जिस दिन प्रियतम परदेश जाता है, उसी दिन नायिका देहली की पूजा करती है । उस समय वह देहली के एक किनारे पर उतने पुष्प रखती है जितने वर्षों, महीनों या दिनों के लिए नायक वादा करके बाहर जाता है । वह एक दिन, एक मास या एक वर्ष बीतने पर एक फूल को समूह में से उठा कर देहली के दूसरे कोने पर रख देती है । यह वह नियमित रूप से करती रहती है । उत्कंठा के क्षणों में वह एक तरफ के फूलों को गिनकर यह देखती है कि अब कितने वर्ष, मास या दिन शेष हैं । यह वियोग के क्षणों में मन बहलाने का एक साधन है ।

हृदयनिहितारम्भम्—प्रेमिका विरह के दिनों में एकांत स्थान पर बैठकर तन्मयतापूर्वक इस प्रकार सोचती है:—अवधि समाप्त हो गयी है । प्रियतम आ रहे हैं । यह लीजिए उन्होंने अब बाहुओं में कस लिया है । चुंबनों, आलिंगनों एवं कुचमर्दनों की झड़ी लगा दी है । मुझे पर्यङ्क पर सुला दिया है । मैं सुख की अर्ध-

चेतना में पड़ी हूँ। यह लीजिए, साड़ी भी खिसका दी गई। और अब दोनों ब्रह्मानंदसहोदर रस का छक कर आस्वादन कर रहे हैं। आदि-आदि ॥ २४॥

व्युत्पत्तिः—विन्यस्यन्ती—वि + नि + √अस् + लट् (शतृ) + ङीप् + विभक्तिः। निहितः—नि + √धा + क्तः + विभक्तिः। अङ्गनानाम्— अङ्ग + न + टाप् + विभक्तिः ॥ २४ ॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥ २५ ॥

दिन में मेरा विरह कार्यवह उसे न देगा वैसा ताप,
किन्तु विनोद-रहित रजनी में होगा द्विगुण विलाप-कलाप।
निद्राहीन लीन धरती पर दीन सखी से कह सन्देश,
आधी रात बैठ खिड़की पर हर ले उस दुखिया के क्लेश ॥ २५ ॥

अन्वयः—(हे मित्र), अहनि, सव्यापाराम्, ते, सखीम्, मद्वियोगः, तथा, न, पीडयेत्, (किन्तु), रात्रौ, निर्विनोदाम्, (ते, सखीम्), गुरुतरशुचम्, शङ्के। (अतः), निशीथे, उन्निद्राम्, अवनिशयनाम्, साध्वीम्, ताम्, मत्सन्देशैः, अलम्, सुखयितुम्, सौधवातायनस्थः (सन्), पश्य ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—(हे मित्र = हे सखे), अहनि = दिन में, सव्यापाराम् = काम में लगी हुई, ते = तुम्हारी, सखीम् = सखी को, मद्वियोगः = मेरा वियोग, तथा = उस प्रकार, न = नहीं, पीडयेत् = पीड़ित करता होगा, परेशान करता होगा, (किन्तु = परंतु), रात्रौ = रात्रि में, निर्विनोदाम् = (कालयापन के) व्यापार से रहित, (ते = तुम्हारी, सखीम् = सखी की), गुरुतरशुचम् = दुःसह शोक से पीड़ित, शङ्के = मैं अनुमान करता हूँ। (अतः = इसलिए), निशीथे = अर्ध रात्रि के समय, उन्निद्राम् = जगी हुई, अवनिशयनाम्=भूतल पर लेटी हुई, साध्वीम् = पतिव्रता, ताम् = उस (प्रियतमा) को, मत्सन्देशैः = मेरे संदेशों से, अलम् = पर्याप्त रूप से, सुखयितुम् = आनंदित करने के लिए, सौधवातायनस्थः (सन्) प्रासाद की खिड़की पर स्थित होकर, पश्य = देखना ॥ २५ ॥

अर्थः— (हे मित्र), दिन में (पूजा तथा चित्रलेखन आदि) काम में लगी हुई तुम्हारी सखी को मेरा वियोग उतना पीड़ित नहीं करता होगा। (किंतु) रात्रि में, मैं समझता हूँ कि वह (कालयापन के) व्यापार से रहित दुःसह शोक से पीड़ित हो जाती होगी (इसलिए) अर्ध रात्रि के समय जगी हुई, भूतल पर लेटी हुई, पतिव्रता उस (अपनी भाभी) को मेरे संदेशों से पर्याप्तरूप से आनंदित करने के लिए प्रासाद की खिड़की पर बैठकर देखना ॥ २५ ॥

सञ्जीवनी— **सव्यापारामिति**। हे सखे ! **अहनि** दिवसे **सव्यापारां** पूर्वोक्तबलिचित्रलेखनादिव्यापारवतीं ते **सखीं** स्वप्रियां **मद्वियोगो** मद्विरहस्तथा तेन प्रकारेण। 'प्रकारवचने थाल्' इति थाल्प्रत्ययः। **न पीडयेत्**। यथा रात्रिष्विति शेषः। किं तु **रात्रौ निर्विनोदां** निर्व्यापारां ते सखीं गुरुतरा शुचयस्यास्तां **गुरुतरशुचम**तिदुर्भरदुःखां **शङ्के** तर्कयामि। 'शङ्का वितर्कभययोः' इति शब्दार्णवे। अतो **निशीथे**ऽर्धरात्र **उन्निद्रा**मुत्सृष्टनिद्राम्। **अवनिरेव शयनं** शय्या यस्यास्ताम्। नियमार्थं स्थण्डिलशायिनीम्। **साध्वीं** पतिव्रताम्। 'साध्वी पतिव्रता' इत्यमरः। अतो नान्यथा शङ्कितव्यमिति भावः। **तां** त्वत्सखीं **मत्संदेशैर्म**द्वार्ताभि**रलं** पर्याप्तं **सुखयितु**मानन्दयितुं **सौधवातायनस्थः सन् पश्य**। 'सखा धात्री च पितरौ मित्रदूतशुकादयः। सुखयन्तीष्टकथनसुखोपायैर्वियोगिनीम्।' इति रत्नाकरे। दूतश्चायं मेघ इति भावः। अनेन जागरावस्थोक्ता ॥ २५ ॥

टिप्पणी सव्यापाराम्—दिन में यक्षप्रिया देवाराधन, चित्रलेखन आदि पूर्वोक्त कार्यों में अपने मन को बहला कर दिल हल्का कर लेती है। किंतु रात्रि में उक्त व्यापार न कर सकने के कारण पड़े-पड़े जाग कर किसी-किसी तरह रात व्यतीत करती है। अतः रात्रि में कष्ट द्विगुणित हो जाता है। रात बीतती ही नहीं है ॥ २५ ॥

व्युत्पत्तिः—**सव्यापाराम्**—स + वि + आङ् + √पृ + घञ् + विभक्तिकार्यम्। **वियोगः**—वि + √युज् + घञ् विभक्तिः। **तथा**—तद + थाल्। **निर्विनोदाम्**—निर् + वि+√नुद + घञ् + विभक्तिः। **साध्वीम्**—साधु + ङीष् + विभक्तिः। **सन्देशः**—सम्+√दिश् + घञ् + विभक्तिः। **सुखयितुम्**—सुख + णिच + तुमुन् ॥ २५ ॥

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ २६ ॥

विरह सेज पर पड़ी एक ही करवट चिन्ताओं में लीन,
बची हुई जैसे प्राची में कला इन्दु की एक मलीन ।
पल समान मेरे संगम के सुख में जो बीतती तुरन्त,
उसी वज्र रजनी का करती किसी तरह रो रो कर अन्त ॥ २६ ॥

अन्वयः—आधिक्षामाम्, विरहशयने, सन्निषण्णैकपार्श्वाम्, (अतः), प्राचीमूले, कलामात्रशेषाम्, हिमांशोः, तनुम्, इव, (स्थिताम्, तथा,), या, रात्रिः, मया, सार्धम्, इच्छारतैः, क्षणः, इव, नीता, विरहमहतीम्, ताम्, एव, उष्णैः, अश्रुभिः, यापयन्तीम्, (ताम्, पश्य) ॥ २६ ॥

शब्दार्थः— आधिक्षामाम् = मानसिक व्यथा के कारण क्षीण, विरहशयने = विरह-शय्या पर, सन्निषण्णैकपार्श्वाम् = एक ही करवट से लेटी हुई (अतः = अत एव), प्राचीमूले = पूर्व दिशा में एकदम नीचे, कलामात्रशेषाम् = एक ही कला से अवशिष्ट, हिमांशोः = चंद्रमा के, तनुम् = आकार की, इव = तरह, (स्थिताम् = स्थित, तथा = तथा), या = जो, रात्रिः = रात, रातें, मया = मेरे, सार्धम् = साथ, इच्छारतैः = स्वच्छंदतापूर्वक की गयी रतिक्रीडाओं से, क्षणः = क्षण की, इव = तरह, नीता = व्यतीत की गयी थी, विरहमहतीम् = विरह के कारण विशाल, तामेव = उसी को, उष्णैः = गरम-गरम, अश्रुभिः = आँसुओं से, यापयन्तीम् = बिताती हुई, (ताम् = उस मेरी प्रिया को, पश्य = देखोगे) ।

अर्थः—मानसिक व्यथा के कारण क्षीण, विरह-शय्या पर एक ही करवट लेटी हुई, (अतः) पूरब दिशा में एकदम नीचे एक ही कला से अवशिष्ट चंद्रमा के आकार की तरह (स्थित, तथा) जो रातें मेरे साथ स्वच्छंदतापूर्वक की गयी रति-क्रीडाओं से क्षण की तरह व्यतीत की गयी थीं, विरह के कारण विशाल उन्हीं (रातों) को गरम-गरम आँसुओं से बिताती हुई (उस मेरी प्रिया को देखोगे) ॥ २६ ॥

सञ्जीवनी—**आधिक्षामामिति**। आधिना मनोव्यथया **क्षामां** कृशाम्। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। क्षायः कर्तरि क्तः। 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः। विरहे शयनं तस्मिन् **विरहशयने**। पल्लवादिरचित इत्यर्थः। **संनिषण्णमेकपार्श्वं यस्यास्ताम्** अत एव **प्राच्याः** पूर्वस्या दिशो **मूले**। उदयगिरिप्रान्त इत्यर्थः। प्राचीग्रहणं क्षीणावस्थाद्योतनार्थम्। मूलग्रहणं दृश्यतार्थम्। **कलामात्रं कलैव शेषो** यस्यास्तां **हिमांशोस्तनुं मूर्तिमिव** स्थिताम्। तथा **या रात्रिर्मया सार्द्धमिच्छया कृतानि रतानि तैः**। शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। **क्षण इव नीता** यापिता **तां** तज्जातीयामेव **रात्रिं विरहेण महतीं** महत्त्वेन प्रतीयमाना**मुष्णैरश्रुभिर्यापयन्तीम्**। यातेर्ण्यन्ताच्छतृप्रत्ययः। 'अर्तिह्री—'इत्यादिना पुगागमः। स एव कालः सुखिनामल्पः प्रतीयते। दुःखिनां तु विपरीत इति भावः। एतेन कार्श्यावस्थोक्ता ॥ २६ ॥

टिप्पणी—**सन्निषण्णैकपार्श्वाम्**—सामान्यतया विरहिणी स्त्री रात में करवटें बदल-बदल कर सबेरा करती है। किंतु यक्ष-प्रिया एक ही करवट पड़ी-पड़ी सारी रात गुजारती है। इसके दो कारण हैं—(१) यक्षप्रिया रात्रि के सन्नाटे में अपने प्रियतम के ध्यान में इस तरह तल्लीन हो जाती है कि उसे अपने शारीरिक कष्ट का स्वल्प भी ध्यान नहीं रहता। अतः वह करवट तक नहीं बदलती है। (२)–वह विरह के कारण इतनी दुर्बल हो गई है कि करवट बदलना भी उसके लिए संभव नहीं है। अतः सारी रात एक ही करवट पड़ी रहती है।

प्राचीमूले—इसका अर्थ है—उदयगिरि के शिखर पर। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की चंद्रकला प्राची के मूल में ही रह कर अदृश्य हो जाती है। वह अति क्षीण तथा कांतिहीन होती है। इसीलिए यक्षप्रिया की तुलना प्राचीमूल की क्षीण चंद्रकला से की गयी है। **क्षण इव, विरहमहतीम्**—युवक और युवतियों को अपने प्रथम मिलन के दिनों में ऐसा प्रतीत होता है कि दिन और रात एक-दो क्षण की तरह छोटे हो गये हैं। किंतु जब वे उसके बाद एक-दूसरे से बिछुड़ते हैं, तब उन्हें रात्रि और दिन पहाड़-से विशाल तथा दुर्वह प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

व्युत्पत्तिः—**आधिक्षामाम्**—आ + √धा + किः (कर्मणि) + विभक्तिः = आधिः। √क्षै + क्तः (कर्तरि) + टाप् + विभक्त्यादिः, 'क्षायोमः' इत्यनेन

तस्य मः । **सन्निषण्णाम्**—सम् + नि + √सद् + क्तः (कर्तरि) + विभक्त्यादिः । **नीता** – √नी + क्तः + टाप् + विभक्तिः । **यापयन्तीम्**—√या + णिच् + पुक् + लट् (शतृ)+ङीप् ॥२६ ॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुःखेदात् सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ॥ २७ ॥

सुधा-भरी शीतल किरणावलि जाली से आने पाई,
प्रथम प्रीति से अँखियाँ मिलने दौड़ीं, किन्तु लौट आईं ।
अश्रुपूर्ण बरुनी से उसको ढकने में दुःखित होती,
दुर्दिन में थल की नलिनी सी रही न जाग न तो सोती ॥ २७ ॥

अन्वयः—जालमार्गप्रविष्टान्, अमृतशिशिरान्, इन्दोः, पादान्, पूर्वप्रीत्या, अभिमुखम्, गतम्, तथैव, संनिवृत्तम्, चक्षुः, खेदात्, सलिलगुरुभिः, पक्ष्मभिः, छादयन्तीम्, साभ्रे, अह्नि, न, प्रबुद्धाम्, न, सुप्ताम्, स्थलकमलिनीम्, इव, (स्थिताम्, ताम्, पश्य) ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—जालमार्गप्रविष्टान् = खिड़कियों की जालियों से प्रवेश करती हुई, अमृतशिशिरान् = अमृत की तरह शीतल, इन्दोः = चंद्रमा की, पादान् = किरणों के, पूर्वप्रीत्या = पहले की प्रीति के कारण, अभिमुखम् = सम्मुख, चाँद की किरणों की ओर, गतम् = गयी हुई, तथैव = उसी तरह, तत्क्षण ही, संनिवृत्तम् = लौट आई हुई, चक्षुः = दृष्टि को, खेदात् = दुःख के कारण, सलिलगुरुभिः = आसुओं से भारी हुई, पक्ष्मभिः = पलकों से, छादयन्तीम् = ढकती हुई, साभ्रे = मेघाच्छन्न, अह्नि = दिन में, न = न तो, प्रबुद्धाम् = विकसित, न = न, सुप्ताम् = मुकुलित, स्थलकमलिनीम् = स्थलकमलिनी की, इव = तरह, (स्थिताम् = स्थित, ताम् = उसे, पश्य = देखोगे) । ।२७ ॥

अर्थ—खिड़कियों की जालियों से प्रवेश करती हुई, अमृत की तरह शीतल चन्द्रमा की किरणों के, संमुख पहले की प्रीति के कारण गयी हुई और तत्क्षण ही लौट आयी हुई आँखों को, दुःख के कारण आँसुओं से भारी हुई पलकों से

ढकती हुई, मेघाच्छन्न दिन में न तो विकसित और न मुकुलित स्थलकमलिनी की तरह (स्थित उसे देखोगे) ॥ २७ ॥

सञ्जीवनी—पादानिति जालमार्गप्रविष्टान् गवाक्षविवरगतानमृतशिशिरा- **निन्दोः पादान्** रश्मीन् **पूर्वप्रीत्या** पूर्वस्नेहेन पूर्ववदानन्दकरा भविष्यन्तीति बुद्धयेति भावः। **अभिमुखं** यथा **गतं तथैव संनिवृत्तं** यथागतं तथैव प्रतिनिवृत्तम्। तदा तेषामतीव दुःसहत्वादिति भावः। चक्षुर्दृष्टि **खेदात्सलिलगुरुभिरश्रुदुर्भरैः पक्ष्मभिश्छादयन्तीम्**। अत एव **साभ्रेदुर्दिनेऽह्नि** दिवसे **न प्रबुद्धां** मेघावरणाद- विकसितां **न सुप्तामहरित्यमुकुलिताम्**। उभयत्रापि नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। **स्थलकमलिनीमिव स्थिताम्**। एतेन विषयद्वेषाख्या षष्ठी दशा सूचिता ॥ २७ ॥

टिप्पणी—पूर्वप्रीत्या—चंद्रमा की चाँदनी संयोग की अवस्था में अति सुख- कारक होती है। यक्ष-प्रिया पहले जब अपने प्रियतम यक्ष के साथ लेटी रहती थी उस समय यदि चाँदनी खिड़की आदि से भीतर प्रवेश करती थी तो उसका तन-मन, आँखें सब कुछ शीतल हो उठती थीं। किंतु आज वियोग की अवस्था में जब चाँदनी घर के भीतर आयी, तो आँखें शीतलता पाने के लिए ललक कर दौड़ीं। किंतु ज्योंही पास पहुँचीं त्यों ही वह (चाँदनी) आग की लपटों जैसी प्रतीत हुई। अतः वे तुरंत वापस चली आयीं।

साभ्रेऽह्नीव—स्थलकमलिनी दिन में सूर्य की किरणों का संपर्क पाकर खिलती है। किंतु मेघाच्छन्न दिन में सूर्य की किरणों का संपर्क स्थलकमलिनी को नहीं मिल पाता। अतः वह पूर्ण विकसित नहीं होती। किंतु रात का समय न होने से वह मुकुलित भी नहीं रह पाती। ठीक यही अवस्था यक्षिणी की भी है॥

व्युत्पत्तिः—गतम्—√गम् + क्त (कर्तरि) + विभक्तिः। **संनिवृत्तम्**— सम् + नि + √वृत् + क्त + विभक्तिः। **छादयन्तीम्**—√छद् + शतृ + ङीप् + विभक्तिः। **प्रबुद्धाम्**—प्र + √बुध् + क्त + टाप् + विभक्तिः। **सुप्ताम्**— √स्वप् + क्त + टाप् + विभक्तिः ॥ २७ ॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात् परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।

मत्संभोगः कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥ २८ ॥

पल्लवतुल्य अधर मुरझाता गरम उसासें जो लेती,
निरे स्नान से रूखी मुख पर लटकी लटें उड़ा देती।
मिलन स्वप्न में ही हो इससे करती निद्रा का अभिलाष,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश ॥ २८ ॥

अन्वयः—शुद्धस्नानात्, परुषम्, आगण्डलम्बम्, अलकम्, अधरकिसलयक्लेशिना, निःश्वासेन, नूनम्, विक्षिपन्तीम्, स्वप्नजः, अपि, मत्संभोगः, कथम्, उपनमेत्, इति, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्, निद्राम्, आकाङ्क्षन्तीम्, (ताम्, पश्य) ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—शुद्धस्नानात् = शुद्ध स्नान के कारण, परुषम् = रूखे, आगण्डलम्बम् = कपोलों तक लटकते हुए, अलकम् = केशों को, अधरकिसलयक्लेशिना = पल्लव तुल्य ओठों को झुलसा देने वाले, निःश्वासेन = उसासों से, नूनम् = निश्चय ही, विक्षिपन्तीम् = इधर-उधर दोलायमान करती हुई, स्वप्नजः = स्वप्नों में होने वाला; अपि = भी, मत्संभोगः = मेरे साथ रति-सुख, कथम् = किसी भी प्रकार, उपनमेत् = प्राप्त हो जाय, इति = इस विचार से, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् = नयनसलिल के प्रवाह के कारण निरस्त, निद्राम् = नींद को, आकाङ्क्षन्तीम् = चाहती हुई, (ताम् = उस मेरी प्रिया को, पश्य = देखोगे) ॥ २८ ॥

अर्थः—शुद्ध स्नान के कारण रूखे तथा कपोलों तक लटकते हुए केशों को, पल्लव तुल्य ओठों को झुलसा देने वाले निःश्वासों से, निश्चय ही, इधर-उधर दोलायमान करती हुई, स्वप्न में भी मेरे साथ रति-सुख किसी तरह प्राप्त हो जाय—इस विचार से नयन-सलिल के प्रवाह के कारण बाधित नींद को चाहती हुई (उस मेरी प्रिया को देखोगे) ॥ २८ ॥

संजीवनी—निःश्वासेति । शुद्धस्नानात्तैलादिरहितस्नानात्परुषं कठिनस्पर्शं नूनमागण्डलम्बम् सुप्सुपेति समासः । अलकं चूर्णकुन्तलान् । जातावेकवचनम् । अधरकिसलयं क्लेशयति क्लिश्नातीति वा तेन तथोक्तेन । उष्णेनेत्यर्थः । क्लिश्यतेर्ण्यन्तात्क्लिश्नातेरण्यन्ताद्वा ताच्छील्ये णिनिः । निःश्वासेन विक्षिपन्तीं चालयन्तीं

तथा स्वप्नजोऽपि स्वप्नावस्थाजन्योऽपि । साक्षात् संभोगासम्भवादिति भावः । मत्सम्भोगः । कथं केनापि प्रकारेणोपनमेत् । आगच्छेदित्याशयेनेति शेषः । इति नैवोक्तार्थत्वप्रयोगः 'प्रयोगे चापौनरुक्त्यम्' इत्यालङ्कारिकाः । प्रार्थनायां लिङ् । नयनसलिलोत्पीडेनाश्रुप्रवृत्त्या रुद्धावकाशामाक्रान्तस्थानाम् । दुर्लभामित्यर्थः । निद्रामाकाङ्क्षन्तीम् । स्नेहातुरत्वादिति भावः । अत्राश्रुविसर्जनेन लज्जात्यागो व्यज्यते ॥ २८ ॥

टिप्पणी—शुद्धस्नानात्—तेल आदि स्निग्ध पदार्थों के विना केवल जलमात्र से किया गया स्नान शुद्ध स्नान कहा जाता है।

स्वप्नजः मत्संभोगः- विरहिणी यक्ष-प्रिया की आँखों में अश्रु की धारा उमड़ती चली आ रही है। वह सोचती है कि यदि अश्रुधार रुक जाती तो मुझे जरा नींद लग जाती। तब संभवतः स्वप्न में मुझे प्रियतम का संभोग-सुख मिल जाता। इसी विचार से वह बार-बार नींद लाने का प्रयास कर रही है। किंतु धिक्कार है अश्रुधारा को जो नींद को धो-धो कर बहा दे रही है ॥ २८ ॥

व्युत्पत्तिः—आगण्डलम्बम्—लम्बते इति लम्बः, 'लवि अवस्रंसने' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इस सूत्र से अच् प्रत्यय हुआ है। आ गण्डाभ्याम् इति आगण्डम् 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इस सूत्र से अव्ययीभाव हुआ है। आगण्डं लम्बः तं 'सुप्सुपा' समासः। **अलकम्**—√अल् + अक + विभक्तिः। **विक्षिपन्तीम्**—वि + क्षिप् + शतृ (अत्) + विभक्त्यादिः। **आकाङ्क्षन्तीम्**—आ + √काङ्क्ष् + शतृ (अत्) + विभक्त्यादि ॥ २८ ॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ २९ ॥

मैंने बाँधा जिसे विरह के पहले दिन माला को त्याग,
मैं ही स्वयं जिसे खोलूँगा जब जागेंगे मेरे भाग।
कड़ी गाल पर पड़ी खुरखुरी छूते दुखती वह लट एक,
बिना कटे नहँवाले कर से जो सरकाती बार अनेक ॥ २९ ॥

अन्वयः—आद्ये, विरह-दिवसे, दाम, हित्वा, या, शिखा, बद्धा, शापस्य, अन्ते, विगलितशुचा, मया उद्वेष्टनीयाम्, स्पर्शक्लिष्टाम्, कठिनविषमाम्, एकवेणीम्, ताम्, अयमित-नखेन, करेण, गण्डाभोगात्, असकृत्, सारयन्तीम्, (ताम्, पश्यसि) ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—आद्ये = प्रथम, विरह-दिवसे = विरह के दिन, दाम = पुष्प-माला को, हित्वा = छोड़ कर, या = जो, शिखा = चोटी, बद्धा = बाँधी गयी थी, शापस्य = शाप की, अन्ते = समाप्ति पर, विगलितशुचा = शोक-रहित, मया = मेरे द्वारा, उद्वेष्टनीयाम् = खोली जाने वाली, स्पर्शक्लिष्टाम् = छूने पर पीड़ादायक, कठिन-विषमाम् = कठोर और टेढ़े मेढ़े (खुरदुरी), एकवेणीम् = एक गुच्छवाली, एक लड़ी वाली, ताम् = उस चोटी को, अयमितनखेन = विना कटे नाखून वाले, करेण = हाथ से, गण्डाभोगात् = कपोल प्रदेश पर से, असकृत् = बार-बार, सारयन्तीम् = हटाती हुई, (ताम् = उस मेरी प्रियतमा को, पश्यसि = देखोगे) ॥ २९ ॥

अर्थः—विरह के प्रथम दिन पुष्प-माला को हटा कर जो (प्रिया की) चोटी बाँधी गयी थी, शाप की समाप्ति पर शोकरहित मेरे द्वारा (ही) खोली जाने वाली, छूने पर पीड़ादायक, कठोर और खुरदुरी, एक लड़ी वाली उस चोटी को विना कटे हुए नाखूनवाले हाथ से कपोल पर से बार-बार हटाती हुई (उस मेरी प्रियतमा को देखोगे) ॥ २९ ॥

सञ्जीवनी—आद्य इति । आद्ये विरहदिवसे दाम मालां हित्वा त्यक्त्वा या शिखा बद्धा ग्रथिता शापस्यान्ते विगलितशुचा वीतशोकेन मयोद्वेष्टनीयां मोचनीयां स्पर्शक्लिष्टां स्पर्शे सति मूलकेशेषु सव्यथामित्यर्थः । कठिना च सा विषमा निम्नोन्नता च ताम् । खञ्जकुब्जादिवदनन्तरस्य प्राधान्यविवक्षया 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति समासः । एकवेणीमेकीभूतवेणीम् । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना तत्पुरुषः । तां शिखाम् अयमिता अकर्तितोपान्ता नखा यस्य तेन करेण गण्डभोगात्कपोलविस्तारादसकृन्मुहुर्मुहुः सारयन्तीमपसारयन्तीम् 'तां पश्य' इति पूर्वेण सम्बन्धः । असकृत्सारणाच्चित्तविभ्रमदशा सूचिता ॥ २९ ॥

टिप्पणी—आद्ये बद्धा—प्राचीनकाल की यह प्रथा थी कि जब नायक विदेश

जाने लगता था तब वह अपने ही हाथों से नायिका की चोटी से पुष्प-माला को हटा कर वैसे ही कस कर बाँध देता था। और जब वह परदेश से लौटकर आ जाता था तो वही उस चोटी को खोलता भी था। विरह की इस अवधि में नायिका किसी प्रकार का केश-प्रसाधन न करती थी।

एकवेणीम्—प्राचीन काल की नायिकाएँ संयोग की अवस्था में अपने बालों की दो चोटियाँ बनाती थीं और वियोग की अवस्था में एक ॥ २९ ॥

व्युत्पत्तिः—**आद्ये**—आदौ भवः—आदि + यत् + विभक्तिः। **बद्धा**—√बन्ध + क्तः + टाप् + विभक्तिः। **हित्वा**—(ओहाक्) हा + क्त्वा। **उद्वेष्टनीयाम्**—उद्वेष्ट (नामधातु) + अनीयर् + टाप् + विभक्तिः। **क्लिष्टाम्**—√क्लिश + क्तः (कर्तरि) + टाप् विभक्तिः। **सारयन्तीम्**—√सृ + णिच् + शतृ + विभक्तिः ॥ २९ ॥

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ ३० ॥

अलंकार-विरहित बेचारी अबला होगी अधिक अधीर,
जैसे तैसे पड़ी सेज पर ले कर अपना कृशित शरीर।
देख उसे तेरे नयनों से जलद! झरेगा निश्चय नीर,
आर्द्र हृदय प्रायः भर आता दुख से देख पराई पीर ॥ ३० ॥

अन्वयः—अबला, संन्यस्ताभरणम्, असकृत्, दुःखदुःखेन, शय्योत्सङ्गे, निहितम्, पेशलम्, गात्रम्, धारयन्ती, सा, त्वाम्, अपि, नवजलमयम्, अस्रम्, अवश्यम्, मोचयिष्यति, प्रायः, आर्द्रान्तरात्मा, सर्वः, करुणावृत्तिः; भवति ॥३०॥

शब्दार्थः—अबला = दुर्बल, कमजोर, संन्यस्ताभरणम् = आभूषणों से विहीन, असकृत् = बारंबार, दुःखदुःखेन = बड़े दुःख से, शय्योत्सङ्गे = शय्या पर, शय्या के मध्य, निहितम् = रखे हुए, पेशलम् = कोमल, गात्रम् = शरीर को, धारयन्ती = धारण करती हुई, सा = वह मेरी प्रियतमा, त्वाम् = तुम्हें, अपि = भी, नवजलमयम् = नूतन जलमय, अस्रम् = आँसू, अवश्यम् = अवश्य, मोचयिष्यति =

बहाने के लिए बाध्य करेगी। प्रायः = प्रायः, अक्सर, आर्द्रान्तरात्मा = कोमल हृदय वाले, सर्वः = सभी व्यक्ति, करुणावृत्तिः = करुणा से पूर्ण चित्त वाले, भवति = हुआ करते हैं ॥ ३० ॥

अर्थः—दुर्बल और आभूषणों से विहीन, (अपने) कोमल शरीर को बड़े दुःख से शय्या के मध्य करवटें बदलती हुई वह मेरी प्रियतमा तुम्हें भी नूतन जलमय आँसू बहाने के लिए अवश्य बाध्य करेगी। कोमल हृदय वाले प्रायः सभी व्यक्ति करुणा से आर्द्रचित्त हुआ करते हैं ॥ ३० ॥

सञ्जीवनी—सेति। **अबला** दुर्बला **संन्यस्ताभरणं** कृशत्वात्त्यक्ताभरणमसकृदनेकशो **दुःखदुःखेन** दुःखप्रकारेण 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः। **शय्योत्सङ्गे निहितं पेशलं** मृदुलं **गात्रं धारयन्ती** वहन्ती। अनेनात्यन्ताशक्त्या मूर्छावस्था सूच्यते। **सा** त्वत्सखी **त्वामपि नवजलमयं** नवाम्बुरूपमस्रं **वाष्पमवश्यं** सर्वथा **मोचयिष्यति**। 'द्विकर्मसु पचादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति मुचेः पचादित्वाद्द्विकर्मकत्वम्। तथाहि। **प्रायः** प्रायेणार्द्रान्तरात्मा मृदुहृदयः मेघस्तु द्रवान्तःशरीरः। **सर्वः** करुणा करुणामयी वृत्तिरन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स **करुणावृत्तिर्भवति**। **हि** यस्मात्। अस्मिन्नवसरे सर्वथा त्वया शीघ्रं गन्तव्यमान्तरदशापरिहारायेति सन्दर्भाभिप्रायः। ननु किमिदमादिमां चक्षुःप्रीतिमुपेक्ष्यावस्थान्तराण्येव तत्रभवान्कविरादृतवान्। उच्यते—संभोगो विप्रलम्भश्च द्विधा शृङ्गार उच्यते। संयुक्तयोस्तु संभोगो विप्रलम्भो वियुक्तयोः। पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना। विप्रलम्भश्चतुर्धात्र प्रवासस्तत्र च त्रिधा। कार्यतः संभ्रमाच्छापादस्मिन्काव्ये तु शापजः। प्रागसङ्गतयोर्यूनोः सति पूर्वानुरञ्जने। चक्षुःप्रीत्यादयोऽवस्था दश स्युस्तत्क्रमो यथा। दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पाजागरः कृशताऽरतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश। पूर्वसङ्गतयोरेव प्रवास इति कारणात्। न तत्र पूर्ववच्चक्षुःप्रीतिरुत्पत्तिमर्हति। सत्सङ्गस्य सिद्धस्याप्यविच्छेदोऽत्र वर्ण्यते। अन्यथा पूर्ववद्वाच्या इति तावद्व्यवस्थिते। वैयर्थ्यादादिमां हित्वा वैरस्यादन्तिमां तथा। हृत्सङ्गादिरिहाचष्ट कविरष्टाविति स्थितिः। मत्सादृश्यं लिखन्तीति पद्येऽस्मिन्प्रतिपादिता। चक्षुःप्रीतिरिति प्रोक्तं निरुत्तरकृताननम्। चक्षुःप्रीतिर्भवेच्चित्रेष्वदृष्टचरदर्शनात्। यथा मालविकारूपमग्निमित्रस्य

पश्यतः । योषितानां च भर्तृणां क्व दृष्टादृष्टपूर्वता । अथ तत्रापि सन्देहे स्वकलत्राणि पृच्छतु । किं भर्तृप्रत्यभिज्ञा स्यात्किं वैदेशिकभावना । प्रवासादागते त्वस्मिन्नित्यलं कलहैर्वृथा ।' इति ॥ ३० ॥

टिप्पणी—संन्यस्ताभरणम्—मल्लिनाथ के अनुसार यक्षपत्नी अत्यंत दुर्बल हो गयी है। उसने आभूषण पहनना छोड़ दिया है क्योंकि विरहिणी को प्रसाधन एवं अलंङ्कार धारण करना वर्जित हैं।

मोचयिष्यति—कवि के कहने का भाव यह है कि मेरी प्रियतमा की दीन-हीन दशा को देखकर कोई भी बिना रोये नहीं रह सकता। अतः आप भी उसे देखकर नूतन जल के बहाने अवश्य ही आँसू बहाएँगे ॥ ३० ॥

शय्योत्सङ्गे निहितम्—महाकवि ने उत्तर मेघ के श्लोक २२ से ३० तक विरह की आठ अवस्थाओं का वर्णन किया है। विरह की कुल दश दशाएँ हुआ करती हैं। इनमें प्रथम 'नयन प्रीति' तथा अंतिम 'मरण' का वर्णन महाकवि ने छोड़ दिया है। ये दश अवस्थाएँ इस प्रकार हैं:—

दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशताऽरतिः ।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥

२२-२३ श्लोक में 'मनःसंग' (उत्कण्ठा), २४ वें श्लोक में 'संकल्प' (पति तथा पतिसमागम के विचार) श्लोक २५ में 'जागर' (नींद का न आना), श्लोक २६ में 'कृशता' (दुर्बलता), श्लोक २७ में 'अरति' (आमोद-प्रमोद में रुचि का न होना), श्लोक २८ में 'ह्रीत्याग' (स्त्रियोचित लज्जा का न होना), श्लोक २९ में 'उन्माद' (पागलपन), और श्लोक ३३ वें में 'मूर्च्छा' (चेतना-रहित हो लेट जाना) वर्णित या सङ्केतित है ॥ ३० ॥

व्युत्पत्तिः—निहितम्—नि + √धा + क्त + विभक्त्यादिः । **धारयन्ती**+√धृ + शतृ + ङीप् + विभक्तिः ॥ ३० ॥

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
प्रत्यक्षन्ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ ३१ ॥

तेरी सखी जानता हूँ जो मुझसे रखती प्रेम महान्,
इसी लिए इस प्रथम विरह में मैं करता ऐसे अनुमान।
अपनी सुन्दरता के मद में नहीं बहकता मैं सच मान,
जो कुछ मैंने कहा मित्र ! सब स्वयं देख कर लेगा जान ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तव, सख्याः, मनः, मयि, संभृतस्नेहम्, (इति), जाने, अस्मात् अहम्, प्रथमविरहे, ताम्, इत्थंभूताम्, तर्कयामि, सुभगम्मन्यभावः, माम् वाचालम्, न, करोति, खलु, हे भ्रातः, मया, यत्, उक्तम्, (तत्), निखिलम्, अचिरात्, ते, प्रत्यक्षम् (भविष्यति) ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—तव = तुम्हारी, सख्याः = सखी का, मनः = मन, मयि = मेरे प्रति, संभृतस्नेहम् = प्रेम से भरा हुआ है, (इति=ऐसा), जाने = मैं जानता हूँ, अस्मात् = इस लिये, अहम् = मैं, प्रथमविरहे = प्रथम विरह में, ताम् = उसे, इत्थंभूताम् = इस प्रकार की हो गयी हुई, तर्कयामि = अनुमान करता हूँ, सुभगम्मन्यभावः = अपने को सौभाग्यशाली समझने का अभिमान, माम् = मुझे, वाचालम् = वाचाल, मुखर, न=नहीं, करोति = कर रहा है, बना रहा है, खलु = निश्चय ही, हे भ्रातः = हे भाई, मया = मेरे द्वारा, यत् = जो कुछ, उक्तम् = कहा गया है, (तत् = वह सब), निखिलम् = पूरा का पूरा, अचिरात् = शीघ्र ही, ते = तुम्हारी, प्रत्यक्षम् = आँखों के सामने, (भविष्यति = आएगा, होगा) ॥ ३१ ॥

अर्थः—तुम्हारी सखी (मेरी प्रिया) का मन मेरे प्रति प्रेम से भरा हुआ है—(यह) मैं जानता हूँ। इसलिए मैं प्रथम विरह में ही उसे ऐसी हो गयी अनुमित करता हूँ। अपने को सौभाग्यशाली समझने का अभिमान निश्चय ही मुझे वाचाल नहीं बना रहा है। हे भाई, मेरे द्वारा जो कुछ कहा गया है (वह सब) पूरा का पूरा शीघ्र ही तुम्हारी आँखों के सामने (आएगा) ॥ ३१ ॥

नन्वीदृशीं दशामापन्नेति कथं त्वया निश्चितमत आह—

सञ्जीवनी—जान इति । हे मेघ ! तव सख्या मनो मयि संभृतस्नेहं सञ्चितानुरागं जाने अस्मात्स्नेहज्ञानकारणात्प्रथमविरहे । प्रथमग्रहणं दुःखातिशयद्योतनार्थम् । तां त्वत्सखीमित्थंभूतां पूर्वोक्तावस्थामापन्नां तर्कयामि । ननु सुभगमानिनामेष

स्वभावो यदात्मनि स्त्रीणामनुरागप्रकटनं तत्राह— **वाचालमिति** । सुभगमात्मानं मन्यत इति सुभगंमन्य: 'आत्ममाने खश्च' इति खश्प्रत्यय: । 'अरुर्द्विषद्—'इत्यादिना मुमागम: । तस्य भाव: **सुभगम्मन्यभाव:** सुभगमानित्वं **मां वाचालं** बहुभाषिणं **न करोति खलु** । सौन्दर्याभिमानितां न प्रकटयामीत्यर्थ: । 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमर: । 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' इत्यालच्प्रत्यय: । किन्तु **हे भ्रात: !** **मयोक्तं यत्** 'आधिक्षामाम्' इत्यादि **तन्निखिलं सर्वमचिराच्छीघ्रमेव ते तव प्रत्यक्षम्** । भविष्यतीति शेष: ।। ३१ ।।

टिप्पणी—संभृतस्नेहम्—यक्षप्रिया पतिव्रता स्त्री है। अत: उसका मन यक्ष के प्रति अनुराग से भरा हुआ है। यक्ष भी एकमात्र अपनी पत्नी के प्रति ही अपना सर्वस्व निछावर किये बैठा है। वस्तुत: यक्ष-यक्षप्रिया की जोड़ी आदर्श जोड़ी है ।। ३१ ।।

व्युत्पत्ति:—संभृत०—सम् + √भृ + क्त + विभक्त्यादि: । **इत्थंभूताम्**—इदम् + थमु । **वाचालम्**—वाच् + आलच् + विभक्ति: । **प्रत्यक्षम्**— अक्षम् = इन्द्रियं प्रति गतं प्रत्यक्षम्—प्रति + अक्षि + टच् समासान्त: + विभक्त्यादि: ।। ३१ ।।

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ।। ३२ ।।

कोरा आँजे बिना लटों के मारे कोरों को छोड़ा,
भ्रू-विलास बिसराये जिसने जब से मधु से मुँह मोड़ा।
फड़क उठा ऊपर को तेरे जाते मृगनयनी का नैन,
होगा मछली की मचलन से चंचल कमल कान्ति का ऐन ।। ३२ ।।

अन्वय:—अलकै:, रुद्धापाङ्गप्रसरम्, अञ्जनस्नेहशून्यम्, मधुन:, प्रत्यादेशात्, अपि, विस्मृतभ्रूविलासम्, त्वयि, असन्ने (सति), उपरिस्पन्दि, मृगाक्ष्या:, नयनम्, मीनक्षोभात्, चलकुवलयश्रीतुलाम्, एष्यति; इति शङ्के ।। ३२ ।।

शब्दार्थ:—अलकै: केशों से, **रुद्धापाङ्गप्रसरम्**=रोके गये कटाक्ष-व्यापार

वाले; अञ्जनस्नेहशून्यम् = अंजन की चिकनाहट से शून्य, मधुनः = मदिरा के, प्रत्यादेशात् = परित्याग से, अपि = भी, विस्मृतभ्रूविलासम् = भूले हुए भ्रूविलास वाले, त्वयि = तुम्हारे, आसन्ने (सति) निकट आने पर, उपरिस्पन्दि = ऊपर की ओर चलते हुए, ऊपर की ओर उठते हुए, मृगाक्ष्याः = मृगनयनी के, नयनम् = नेत्र, मीनक्षोभात् = मछली के हिलने-डुलने से, चलकुवलयश्रीतुलाम् = चंचल नीलकमल की शोभा की समता को, एष्यति = प्राप्त करेंगे, इति = ऐसी, शङ्के = संभावना करता हूँ ॥ ३२ ॥

अर्थः—केशों से रोके गये कटाक्ष-व्यापार वाले, अंजन की चिकनाहट से शून्य, मदिरा के परित्याग से भी भूले हुए भ्रू-विलास वाले, तुम्हारे निकट आने पर ऊपर की ओर उठते हुए, मृगनयनी (मेरी प्रियतमा) के नेत्र मछली के हिलने-डुलने से चंचल नील कमल के समान शोभित होंगे, —ऐसी मैं संभावना करता हूँ ॥ ३२ ॥

सञ्जीवनी—**रुद्धेति । अलकै रुद्धा अपाङ्गयोः प्रसरा** यस्य तत्तथोक्तम् । **अञ्जनेन स्नेहः** स्नैग्ध्यं तेन **शून्यम्** । स्निग्धाञ्जनरहितमित्यर्थः । **अपि** किं च **मधुनो** मद्यस्य **प्रत्यादेशान्निराकरणात्** । परित्यागादित्यर्थः । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । **विस्मृतो भ्रूविलासो भ्रूभङ्गो** येन तत् नयनस्य रुद्धापाङ्गप्रसरत्वादिकं विरहसमुत्पन्नमिति भावः । **त्वय्यासन्ने** सति । स्वकुशलवार्ताशंसिनीति शेषः । उपर्यूर्ध्वभागे स्पन्दते स्फुरतीत्युपरिस्पन्दि । तथा च निमित्तनिदाने—'स्पन्दान्मूर्ध्नि च्छत्रलाभं ललाटे पट्टमंशुकम् । इष्टप्राप्तिं दृशोरूर्ध्वमपाङ्गे हानिमादिशेत् ।' इति । **मृगाक्ष्यास्त्वत्सख्या नयनम्** । वाममिति शेषः । 'वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः । दाने देवादिपूजायां स्पन्देऽलङ्करणेऽपि च ।' इति स्त्रीणां वामभागप्राशस्त्यात् । **मीनक्षोभान्मीनचलनाच्चलस्य कुवलयस्य श्रिया** शोभया **तुलां** सादृश्य**मेष्यतीति शङ्के** तर्कयामि । सदृशपर्यायस्य तुलाशब्दस्य प्रतिषेधेऽत्र च सादृश्यवाचित्वाद् तद्योगे 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इति कृद्योगे तृतीया ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—अलकैः—यक्षप्रिया वियोगिनी है । वियोगिनी केश-प्रसाधन नहीं करती । अतः उसकी अलकें मुखमण्डल पर छितरायी रहती हैं । यही कारण है कि उसके नेत्रकटाक्ष अगल-बगल नहीं जा पाते ।

अंजनस्नेहशून्यम्—यहाँ स्नेह का अर्थ मैत्री भी हो सकता हैं। जिन आँखों ने अंजन से मैत्री छोड़ दी है। अर्थात् जो बिना अंजन के रहा कती हैं। विरहिणी स्त्री के लिए अंजन लगाना भी वर्जित है।

मधुनः प्रत्यादेशात्—मदिरा-पान से आँखों में मतवालापन, हाव-भाव तथा चांचल्य अनायास चले आते हैं। किंतु विरहिणी यक्षिणी ने मदिरा-पान भी छोड़ दिया होगा। इस स्थल से यह समर्थित होता है कि कालिदास के काल में मदिरा-पान सामान्य-सी प्रथा थी। देखिये—पूर्वमेघ—'हित्वा हालामभिमतरसां' तथा रघु० ४।६१ 'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।'

श्रीतुलाम्—मल्लिनाथ जी ने 'श्रिया तुलाम्' ऐसा समास कर यहाँ तृतीया तत्पुरुष माना है। उन्होंने यहाँ तृतीया विधायक 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इस सूत्र से अतुलोप माभ्याम्=तुला और उपमा शब्द को छोड़कर इस निषेध के विषय में 'सादृश्यपर्यायस्य तुलाशब्दस्य' आदि—लिख कर यह सिद्ध किया है कि 'सदृश' के वाचक 'तुला' शब्द से ही तृतीया निषिद्ध हैं। यहाँ तुला का अर्थ सदृश नहीं अपितु सादृश्य है। अतः उक्त निषेध लागू नहीं होता। किंतु यहाँ ध्यान देना है कि 'तुला' और 'उपमा' इन दोनों शब्दों का 'सदृश' अर्थ होता ही नहीं। इन दोनों का ही अर्थ है—सादृश्य। नागेश ने भी तुला और उपमा को सादृश्यार्थक माना है, सदृशार्थक नहीं। अतः मल्लिनाथजी का निषेध लागू न होने वाला तर्क निरस्त हो जाता है। इस तरह तुला शब्द के साथ तृतीया का निषेध हो जाने से 'शेषे षष्ठी' इस सूत्र से षष्ठी ही होगी और 'श्रीतुलाम्' का विग्रह होगा' श्रियाः तुलाम्' न कि 'श्रिया तुलाम्॥ ३२॥

व्युत्पत्तिः—रुद्धा०—√रुध् + क्त + विभक्त्यादिः। **प्रत्यादेशात्**—प्रति + आ + √दिश् + घञ् (भावे) + विभक्त्यादिः। **आसन्ने**—आ + √सद् + क्त + विभक्त्यादिः। **०क्षोभ०**—√क्षुभ् + घञ् (भावे) + विभक्त्यादिः॥ ३२॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्॥ ३३॥

थे रतान्त में रहते मेरे कर जिसके मर्दन में लीन,
जिसे बनाया आज दैव ने मुक्तामय रशना से हीन।
मेरे नखक्षतों से छूटा रम्भा के खम्भा सा गौर,
उसका बांयाँ चारु ऊरु वह फड़केगा रतिरस का ठौर ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मदीयैः, कररुहपदैः, मुच्यमानः, चिरपरिचितम्, मुक्ताजालम्, दैवगत्या, त्याजितः, संभोगान्ते, मम, हस्तसंवाहनानाम्, समुचितः, सरसकदलीस्तम्भगौरः, अस्याः, वामः, ऊरुः, चलत्वम्, यास्यति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—मदीयैः = मेरे, कररुहपदैः = नाखूनों के चिह्नों से, नखक्षतों से, मुच्यमानः = विरहित, चिरपरिचितम् = चिर अभ्यस्त, बहुत दिनों से पहने गये, मुक्ताजालम् = मोती की लड़ियों से, दैवगत्या = भाग्यवश, त्याजितः = निर्मुक्त, संभोगान्ते = रति-क्रीडा के अंत में, मम = मेरे, हस्तसंवाहनानाम् = हाथों से मर्दन के, समुचितः = योग्य, सरसकदलीस्तम्भगौरः = रस से आर्द्र केले के स्तम्भ के समान गोरी, अस्याः = इसकी, वामः = बाईं, ऊरुः = जाँघ, चलत्वम् = स्फुरण को, यास्यति = (जायेगी) प्राप्त करेगी ॥ ३३ ॥

अर्थः—मेरे नख-क्षतों से विरहित, चिर अभ्यस्त मोती की लड़ियों (वाली करधनी) से भाग्यवश निर्मुक्त, रति-क्रीडा के अंत में मेरे हाथों से मर्दन के योग्य, रस से आर्द्र केले के स्तम्भ के समान गोरी, उसकी बाईं जाँघ (तुम्हें देख कर) फड़क उठेगी ॥ ३३ ॥

सञ्जीवनी—**वाम इति । मदीयैः कररुहपदैर्नखपदैः** 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । **मुच्यमानः** परिहीयमाणः नखाङ्कुररहित इत्यर्थः । ऊर्वोर्नखपदास्पदत्वं तु रतिरहस्ये—'कण्ठकुक्षिकुचपार्श्वभुजोरःश्रोणिसक्थिषु नखास्पदमाहुः' इति । **चिरपरिचितं** चिराभ्यस्तं **मुक्ताजालं** मौक्तिकसरमयं कटिभूषणं **दैवगत्या** दैववशेन **त्याजितः** । संप्रति नखपदोष्माभावेन शीतोपचारस्य तस्य वैयर्थ्यादिति भावः । त्यजतेर्ण्यन्तात्कर्मकर्तरि क्तः । 'द्विकर्मसु पचादीनां चोपसंख्यानमिष्यते' इति पचादित्वाद्द्विकर्मकत्वम् । **संभोगान्ते मम हस्तसंवाहनानां** हस्तेन मर्दनानाम् । 'संवाहनं मर्दनं स्यात्' इत्यमरः । **समुचितो** योग्यः । **सरसो** रसार्द्रः परिपक्वो न शुष्कश्च स एव विवक्षितः । तत्रैव पाण्डिमसंभवात् । स चासौ कदली-

स्तम्भश्च स एव **गौरः** पाण्डुरः ।' गौरः करीरे सिद्धार्थे शुक्ले पीतेऽरुणेऽपि च' इति मालतीमालायाम् । **अस्या प्रियाया वाम ऊरुश्चलत्वं** स्पन्दनं **यास्यति** प्राप्स्यते । 'उरोः स्पन्दाद्रतिं विद्यादूर्वोः प्राप्तिं सुवाससः' इति निमित्तनिदाने ॥३३॥

टिप्पणी—सरसकदलीस्तम्भगौरः—इसका पाठांतर 'कदलीगर्भगौरः' है। यह अधिक उपयुक्त पाठ है। कदलीवृक्ष के ऊपर की हरी-हरी परतें हटा दीजिये। कई परत हटाने के बाद आप देखेंगे कि अति कोमल तथा गौर कदली-स्तम्भ आप के समक्ष है। सुंदरियों की जाँघों की उपमा इन्हीं कदलीस्तंभों से दी जाती है।

वामः ऊरुः चलत्वं यास्यति—स्त्रियों के बायें अंगों का फड़कना शुभ माना गया है। बाँए अंगों में यदि जाँघ फड़के तो शीघ्र ही रति-सुख की प्राप्ति होती है:—

"ऊरोः स्पन्दाद्रतिं विद्यादूर्वोः प्राप्तिं सुवाससः ॥ ३३ ॥"

व्युत्पत्तिः-मुच्यमानः—√मुच् + शानच् (कर्मणि) + विभक्तिः । **परिचितम्**—परि + √चि + क्त + विभक्तिः । **संवाहनानाम्**—सम् +√वह + णिच् + ल्युट् (अन्) + विभक्तिः । **चलत्वम्**—√चल्+अच् + त्व + विभक्तिः ॥ ३३ ॥

तस्मिन् काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ ३४ ॥

हे जलधर ! उस समय नींद का यदि वह लेती हो आनन्द,
वैठ उसी के पास पहर भर तू रख कर अपना मुँह बन्द ।
हो न भाग्यवश मिले स्वप्न में मेरे आलिंगन का भंग,
बाहुलता की गांठ छूट कर करे न उसकी नष्ट उमंग ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे जलद, तस्मिन्, काले, सा, लब्धनिद्रासुखा, स्यात्, यदि, एनाम्, अन्वास्य, स्तनितविमुखः (सन्), याममात्रम्, सहस्व, अस्याः, प्रणयिनि, मयि, कथञ्चित्, स्वप्नलब्धे (सति), गाढोपगूढम्, सद्यः, कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि, मा भूत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः— हे जलद = हे मेघ, तस्मिन् = उस, काले = समय, सा = वह मेरी प्रियतमा, लब्धनिद्रासुखा = निद्रा-सुख को प्राप्त कर रही, स्यात् = हो,

यदि = तो, एनाम् = इसके, अन्वास्य = पीछे बैठ कर, स्तनितविमुख (सन्) = गर्जन को छोड़कर, याममात्रम् = एक पहर भर, सहस्व = प्रतीक्षा कर लेना, अस्याः = इस के, प्रणयिनि = प्रणयी, मयि = मेरे, कथञ्चित् = किसी किसी तरह, स्वप्नलब्धे (सति) = स्वप्न में प्राप्त होने पर, गाढोपगूढम् = कस कर किया गया आलिंगन, सद्यः = उसी क्षण, कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि = गले में (लता जैसी) लंबी लंबी भुजाओं के बंधन से रहित, मा भूत् = न हो जाय।।३४।।

अर्थः—हे जलद, उस समय वह मेरी प्रियतमा यदि निद्रासुख को प्राप्त कर रही हो तो उस के पीछे बैठकर गर्जन से विमुख होकर एक पहर भर प्रतीक्षा कर लेना, किसी-किसी तरह स्वप्न में मुझ प्रणयी के प्राप्त होने पर कस कर किया गया आलिंगन, उसी क्षण, गले में (लता जैसी) लंबी-लंबी भुजाओं के बंधन से रहित न हो जाय ।। ३४ ।।

सञ्जीवनी—तस्मिन्निति । हे जलद ! **तस्मिन् काले** त्वदुपसर्पणकाले **सा** मत्प्रिया **लब्धं निद्रासुखं** यया तादृशी **स्याद्यदि स्याच्चेत्** । **एनां** निद्राणामन्वास्य पश्चादासित्वेत्यर्थः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् । **स्तनितविमुखो** गर्जितपराङ्मुखो निःशब्दः सन् । अन्यथा निद्राभङ्गः स्यादिति भावः । **याममात्रं** प्रहरमात्रम् । द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । **सहस्व** प्रतीक्षस्व । प्रार्थनायां लोट् । शक्तयोरेकवार-सुरतस्य यामावधिकत्वात्स्वप्नेऽपि तथा भवितव्यमित्यभिप्रायः । तथा च रतिसर्वस्वे —'एकवारावधिर्यामो रतस्य परमो मतः । चण्डशक्तिमतोर्यूनोरद्भुतक्रम-वर्तिनोः ।' इति । यामसहनस्य प्रयोजनमाह—**मा भूदिति** । **अस्याः** प्रियायाः **प्रणयिनि** प्रेयसि **मयि कथंचित्कृच्छ्रेण स्वप्नलब्धे** सति **गाढोपगूढं** गाढालिङ्गनम् । नपुंसके भावे क्तः । **सद्यस्तत्क्षणं कण्ठाच्च्युतः** स्रस्तो **भुजलतयोर्ग्रन्थिर्बन्धो** यस्य तन्मा **भून्मास्तु** । कथञ्चिल्लब्धस्यालिङ्गनस्य सद्यो विघातो मा भूदित्यर्थः । न चात्र निद्रोक्तिः तामुन्निद्राम्' इति पूर्वोक्तेन निद्राछेदेन विरुध्यते पुनः सप्तम्याद्यवस्थासु पाक्षिकानिद्रासम्भवात् । तथा च रसरत्नाकरे—'आसक्ती रोदनं निद्रा निर्लज्जानर्थवाग्भ्रमः । सप्तमादिषु जायन्ते दशाभेदेषु वासुके ।।' इति ।। ३४ ।।

टिप्पणी—याममात्रम्—एक याम तीन घंटे के बराबर होता है। महिमसिंह-गणी के अनुसार याम भर प्रतीक्षा करने का कारण यह है कि—"यक्षपत्नी

पद्मिनी स्त्री थी। पद्मिनी की नींद एक याम भर की होती है।" उन्होंने प्रमाण के लिये यह श्लोक उद्धृत किया है—"पद्मिनी यामनिद्रा च द्विप्रहरा च चित्रिणी। हस्तिनी यामत्रितया घोरनिद्रा च शंखिनी॥"

किंतु मल्लिनाथ का मत कुछ और ही है। उनका कहना है कि—"सशक्त पति-पत्नी एक प्रहर तक संभोग-क्रीड़ा निर्बाध चलाते रहते हैं। अतः अभ्यासानुसार स्वप्न में भी कुछ वैसा ही होना चाहिए। देखिए—मल्लिनाथ की टीका सञ्जीवनी।

कथञ्चित्—मेघ का आशय यह है—नींद ही नहीं आती है। यदि कुछ समय के लिए वह सो भी जाय तो उसे प्रयत्न करने पर भी, स्वप्न में मैं दिखलायी हीं नहीं पड़ता। यदि कहीं दिखलायी पड़ गया और उसने मुझे कस कर अपने आलिंगन में बाँध लिया तो गरजकर उसे डरा मत देना। अन्यथा उसका आलिंगन छूट जायेगा और उस बेचारी का आनन्द भग्न हो जाएगा। यही है कथंचित् का अभिप्राय॥ ३४॥

व्युत्पत्तिः—अन्वास्य—अनु + √आस् + ल्यप्। प्रणयिनि–प्रणय + इनिः + विभक्तिः। स्वप्न०—√स्वप् + नङ् + विभक्त्यादिः॥ ३४॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥ ३५॥

वर्षा की ठंडी बयार से पहले उसे उठा लेना,
नई चमेली की कलियों के साथ साथ खिलने देना।
जब मानिनी एक टक देखे तुझको खिड़की पर आसीन,
धीर! घोर गर्जन से कहना तब चपला कर अन्तर्लीन॥ ३५॥

अन्वयः—(हे मेघ), स्वजलकणिकाशीतलेन, अनिलेन, ताम् उत्थाप्य, अभिनवैः, मालतीनाम्, जालकैः, समम्, प्रत्याश्वस्ताम्, (विधाय), त्वत्सनाथे, गवाक्ष, स्तिमितनयनाम्, मानिनीम्, विद्युद्गर्भः, (त्वम्), धीरः (सन्), स्तनितवचनैः, वक्तुम्, प्रक्रमेथाः॥ ३५॥

शब्दार्थः—(हे मेघ = हे बादल), स्वजलकणिकाशीतलेन = अपने जलकणों से शीतल, अनिलेन = वायु से, ताम् = उस (मेरी प्रियतमा) को, उत्थाप्य = उठाकर, जगाकर, अभिनवैः = नूतन, ताजी, मालतीनाम् = चमेली की, जालकैः = कलियों के, समम् = साथ-साथ, प्रत्याश्वस्ताम् = स्वस्थ, पुनः खिली हुई, (विधाय = करके, बनाकर), त्वत्सनाथे = तुमसे युक्त, गवाक्षे = खिड़की पर, स्तिमितनयनाम् = एक टक आँखें लगाई हुई, मानिनोम् = मानिनी को, विद्युद्गर्भः = बिजली को अपने अंदर छिपाये, (त्वम् = तुम), धीरः (सन्) = धीर बन कर, स्तनितवचनैः = गर्जन रूपी वचनों से, वक्तुम् = बोलना, प्रक्रमेथाः = प्रारम्भ करना ॥ ३५ ॥

अर्थः—(हे मेघ), अपने जल कणों से शीतल वायु से उस मेरी प्रियतमा को जगाकर ताजी चमेली की कलियों के साथ-साथ स्वस्थ बनाकर प्रसन्न करके खिड़की पर अपने ऊपर एक टक आँखें लगाई हुई (उस . मानिनी से अपने अन्दर बिजली छिपाकर (तुम) धीर बनकर (अर्थात् धीरे-धीरे) गर्जन रूपी वचनों से वक्तव्य आरंभ करना ॥ ३५ ॥

संजीवनी—**तामिति**। **तां** प्रियां **स्वस्य जलकणिकाभिर्जलबिन्दुभिः शीतलेनानिलेनोत्थाप्य** प्रबोध्य। एतेन तस्याः प्रभुत्वाद् व्यजनानिलसमाधिर्व्यज्यते। यथाह भोजराजः—'मृदुभिर्मर्दनैः पादे शीतलैर्व्यजनैः स्तनौ। श्रुतौ च मधुरैर्गीतैर्निद्रातो बोधयेत्प्रभुम्' इति **अभिनवैर्नूतनैर्मालतीनां जालकैः समं** जातीमुकुलैः सह ॥ 'सुमना मालती जातिः' इति, 'साकं सत्रा समं सह' इति, 'क्षारको जालकं कलिका कोरकः पुमान्' इति चामरः। **प्रत्याश्वस्तां** सुस्थिताम्। अन्यच्च पुनरुच्छ्वासिताम्। श्वसेः कर्तरि क्तः। 'ओदितश्च' इति चकारादिट्प्रतिषेधः। एतेनास्याः कुसुमसौकुमार्यं गम्यते। **त्वत्सनाथे** त्वत्सहिते। 'सनाथं प्रभुमित्याहुः सहिते चित्ततापिनि' इति शब्दार्णवे। **गवाक्षे स्तिमितनयनां** कोऽसाविति विस्मयान्निश्चलनेत्रां **मानिनीं** मनस्विनीम्। जनानौचित्यासहिष्णुमित्यर्थः। **विद्युद्गर्भो**ऽन्तःस्थो यस्य स विद्युद्गर्भः। अन्तर्लीनविद्युत्क इत्यर्थः। गर्भोऽपवारकेऽन्तःस्थे गर्भोऽग्नौ कुक्षिणोऽर्भके' इति शब्दार्णवे। दृष्टिप्रतिघातेन वक्तुर्मुखावलोकनप्रतिबन्धकत्वान्न विद्युता द्योतितव्यमिति भावः। **धीरो** धैर्यविशिष्टश्च सन्। अन्यथा

शीलत्वादिनैतदनाश्वासनप्रसङ्गादिति भावः । **स्तनितवचनैः** स्तनितान्येव वचनानि तैर्वक्तुं **प्रक्रमेथा** उपक्रमस्व । विध्यर्थे लिङ् । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम् ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—मालतीनां जालकैः—रात्रि के अवसान में चमेली की कलियाँ शीतल मंद पवन के स्पर्श से विकसित होती हैं।

स्तिमितनयनाम्—मेघ को गवाक्ष पर बैठा देखकर यक्षप्रिया को आनंद-दुःख से मिश्रित विस्मय होगा। अतः वह निर्निमेष दृष्टि से मेघ को देखती रह जाएगी।

विद्युद्गर्भः—सारोद्धारिणी तथा कुछ अन्य टीकाकारों के मत से 'विद्युद्गर्भः' का अर्थ है—'स्त्रीसहायः' । इससे यह भाव निकलता है कि मेघ वहाँ अपनी बिजलीरूपी स्त्री को साथ लेकर ही जाय । क्योंकि किसी पुरुष के लिए परस्त्री के साथ अकेले में बात करना सभ्यता नहीं है । मेघ पुरुष है । "परनारीसंभाषणमेकाकिनो नोचितम् ।" मल्लिनाथ के मत से मेघ को इसलिए अपने अंदर बिजली को छिपा कर रखना चाहिए कि कहीं यक्षपत्नी की आँखें चकाचौंध न हो जायँ । आँखें चौंधिया जाने पर वह मेघ के मुख को देख न सकेगी । बहुत से भाव वक्ता के मुख से ही व्यक्त होते हैं ॥ ३५ ॥

व्युत्पत्तिः—उत्थाप्य—उत् + √स्था + णिच् + ल्यप् । **प्रत्याश्वस्ताम्**—प्रति + आ + √श्वस् + क्तः (कर्तरि) + टाप् । **मानिनीनाम्** - प्रशस्तो मानोऽस्ति यस्याः सा मानिनी ताम् । मान + इनिः + विभक्तिः । **वक्तुम्**—√वच् + तुमुन् ॥ ३५ ॥

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ३६ ॥

अरी सुहागिन ! मुझे समझ तू अपने पति का मित्र विशेष,
तेरे पास हृदय में रख कर लाया हूँ उसका सन्देश ।
मेरा नाम मेघ है, मैं ही मधुर धीर गर्जन विस्तार-
विरहिनियों की लटें खुलाने पथिकों को लाता आगार ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे अविधवे, माम्, भर्तुः, प्रियम्, मित्रम्, हृदयनिहितैः, तत्सन्देशैः, त्वत्समीपम्, आगतम्, अम्बुवाहम्, विद्धि, यः, अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि, पथि, श्राम्यताम्, प्रोषितानाम्, वृन्दानि, मन्द्रस्निग्धैः, ध्वनिभिः, त्वरयति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—हे अविधवे = हे सौभाग्यवती, माम् = मुझे, भर्तुः = (अपने) पति का, प्रियम् = प्रिय, मित्रम् = मित्र, हृदयनिहितैः = हृदय में रखे हुए, तत्सन्देशैः = उनके संदेशों के साथ, त्वत्समीपम् = तुम्हारे पास, आगतम् = आया हुआ, अम्बुवाहम् = जलद, विद्धि = समझो, यः = जो (मेघ), अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि = (विरहिणी) स्त्रियों की चोटी को खोलने के लिये उत्कंठित, पथि = मार्ग में, श्राम्यताम् = थके-माँदे, प्रोषितानाम् = विरही जनों के, परदेश गये हुएं लोगों के, वृन्दानि = समूहों को, झुंडों को, मन्द्रस्निग्धैः = मधुर, ध्वनिभिः = गर्जनों से, त्वरयति = (घर पहुँचने के लिये) शीघ्रता करवाता है ॥ ३६ ॥

अर्थः—हे सौभाग्यवती, तुम मुझे (अपने) पति का प्रिय मित्र मेघ समझो जो हृदय में रखे हुए उनके संदेशों के साथ तुम्हारे पास आया है। मैं ही विरहिणी स्त्रियों की चोटी को खोलने के लिये उत्कंठित, मार्ग में थके-माँदे विरही जनों के समूहों को (अपने) मधुर गर्जनों से (घर पहुँचने के लिए) शीघ्रता करवाता हूँ ॥ ३६ ॥

संप्रति दूतस्य श्रोतृजनाभिमुखीकरणचातुरीमुपदिशति—

सञ्जीवनी – **भर्तुरिति** विधवा गतभर्तृका न भवतीत्यविधवा सभर्तृका। **हे अविधवे !** अनेन भर्तृजीवनसूचनादनिष्टाशङ्कां वारयति। **मां भर्तुस्तव** पत्युः **प्रियं मित्रं** प्रियसुहृदम्। तत्रापि **हृदयनिहितैर्मनसि** स्थापितैस्त**त्सन्देशैस्तस्य** भर्तुः सन्देशैस्त्व**त्समीपमागतम्**। भर्तुः सन्देशकथनार्थमागतमित्यर्थः। **अम्बुवाहं** मेघं **विद्धि** जानीहि। न केवलमहं वार्ताहरः किंतु घटकोऽपीत्याशयेनाह। **योऽम्बुवाहो** मेघो **मन्द्रस्निग्धैः** स्निग्धगम्भीरै**र्ध्वनिभिर्गर्जितैः** करणैः। **अबलानां** स्त्रीणां **वेणयस्तासां मोक्षे** मोचने **उत्सुकानि पथि श्राम्यतां** श्रान्तिमापन्नानां **प्रोषितानां** प्रवासिनाम्। पान्थानामित्यर्थः। **वृन्दानि** सङ्घांस्**त्वरयति**। पान्थोपकारिणो मे किमु वक्तव्यं सुहृदुपकारित्वमिति भावः ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—**अविधवे**—यद्यपि 'अविधवा' का अर्थ सौभाग्यवती होता है।

किंतु इस शब्द में 'विधवा' शब्द का भी प्रयोग है। अतः यह प्रयोग के लिए उचित अथवा शुभसूचक नहीं माना जाता। महाकवि ने यहाँ इस पद का साभिप्राय प्रयोग किया है। यक्षपत्नी को अभी तक निश्चयरूप से यही नहीं पता है कि उसका प्रियतम जीवित है अथवा विरह में छटपटा-छटपटा कर मर गया। अतः मेघ सर्वप्रथम उसे 'अविधवे' कहकर यह सूचित करता है कि कक्ष जीवित है, सकुशल है। तुम्हें उसका समाचार जानना और पूछना चाहिए।

यो'''वृन्दानि'''त्वरयति—पहले यह परंपरा थी कि पुरुष-वर्ग विजया दशमी के बाद अपनी जीविका कमाने के लिए परदेश चला जाता था। गंगादशहरा को वह घर के लिए वापस चल पड़ता था। उन दिनों लोग पैदल ही चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते थे। पैदल चलते-चलते वे थक कर मार्ग में ही विश्राम करने के लिए बाध्य हो जाते थे। किंतु जब मेघों की घटाएँ दिखलायी पड़ जाती थीं, तो वे जल्दी-जल्दी घर पहुँचने के लिए उत्कंठित हो उठते थे। अपनी प्रियतमा के गले से लिपट कर हृदय की जलन शांत करने के लिए आतुर हो उठते थे। इस तरह मेघ यह सूचित कर रहा है कि मैं विरहिणी स्त्रियों का परम उपकारक हूँ॥ ३६॥

व्युत्पत्तिः—**निहितैः**—नि + √धा + क्त + विभक्तिः। **सन्देशैः**—सम् + दिश् + अण् (कर्मणि) + विभक्तिः। **श्राम्यताम्**—√श्रम् + शतृ (अत्) + विभक्त्यादिः। **त्वरयति**—त्वरा + णिच् + लट् + विभक्तिकार्यम्॥ ३६॥

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः॥ ३७॥

यों कहने पर वह सीता सी मारुतसुत सा तुझे निहार,
उत्कण्ठा से उछल पड़ेगी और करेगी अति सत्कार।
सावधान हो पुनः सुनेगी अपने प्रियतम का संवाद,
सौम्य! नारियों को वह देता मिलने से कुछ ही कम स्वाद॥ ३७॥

अन्वयः—इति, आख्याते, मैथिली, पवनतनयम्, इव, सा, उन्मुखी, उत्कण्ठो-

च्छ्वसितहृदया (सती), त्वाम्, वीक्ष्य, च, संभाव्य, अस्मात्, परम्, अवहिता (सती), श्रोष्यति, एव, हे सौम्य, सीमन्तिनीनाम्, सुहृदुपगतः, कान्तोदन्तः, संगमात्, किञ्चित्, ऊनः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—इति = ऐसा, आख्याते = कहने पर, मैथिली = जानकी ने, पवनतनयम् = वायुपुत्र (हनुमान्) को, इव = जैसे (देखा था, वैसे ही) सा = वह (मेरी प्रिया), उन्मुखी = ऊपर मुख करके, उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया (सती) = उत्सुकता से प्रसन्नहृदया होकर, त्वाम् = तुम्हें, वीक्ष्य = देखकर, च = और, संभाव्य = सम्मान करके, अस्मात् परम् = तदनंतर, अवहिता (सती) = सावधान होकर, श्रोष्यति = सुनेगी, एव = ही, हे सौम्य = हे भद्र, सीमन्तिनीनाम् = नारियों के लिये, सुहृदुपगतः = मित्र के द्वारा लाया गया, कान्तोदन्तः = प्रियतम का वृत्तांत, संगमात् = समागम से, मिलन से, किञ्चित् = कुछ ही, ऊनः = कम होता है ॥ ३७ ॥

अर्थः—(हे मेघ) तुम्हारे ऐसा कहने पर, जानकी ने वायुपुत्र (हनुमान्) को जैसे देखा था वैसे ही, वह मेरी प्रिया ऊपर मुख करके उत्सुकता से प्रसन्न होकर तुम्हें देखेगी और तुम्हारा सम्मान करेगी। तदनंतर सावधान होकर (मेरा संदेश) सुनेगी ही। हे भद्र, स्त्रियों के लिये मित्र के द्वारा लाया गया प्रियतम का वृत्तांत प्रियतम मिलन से कुछ ही कम होता है ॥ ३७ ॥

भर्तृसख्यादिज्ञापनस्य फलमाह—

सञ्जीवनी—इतीति। इत्येवमाख्याते सति **पवनतनयं** हनूमन्तं **मैथिलीव** सीतेव **सा** मत्प्रिया। **उन्मुख्युत्कण्ठ**यौत्सुक्येनो**च्छ्वसितहृदया** विकसितचित्ता सती **त्वां वीक्ष्य सम्भाव्य** सत्कृत्य **च**। **अस्मा**द्भर्तृमैत्रीज्ञापनात्**परं** सर्वं श्रोतव्यम्। **अवहिता**प्रमत्ता सती **श्रोष्यत्येव**। अत्र सीताहनूमदुपाख्यानादस्याः पातिव्रत्यं मेघस्य दूतगुणसम्पत्तिश्च व्यज्यते। तद्गुणास्तु रसाकरे—'ब्रह्मचारी बली धीरो मायावी मानवर्जितः। धीमानुदारो निःशङ्को वक्ता दूतः स्त्रियो भवेत्।' इति। ननु वार्तामात्रश्रवणादस्याः को लाभ इत्याशङ्क्यार्थान्तरमुपन्यस्यति—**हे सौम्य** साधो, **सीमन्तिनीनां** वधूनाम्। 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। **सुहृदा** सुहृन्मुखेनोपनतः प्राप्तः सन्। सुहृत्पदं विप्रलम्भशङ्कानिवारणार्थम्। **कान्तस्योदन्तो** वार्ता

कान्तोदन्तः। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इत्यमरः। सङ्गमात्कान्तसम्पर्कात्किञ्चिदून ईषदूनस्तद्वदेवानन्दकारीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

टिप्पणी— मैथिली पवनतनयम् इव—सीता की खोज करते हुए हनुमान् जी लंका में पहुँचे थे। उस समय सीता ने बड़े स्नेह से उन्हें देखा था। उनका सम्मान किया था। उसी तरह मेरी प्रिया तुम्हें देखेगी और संदेश सुनेगी। हनुमान्-सीता का यह वृत्तांत अति प्रसिद्ध है।

किञ्चिदूनः—प्रवासी प्रियतम का किसी मित्र के द्वारा लाया गया संदेश कितना सुखकर होता है, इसे तो कोई विरहिणी नायिका ही जानती है अथवा कोई सहृदय व्यक्ति ॥ ३७ ॥

व्युत्पत्तिः—**आख्याते**—आ + √ख्या + क्त (त) + विभक्तिः। **०उच्छ्वसित०**—उत् + √श्वस् + क्त + विभक्त्यादिः। **वीक्ष्य**—वि + √ईक्ष् + ल्यप्। **संभाव्य**—सम् + √भू + णिच् + ल्यप्। **अवहिता**—अव + √धा + क्त + टाप् + विभक्तिः। **०उपनतः**—उप + √नम् + क्त + विभक्तिः। **संगमात्**—सम् + √गम् + अप् + विभक्तिः ॥ ३७ ॥

तामायुष्मन् मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले ! पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ ३८ ॥

चिरंजीव ! कुछ मेरा कहना, कुछ अपना गुन के उपकार,
यों कहना—वह तेरा सहचर पड़ा रामगिरि पर लाचार।
मरा नहीं है कुशल पूछता "कह बिरहिन अपनी दिनरात ?"
अब तक गये जनों का जीते रहना मुख्य चहेती बात ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे आयुष्मन्, मम, वचनात्, च, आत्मनः, उपकर्तुम्, ताम्, एवम्, ब्रूयाः,—"हे अबले, तव, वियुक्तः, सहचरः, रामगिर्याश्रमस्थः, अव्यापन्नः (सन्), त्वाम्, कुशलम्, पृच्छति', सुलभविपदाम्, प्राणिनाम्, एतत्, एव, पूर्वाभाष्यम् ॥

शब्दार्थः—हे आयुष्मन् = हे चिरंजीविन्, मम वचनात् = मेरे वचन से, मेरी ओर से, च = और, आत्मनः = अपना, उपकर्तुम् = उपकार करने के लिए,

ताम् = उस (मेरी प्रियतमा) को, एवम् = इस प्रकार, ब्रूयाः = कहना,—"हे अवले = हे स्त्री, तव = तुम्हारा, वियुक्तः = बिछुड़ा हुआ, सहचरः = साथी, रामगिर्याश्रमस्थः = रामगिरि नामक पर्वत पर डेरा डाले हुए, अव्यापन्नः (सन्) = सकुशल रहते हुए, त्वाम् = तुमसे, कुशलम् = कुशल-मंगल, पृच्छति = पूछ रहा है," सुलभविपदाम् = विपत्तियों में फँसे हुए, प्राणिनाम् = प्राणियों से, एतत् = यह, एव = ही, पूर्वाभाष्यम् = आरंभ में पूछा जाता है ॥ ३८ ॥

अर्थः—हे चिरंजीविन्, मेरी ओर से और अपने हित के लिये भी उस (मेरी प्रियतमा) से इस प्रकार कहना—"हे अवले, तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी 'रामगिरि' नामक पर्वत पर डेरा डाले हुए तथा सकुशल रहते हुए तुमसे कुशल-मंगल पूछ रहा है।" विपत्ति में फँसे हुए प्राणियों से यही प्रारंभ में पूछा जाता है ॥३८॥

सम्प्रति सन्दिशति—

सञ्जीवनी—तामिति। हे आयुष्मन्। प्रशंसायां मतुप्। परोपकारश्लाघ्यजीवितेत्यर्थः। **मम वचनं** प्रार्थनावचनं तस्माच्चात्मनः स्वस्योपकर्तुं च परोपकारेणात्मानं कृतार्थयितुमित्यर्थः। उपकारक्रियां प्रति कर्मत्वेऽपि तस्यापकरोतीत्यादिवत्सम्बन्धमात्रविवक्षायामात्मन इति षष्ठी न विरुध्यते। यथाह—भारविः—'सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्' इति। तथा श्रीहर्षश्च—'साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं द्रष्टुं विहायसा गन्तुम्। न कुतूहलिकस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम्।' इति। तथा च 'क्वचित्क्वचिद्द्वितीयादर्शनात्सर्वस्य तथा' इति नाथवचनमनाथवचनमेव। तां प्रियामेवं **ब्रूयात्**। भवानिति शेषः। किमित्याह—हे **अवले**, **तव सहचरो** भर्ता रामगिरेश्चित्रकूटस्याश्रमेषु तिष्ठतीति **रामगिर्याश्रमस्थः** **सन्नव्यापन्नः**। न मृत इत्यर्थः। अमरणे हेतुमाह—**वियुक्तो** वियोगं प्राप्तो दुःखी संस्त्वां **कुशलं पृच्छति**। दुह्यादित्वात्पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम्। तथाहि। **सुलभविपदामयत्नसिद्धविपत्तीनां** **प्राणिनामेतदेव कुशलमेव** **पूर्वाभाष्यमेतदेव** प्रथममवश्यं द्रष्टव्यम्। 'कृत्याश्च' इत्यावश्यकार्थे ण्यत्प्रत्ययः ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—**आत्मनश्चोपकर्तुम्**—अपने आपको उपकृत करने के लिये। परोपकार करने वाला व्यक्ति दूसरे का तो भला करता ही है, किंतु वह अपना भी उपकार करता है। दूसरे के उपकार से उसे पुण्य मिलता है, कीर्ति मिलती है।

इस प्रकार उसका यह लोक तथा परलोक दोनों ही प्रशस्त बनता है। भले व्यक्ति दूसरे की भलाई में स्वयं अपना ही उपकार देखते हैं। वस्तुतः बात भी कुछ ऐसी ही है।

अव्यापन्नः—यह साभिप्राय विशेषण है। इसका भाव यह है कि वह जिस किसी तरह जीवित है। बस, केवल तुम्हारे मिलन की आशा में जीवित भर है। तुम्हारे विरह में वह अतिक्षीण हो चुका है, अति दुर्बल बन गया है।

पूर्वाभाष्यम्—किसी व्यक्ति से मिलते हैं तो उसका कुशल-मङ्गल पूछने की प्राचीन भारतीय परिपाटी है। यही कारण है कि महाकवि मिलते ही कुशल पूछने की सलाह देते हुए उसे पूर्वाभाष्य बतला रहे हैं॥ ३८॥

व्युत्पत्तिः—**आयुष्मन्**—आयुस् + मतुप् + संवुद्धौ विभक्तिकार्यम्। **उपकर्तुम्**—उप + √कृ + तुमुन्। **वियुक्तः**—वि + √युज् + क्त + विभक्तिः। **अव्यापन्नः**—नञ् + वि + आ + √पद् + क्त + विभक्त्यादिः। **पूर्वाभाष्यम्**—पूर्व + आ + √भाष् + ण्यत् (कर्मणि) + विभक्त्यादिः॥ ३८॥

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणास्रद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥ ३९॥

कृश से कृश जलते से जलता उत्सुक से उत्सुकता-लग्न,
आँसू बरसाते से आँसू की सरिता के बीच निमग्न।
निज निःश्वासित अंग से मिलकर अति निःश्वासित प्रिया के अंग,
वैरी बिधना ने बिछुड़ाया मन में मान रहा है संग॥ ३९॥

अन्वयः—वैरिणा, विधिना, रुद्धमार्गः, दूरवर्ती, (ते, सहचरः), तनुना, गाढतप्तेन, सास्रेण, उत्कण्ठितेन, समधिकतरोच्छ्वासिना, (स्वकीयेन), अङ्गेन, प्रतनु, तप्तम्, अस्रद्रुतम्, अविरतोत्कण्ठम्, उष्णोच्छ्वासम्, (त्वदीयम्), अङ्गम्, तैः, सङ्कल्पैः, विशति॥ ३९॥

शब्दार्थः—वैरिणा = विपरीत, वैरी, विधिना = दैव के द्वारा, भाग्य से, रुद्धमार्गः = रोके गये मार्ग वाला, दूरवर्ती = दूर पड़ा हुआ, दूरस्थित, (ते =

तुम्हारा, सहचरः = साथी), तनुना = दुबले-पतले, गाढतप्तेन = अत्यधिक सन्तप्त, सास्रेण = आँसुओं से युक्त, उत्कण्ठितेन = उत्कंठित, चाह भरे, समधिकतरोच्छ्वासिना = लंबी-लंबी आहें भरने वाले, (स्वकीयेन = अपने), अङ्गेन = शरीर से, प्रतनु = अति दुर्बल, तप्तम् = (विरह के) ताप से युक्त, अस्रद्रुतम् = आँसुओं से गीले, अविरतोत्कण्ठम् = निरंतर उत्कंठा वाले, (त्वदीयम् = तुम्हारे), अङ्गम् = शरीर को, तैः = उन (अपने), सङ्कल्पैः = मनोरथों से, विशति = प्रवेश करता है, जा मिलता है ॥ ३९ ॥

अर्थः—(हे सुंदरि), वैरी दैव के द्वारा रोके गये मार्ग वाला, दूरस्थित (तुम्हारा साथी) दुबले-पतले अत्यधिक संतप्त, आँसुओं से युक्त, उत्कंठित तथा लंबी-लंबी आहें भरनेवाले (अपने) शरीर से अति दुर्बल (विरह के) ताप से युक्त, आँसुओं से गीले, निरंतर उत्कंठावाले (तुम्हारे) शरीर में उन (उन अपने) मनोरथों से जाकर विलीन हो जाता है ॥ ३९ ॥

सञ्जीवनी—**अङ्गेनेति**। किं च **दूरवर्ती** दूरस्थः। न चागन्तुं शक्यत इत्याह **वैरिणा** विरोधिना। **विधिना** दैवेन **रुद्धमार्गः** प्रतिबद्धवर्त्मा स ते सहचरः **तनुना** कृशेन **गाढतप्तेना**त्यन्तसन्तप्तेन **सास्रेण** साश्रुणा। उत्कण्ठा वेदनास्य जातोत्कण्ठितस्तेनो**त्कण्ठितेन**। 'तदस्य सञ्जातम्—' इत्यादिनेतच्प्रत्ययः। उत्कण्ठतेर्वा कर्तरि क्तः। समधिकतरमधिकमुच्छ्वसितीति **समधिकतरोच्छ्वासी तेन** दीर्घनिःश्वासिनेत्यर्थः। ताच्छील्ये णिनिः। **अङ्गेन** स्वशरीरेण **प्रतनुं** कृशं **तप्तं** वियोगदुःखेन सन्तप्तमश्रुद्रुतमश्रुक्लिन्नम्। 'अश्रु नेत्राम्बु रोदनं चास्रमस्रु च' इत्यमरः। **अविरतोत्कण्ठ**मविच्छिन्नवेदनमुष्णोच्छ्वासि तीव्रनिःश्वासम्। 'तिग्मं तीव्रं खरं तीक्ष्णं चण्डमुष्णं समं स्मृतम्' इति हलायुधः। **अङ्गं** त्वदीयं शरीरं **तैः** स्वसंवेद्यैः **सङ्कल्पै**र्मनोरथै**र्विशति**। एकीभवतीत्यर्थः। अत्र समरागित्वद्योतनाय नायकेन नायिकायाः समानावस्थत्वमुक्तम् ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—**अङ्गेनाङ्गम्**—इस श्लोक में यह दिखलाया गया है कि यक्ष एवं यक्षपत्नी की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था एक जैसी है। दोनों ही दुर्बल हो चुके हैं, संतप्त हैं, एक दूसरे के लिये रोते हैं, मिलने के लिये उत्कण्ठित हैं तथा लंबी-लंबी आहें भर कर मन के भार को हल्का करते हैं। यक्ष की हालत तो

सामने ही है, किंतु वह अपनी प्रियतमा की अवस्था की भी वैसी ही उत्प्रेक्षा करता है।

तैः सङ्कल्पैः—विरह की अवस्था बड़ी कष्टदायक होती है। किंतु इसमें एक प्रकार का अद्‌भुत आनन्द भी रहता है। विरही पूर्ण एकांत में बैठकर कल्पनाओं के द्वारा अपनी प्रियतमा से मिलता है, उसे गले लगाता है, वक्षःस्थल सहलाता है, चुंबन लेता है और अंततः अपनी प्राणप्रिया से लिपटकर अपने शरीर को उसके शरीर में विलीन कर देता है। यह क्षण, यह काल्पनिक मिलन अति सुखदायक होता है। इसकी छाप या छाया प्रथम मिलन अथवा चिरप्रवास के बाद होनेवाले प्रथम मिलन में ही अनुभूत हो सकती है। अन्य मिलनों से होनेवाला सुख इसकी अपेक्षा फीका होता है ॥ ३९ ॥

व्युत्पत्तिः—० तप्तेन—√तप् + क्त (कर्तरि) + विभक्तिः। दूरवर्ती—दूर + √वृत् + णिनिः + विभक्तिः ॥ ३९ ॥

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्
कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृश्य-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ४० ॥

सखियों के सम्मुख भी खुल कर जो कुछ कहना रहता था,
उसे कान में मुखस्पर्श का लोभी हो जो कहता था।
हाय! देखने सुनने को भी वह प्रिय दुर्लभ आज बना,
मेरे मुँह से कहलाता है समाचार दुःख-दर्द सना ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे अबले), यः, ते, (प्रियः), सखीनाम्, पुरस्तात्, यत्, शब्दाख्येयम्, (आसीत्, तत्), अपि, आननस्पर्शलोभात्, कर्णे, कथयितुम्, लोलः, अभूत्, किल, श्रवणविषयम्, अतिक्रान्तः, लोचनाभ्याम्, अदृश्यः, सः, (ते, प्रियः), उत्कण्ठा-विरचित-पदम्, इदम्, मन्मुखेन, त्वाम्, आह ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—(हे अबले = हे अबले), यः = जो, ते = तुम्हारा, (प्रियः = प्रिय), सखीनाम् = सखियों के, पुरस्तात् = समक्ष, यत् = जो, शब्दाख्येम् = बोलकर कहे जाने के योग्य, (आसीत् = था, तत् उसे), अपि = भी, आननस्पर्शलोभात् = मुख को छूने की लालच से, कर्णे = कान में, कथयितुम् = कहने के

लिये, लोलः = चंचल, अभूत् = हो उठता था, किल = निश्चय ही, श्रवणविषयम् = कानों की पहुँच से, अतिक्रान्तः = दूर पड़ा हुआ, लोचनाभ्याम् = आँखों से; अदृश्यः = ओझल, सः = वही, (ते = तुम्हारा, प्रियः = प्रिय) उत्कण्ठा-विरचित-पदम् = उत्कंठा से रचे गये पदों से युक्त, इदम् = यह, मन्मुखेन = मेरे मुख के द्वारा, मेरे द्वारा, त्वाम् = तुम्हें, तुम से, आह = कहता है ॥ ४० ॥

अर्थः—(हे अवले) जो तुम्हारा (प्रिय) सखियों के समक्ष जो बोलकर कहे जाने योग्य था (उसे) भी मुख को छूने (वस्तुतः चूमने) के लालच से कान में कहने के लिए निश्चय ही चंचल हो उठता था, कानों की पहुँच से दूर पड़ा हुआ तथा आँखों से ओझल वही (तुम्हारा प्रिय) उत्कंठावश रचे गये पदों से युक्त यह संदेश मेरे द्वारा तुमसे कहता है ॥ ४० ॥

सम्प्रति स्वावस्थानिवेदनाय प्रस्तौति—

सञ्जीवनी—शब्दाख्येयमिति । हे **अबले, यस्ते** प्रियः **सखीनां पुरस्तादग्र आननस्पर्शे** त्वन्मुखसम्पर्के **लोभाद्** गार्ध्यात् । अधरपानलोभादित्यर्थः । **शब्दाख्येयं** शब्देन स्वेणाख्येयमुच्चैर्वाच्यमपि । वचनमपीति शेषः । **कर्णे कथयितुं लोलो** लालसोऽभूत्किल । 'लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि च' इति यादवः । **श्रवणविषयं** कर्णपथम**तिक्रान्तः** तथा **लोचनाभ्यामदृष्टः** अतिदूरत्वाद् द्रष्टुं श्रोतुं च न शक्य इति भावः । ते प्रियः **त्वामुत्कण्ठायां विरचितानि पदानि** सुप्तिङन्त-शब्दा वाक्यानि वा यस्य तत्तथोक्तम् । 'पदं शब्दे च' इति विश्वः । **इदं** वक्ष्यमाणं 'श्यामास्वङ्गम्' **मन्मुखेनाह** । मन्मुखेन स एव ब्रूत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

टिप्पणी—आननस्पर्शलोभात्—यौवन की तरंगें हृदय-सागर में उमड़ रही हैं । युवक का विवाह अभी हुआ है । दो-चार दिनों पूर्व ही चंदा जैसे मुखड़े वाली प्रिया घर में आयी है । रात भर रँगरेलियाँ मनाने वाला तरुण दिन में भी प्रियतमा को छोड़ना पसंद नहीं करता । उसकी इच्छा बार-बार प्रियतमा का मुख चूम लेने की होती है । पर विवशता है । कुछ तरुणियाँ नायिका के पास बैठी हैं । अंततः उसे एक उपाय सूझता है, वह अपनी प्रिया से कान में बात कहने के बहाने उसके गाल से अपने गाल को सटाता है । यद्यपि बात गोपनीय नहीं है, तब भी वह ऐसा ही बार-बार करता है ।

उत्कण्ठाविरचितपदम्—यद्यपि यक्ष कवि नहीं है। पर आज उत्कंठा ने पद्य-रचना में उसे सक्षम बना दिया है। इसी लिए हिंदी के एक प्रसिद्ध कवि ने लिखा भी है—"वियोगी होगा पहला कवि।" वस्तुतः हृदय की व्याकुलता के बिना काव्य-रचना संभव ही नहीं है ॥ ४० ॥

व्युत्पत्तिः—० **आख्येयम्**—आ + √ख्या + यत् + विभक्त्यादिः। **पुरस्तात्**=पुरस् + तातङ्। **कथयितुम्**—√कथ + णिच् + तुमुन्। **अतिक्रान्तः**—अति + √क्रम + क्तः + विभक्तिः। **अदृश्यः**—अ + √दृश् + क्यप् (कर्मणि) विभक्तिः ॥ ४० ॥

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥४१॥

तेरे अंग प्रियंगुलता में मोरपंख में केशकलाप,
हरिणी के चंचल नयनों में नयन चन्द्र में मुख की छाप।
देख रहा पतली लहरों में भ्रू-विलास मैं धर कर ध्यान,
किन्तु खेद! है नहीं किसी में तेरी समता कृपानिधान ॥ ४१ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये), श्यामासु, अङ्गम्, चकितहरिणीप्रेक्षणे, दृष्टिपातम्, शशिनि, वक्त्रच्छायाम्; शिखिनाम्, बर्हभारेषु, केशान्; प्रतनुषु, नदीवीचिषु, भ्रूविलासान्; उत्पश्यामि। हन्त! चण्डि, क्वचिदपि, एकस्मिन्, (वस्तुनि), ते, सादृश्यम्, न, अस्ति ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये = हे प्रेयसि), श्यामासु = प्रियंगु लताओं में, अङ्गम् = शरीर की, चकितहरिणीप्रेक्षणे = डरी हुई हरिणियों के नयन में, दृष्टिपातम् = चितवन की, शशिनि = चंद्रमा में, वक्त्रच्छायाम् = मुख-कांति की; शिखिनाम् = मयूरों के, बर्हभारेषु = मोरपंखों में, केशान् = केशों की, प्रतनुषु = पतली, दुर्बल, नदीवीचिषु = नदी की लहरियों में, भ्रूविलासान् = भृकुटिभंगियों की, उत्पश्यामि = कल्पना करता हूँ। हन्त = खेद है कि, हे चण्डि = हे तेज मिजाज वाली सुंदरी, क्वचिदपि = कहीं भी, किसी भी, एकस्मिन् = एक, (वस्तुनि =

वस्तु में), ते = तुम्हारी, सादृश्यम् = समता, न = नहीं, अस्ति = है ॥ ४१ ॥

अर्थः—हे प्रिये ! प्रियंगु-लताओं में (तुम्हारे) शरीर की, डरी हुई हरिणियों के नयनों में (तुम्हारी) चितवन की, चन्द्रमा में (तुम्हारी) मुखकांति की, मयूरों के पंखों में (तुम्हारे) केशों की, तथा नदी की पतली लहरियों में (तुम्हारी) भृकुटि-भंगियों की कल्पना करता हूँ। किंतु खेद है कि, हे तीखे स्वभाववाली सुंदरी, किसी भी एक वस्तु में तुम्हारी समता नहीं है ॥ ४१ ॥

सादृश्यप्रतिकृतिस्वप्नदर्शनतदङ्गस्पृष्टस्पर्शाख्यानि चत्वारि विरहिणां विनोदस्थानानि। तथा चोक्तं गुणपताकायाम्—वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि। तदङ्गस्पृष्टानामुपनतवतां दर्शनमपि प्रतीकारोऽनङ्गव्यथितमनसां कोऽपि गदितः।' इति। तत्र सदृशवस्तु दर्शयन्नाह—

सञ्जीवनी—श्यामास्विति। श्यामासु प्रियङ्गुलतासु। 'श्यामा तु महिलाह्वया। लतागोवन्दनी गुन्द्रा प्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः। **अङ्गं** शरीरमुत्पश्यामि। सौकुमार्यादिसाम्यादङ्गमिति तर्कयामीत्यर्थः। तथा **चकितहरिणीनां प्रेक्षणे** ते **दृष्टिपातम्। शशिनि** चन्द्रे **वक्त्रच्छायां** मुखकान्तिम्। तथा **शिखिनां** बर्हिणां **बर्हभारेषु** बर्हसमूहे **केशान् प्रतनुषु** स्वल्पासु **नदीनां वीचिषु** अत्र वीचीनां विशेषणोपादानेनानुक्तगुणग्रहो दोषः। भ्रूसाम्यनिर्वाहाय महत्त्वदोषनिराकरणार्थत्वात्तस्येति। तदुक्तं रसरत्नाकरे—'ध्वन्युत्पादे गुणोत्कर्षे भोगोक्तौ दोषवारणे। विशेषणादिपोषस्य नास्त्यनुक्तगुणग्रहः।' इति। **भ्रूविलासान्।** 'भ्रूपताकाः' इति पाठे भ्रुवः पताका इवेत्युपमितसमासः। उत्पश्यामीति सर्वत्र सम्बध्यते। तथापि नास्ति मनोनिर्वृतिरित्याशयेनाह—हन्तेति। हन्त विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। हे **चण्डि** कोपने। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। गौरादित्वात् ङीप्। उपमानकथनमात्रेण न कोपितव्यमिति भावः। **क्वचिदपि** कस्मिन्नप्येकस्मिन्वस्तुनि **ते** तव **सादृश्यं नास्ति।** अतो न निर्वृणोमीत्यर्थः। अनेनास्याः सौन्दर्यमनुपममिति व्यज्यते ॥ ४१ ॥

टिप्पणी —श्यामास्वङ्गम् —यक्षपत्नी सौंदर्य की खान है। वह तन्वङ्गी है। उसके शरीर की बनावट आकर्षक है। श्यामा प्रियंगुलता ही कुछ-कुछ उसके शरीर से मेल खाती है। अतः यक्ष जब-जब प्रियंगुलता को देखता है, तब-तब

उसे अपनी प्रिया की देहयष्टि की याद हो आती है। अतः वह उसे एक टक देखता ही रह जाता है। इसी तरह वह अपनी प्रिया के अन्य शारीरिक सौंदर्य को श्लोक में बतलाए गये उन-उन पदार्थों में देखता है। अपनी प्रिया के प्रति यक्ष की तन्मयता का, उसकी एकनिष्ठा का यह एक निदर्शन है।

हे चंडि—काम वाम होता है। प्रियतम अनुनय-विनय कर रहा है। प्रिया काम-क्रीडा में सहयोग के लिए तैयार ही नहीं हो रही है। प्रियतम जरा जोर लगाना चाहता है तो प्रियतमा की भौंहें तन जाती हैं। कोप का बहाना बनाकर वह कुपित हो उठती है। प्रियतम अन्य उपाय न देख प्रिया के चरणों पर अपना मस्तक रख देता है। वह मान जाती है। ऐसे ही कोप को ध्यान में रखकर यक्ष अपनी प्रिया को चंडी = अतिकोपना कह रहा है॥ ४१॥

व्युत्पत्तिः—०प्रेक्षणे—प्र + √ईक्ष् + ल्युट् + विभक्तिकार्यम्। दृष्टिपातम्—दृष्टि + √पत् + घञ् + विभक्त्यादिकार्यम्। चण्डि—चण्डते = कुप्यति इति— √चण्ड् + अच् (कर्तरि) + ङीप् + सम्बुद्धौ रूपम्॥ ४९॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥ ४२॥

शिलाभंग पर गिरि रंगों से लिख कर चित्र मानकालीन,
अपने को चाहता बनाना ज्यों तेरे चरणों में लीन।
त्यों ही उमड़े अश्रुजाल से होतीं मेरी आँखें अन्ध,
दुष्ट दैव को यों भी रुचता नहीं परस्पर का सम्बन्ध॥ ४२॥

अन्वयः—(हे प्रिये), प्रणयकुपिताम्, त्वाम्, धातुरागैः, शिलायाम्, आलिख्य, यावत्, आत्मानम्, ते, चरणपतितम्, कर्तुम्, इच्छामि, तावत्, मुहुः, उपचितैः, अस्रैः, मे, दृष्टिः, आलुप्यते; क्रूरः, कृतान्तः, तस्मिन्, अपि, नौ, सङ्गमम्, न, सहते॥ ४२॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये = हे प्रियतमे), प्रणयकुपिताम् = प्रणय में कुपित, त्वाम् = तुम्हें, धातुरागैः = गेरू आदि धातुओं के रंगों से, शिलायाम् = प्रस्तर

खण्ड पर, आलिख्य = लिखकर, चित्रित कर, यावत् = जब तक, आत्मानम् = अपने आपको, ते = तुम्हारे, चरणपतितम् = चरणों पर पड़ा हुआ, कर्तुम् = करना, इच्छामि = चाहता हूँ, तावत् = तब तक, तभी, मुहुः = बार-बार, उपचितैः = उमड़ती हुई, अस्रैः = आँसुओं से, मे = मेरी, दृष्टिः = आँखें, आलुप्यते = डबडबा जाती हैं, अवरुद्ध हो जाती हैं; क्रूरः = निर्दय, कृतान्तः = दैव, तस्मिन् = उस चित्र में, अपि = भी, नौ = हम दोनों के, सङ्गमम् = मिलन को, न = नहीं, सहते = बर्दाश्त करता ॥ ४२ ॥

अर्थः—(हे प्रिये), प्रणय में कुपित तुम्हें गेरू आदि धातुओं के रंगों से प्रस्तर-खंड पर चित्रित करके जभी तुम्हारे चरणों पर पड़ना चाहता हूँ तभी बार-बार उमड़ते हुए आँसुओं से मेरी आँखें डबडबा आती हैं। निर्दय दैव उस चित्र में भी हम दोनों के मिलन को नहीं बर्दाश्त करता ॥ ४२ ॥

सम्प्रति प्रतिकृतिदर्शनमाह—

सञ्जीवनी—त्वामिति । प्रिये, **प्रणयेन** प्रेमातिशयेन **कुपितां** कुपितावस्थायुक्तां **त्वाम्** । त्वत्प्रतिकृतिमित्यर्थः । धातवो गैरिकादयः । 'धातुर्वातादिशब्दादिगैरिकादिष्वजादिषु' इति यादवः । त एव रागा रञ्जकद्रव्याणि । 'चित्रादिरञ्जकद्रव्ये लाक्षादौ प्रणयेच्छयोः । सारङ्गादौ च रागः स्यादारुण्ये रञ्जने पुमान्' इति शब्दार्णवे । **तैर्धातुरागैः** । **शिलायां** शिलापट्टे, **आलिख्य निर्माय** **आत्मानं** माम् । मत्प्रतिकृतिमित्यर्थः । **ते** तव । चित्रगताया इत्यर्थः । **चरणपतितं कर्तुं** तथा लेखितुं **यावदिच्छामि तावदि**च्छासमकालं **मुहुरुपचितैरस्रैर**श्रुभिः कर्तृभिः । 'अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः । **मे दृष्टिरालुप्यते** आव्रियत इत्यर्थः । ततो दृष्टिबन्धनाल्लेखनं प्रतिबध्यत इति भावः । किं बहुना **क्रूरो** घातुकः । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः ।' इत्यमरः । **कृतान्तो** दैवम् । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इत्यमरः । **तस्मिन्नपि** चित्रेऽपि । **नावा**वयोः 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वानावौ' इति नावादेशः । **सङ्गमं** सहवासं **न सहते** । सङ्गमलेखनमप्यावयोरसहमानं दैवमावयोः । सङ्गं न सहत इति किमु वक्तव्यमित्यपिशब्दार्थः ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—प्रणयकुपिताम्—प्रेयसी मान करके बैठी हो, प्रणय करके रूठी

हो तो मनाने में उसके सामने छटपटाने में बड़ा आनन्द आता है। आनन्द उस समय अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है, जब चरण पर पड़े हुए प्रेमी को खुश हुई प्रियतमा गले लगा लेती है। इसलिए प्रेम के साम्राज्य में मन का बड़ा महत्त्व है।

आलिख्य—यक्ष चित्रकार भी है। वह सोचता है कि रूठी हुई प्रिया का चित्र बनाऊँगा। पैरों पर पड़कर उसे मनाऊँगा। इसी प्रकार भला कुछ समय तक जी की जलन बुझाऊँगा। ऐसा सोचकर वह गेरू आदि धातु से प्रस्तर खण्ड पर अपनी प्रिया का चित्र बनाता है। किन्तु दुःख के मारे उसकी आँखें छलछला आती हैं। फलतः वह अपनी चाह को पूरी नहीं कर पाता। लगता है, रूठा हुआ विधाता चित्र में भी यक्ष-यक्षप्रिया का मिलन सहन नहीं करता॥ ४२ ॥

व्युत्पत्तिः—**आलिख्य**—आङ् + √लिख + ल्यप्। **प्रणयकुपिताम्**—प्र+√नी + अच् (भावे)=प्रणयः, कुप् + क्तः + टाप् + विभक्तिः। **कर्तुम्**—√कृ + तुमुन्। **उपचितैः**—उप + √चि + क्तः + विभक्तिः। **दृष्टिः**—√दृश + क्तिन् + विभक्तिः। **सङ्गमम्**—सं + √गम् + अप् + विभक्तिः॥ ४२ ॥

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ ४३ ॥

प्रिये, स्वप्न में किसी तरह जब मैं तुझको ,पा जाता हूँ
शून्य गगन में आलिंगन को तब बाहें फैलाता हूँ।
वनदेवियाँ दशा यह मेरी देख देख दुख पाती हैं,
आँसू की मोती सी बूँदें पत्तों पर बरसाती हैं॥ ४३ ॥

अन्वयः—स्वप्नसन्दर्शनेषु, मया, कथमपि, लब्धायाः, ते, निर्दयाश्लेषहेतोः, आकाशप्रणिहितभुजम्, माम्, पश्यन्तीनाम्, स्थलीदेवतानाम्, मुक्तास्थूलाः, अश्रुलेशाः, तरुकिसलयेषु, बहुशः, न पतन्ति, (इति), न खलु॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—स्वप्नसन्दर्शनेषु = स्वप्न के समय, मया = मेरे द्वारा, कथमपि = किसी तरह, सौभाग्यवश; लब्धायाः = पायी गयी, ते = तुम्हारे, तुम्हें, निर्दया-

श्लेषहेतोः = गाढ़ आलिंगन करने के लिए, आकाशप्रणिहितभुजम् = आकाश में हाथों को फैलाये हुए, माम् = मुझे, पश्यन्तीनाम् = देखने वाली, स्थलीदेवतानाम् = वनदेवताओं के, मुक्तास्थूलाः = मोती की तरह वड़ी-वड़ी, अश्रुलेशाः = आँसू की बूंदे, तरुकिसलयेषु = वृक्षों के पल्लवों पर, बहुशः=अनेक वार, कई वार, न = नहीं, पतन्ति = गिरती हैं, (इति = ऐसी वात), न = नहीं है, खलु = यह वाक्यालंकार के रूप में यहाँ प्रयुक्त हुआ है ॥ ४३ ॥

अर्थः—स्वप्न के समय मेरे द्वारा किसी तरह पायी गयी तुम्हें गाढ़ आलिंगन करने के लिए आकाश में हाथों को फैलाये हुए मुझे देखनेवाली वनदेवताओं की मोती की तरह वड़ी-वड़ी आँसू की बूंदे वृक्षों के पल्लवों पर अनेक बार गिरती ही हैं ॥ ४३ ॥

अधुना स्वप्नदर्शनमाह—

सञ्जीवनी—मामिति । सुप्तस्य विज्ञानं स्वप्नः । 'स्वप्नः सुप्तस्य विज्ञानम्' इति विश्वः । सन्दर्शनं संवित् । 'दर्शनं समये शास्त्रदृष्टौ स्वप्नेऽक्षिण संविदि' इति शब्दार्णवे । स्वप्नसन्दर्शनानि स्वप्नज्ञानानि । चूतवृक्षादिवत्सामान्यविशेषभावेन सहप्रयोगः तेषु मया कथमपि महताप्रयत्नेन लब्धायाः गृहीतायाः दृष्टाया इति यावत् । ते तव निर्दयाश्लेषो गाढालिङ्गनं स एव हेतुस्तस्य निर्दयाश्लेषार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । आकाशे निर्विषये प्रणिहितभुजं प्रसारितबाहुं मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां मुक्ता मौक्तिकानीव स्थूला अश्रुलेशा वाष्पबिन्दवस्तरुकिसलयेषु । अनेन चेलाञ्चलेनाश्रुधारणसमाधिर्व्वन्यते । बहुशो न पतन्तीति न । किन्तुं पतन्त्येवेत्यर्थः । निश्चये नञ्द्वयप्रयोगः । तथा चाधिकारसूत्रम्—'स्मृतिनिश्चयसिद्धार्थेषु नञ्द्वयप्रयोगः सिद्धः' इति । महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि । देशभ्रंशो महद् दुखं मरणं च भवेद् ध्रुवम् ।' इति क्षितौ देवताश्रुपातनिषेधदर्शनाद्यक्षः स्वमरणाभावसूचनार्थं तरुकिसलयेषु पतन्तीत्युक्तम् ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—स्वप्नसंदर्शनेषु—विरही यक्ष रात्रि में सो रहा है। उसके दुःखी मानस पर स्वप्न की रील दौड़ रही है, अचानक उसे अपनी प्रियतमा दिखलायी पड़ जाती है। उसे दृढ़ता से बाँहों में बाँध लेने के लिय हहाकर यक्ष अपनी बाँहों

को फैला देता है। उसकी यह दशा देखकर वनदेवियाँ रो पड़ती हैं। वनदेवियों के ये अश्रुबिंदु ओस के रूप में तरुपल्लवों पर देखे जा सकते थे ॥ ४३ ॥

व्युत्पत्तिः—लब्धायाः—√ लभ् + क्त + विभक्तिः । ०सन्दर्शनेषु—सम् + √दृश् + ल्युट् (अन) + विभक्तिः । पश्यन्तीनाम्—√दृश् + शतृ + ङीप् + विभक्त्यादिः । बहुशः—बहु + शस् ॥ ४३ ॥

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ ४४ ॥

देवदार की नयी कोपलें चिटका कर जो चली बयार,
हिमगिरि से दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार।
गुनवन्ती! मैं उसे भेंटता अपने दोनों बाहु पसार,
क्या जाने तेरे अंगों से मिल आई हो यही विचार ॥ ४४ ॥

अन्वयः—देवदारुद्रुमाणाम्, किसलयपुटान्, सद्यः, भित्त्वा, तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः, ये, तुषाराद्रिवाताः, दक्षिणेन, प्रवृत्ताः, हे गुणवति, पूर्वम्, एभिः, तव, अङ्गम्, स्पृष्टम्, भवेत्, यदि, किल, इति, ते, मया, आलिङ्ग्यन्ते ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—देवदारुद्रुमाणाम् = देवदारु वृक्षों के, किसलयपुटान् = पल्लवों को, कोपलों को, सद्यः = तत्काल, भित्त्वा = विकसित कर, तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः = उनसे बहने वाले दूध से सुगंधित, ये = जो, तुषाराद्रिवाताः = हिमालय के पवन, दक्षिणेन = दक्षिण की ओर, प्रवृत्ताः = बहते हैं, हे गुणवति = हे गुणशालिनि, पूर्वम् = पहले, एभिः = इनके द्वारा, तव = तुम्हारा, अङ्गम् = अंग, शरीर, स्पृष्टम् = स्पर्श किया गया, भवेत् यदि = कदाचित् होगा, किल = यह संभावना अर्थ को यहाँ बतला रहा है, इति = इसलिए, इसी विचार से, ते = वे (वायु), मया = मेरे द्वारा, आलिङ्ग्यन्ते = आलिङ्गित होते हैं, छाती से लगाये जाते हैं ॥ ४४ ॥

अर्थः—देवदारु वृक्षों की कोंपलों को तत्काल विकसित कर तथा उनसे बहनेवाले दूध से सुगंधित जो हिमालय के पवन दक्षिण की ओर बहते हैं, हे गुणशालिनि,

पहले इनके द्वारा तुम्हारा शरीर कदाचित् स्पर्श किया गया होगा—ऐसी संभावना कर वे (वायु) मेरे द्वारा आलिंगित किये जाते हैं (अर्थात् मैं उनका आलिंगन करता हूँ) ॥ ४४ ॥

इदानीं तदङ्गस्पृष्टवस्तुदर्शनमाह—

सञ्जीवनी—भित्त्वेति । **देवदारुद्रुमाणां किसलयपुटान्** पल्लवपुटान् सद्यो **भित्त्वा तत्क्षीरस्रुतिसुरभयस्तेषां** देवदारुद्रुमाणां क्षीरस्रुतिभिः क्षीरनिष्यन्दैः सुरभयः सुगन्धयः तुषाराद्रिजातत्वे लिङ्गभिदम् । **ये वाता दक्षिणेन** दक्षिणमार्गेण । तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात्तृतीया, समेन यातीतिवत् । तत्रापि करणत्वस्य प्रतीयमानत्वात् । 'कर्तृकरणयोरेव तृतीया' इति भाष्यकारः । **प्रवृत्ता-** श्चलिताः । **हे गुणवति !** सौशील्यसौकुमार्यादिगुणसम्पन्ने, ते तुषाराद्रिवाताः **पूर्वं** प्रागेभिर्वातैस्तवाङ्गं **स्पृष्टं भवेद्यदि । किलेति** संभावितमेतदिति बुद्ध्वेत्यर्थः । 'वार्ता सम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । **मयाऽऽलिङ्ग्यन्ते** आश्लिष्यन्ते । अत्र वायुना स्पृश्यत्वेऽप्यमूर्तत्वेनालिङ्गनायोगादालिङ्ग्यन्त इत्यभिधानम् । यक्षस्योन्मत्त-त्वात्प्रलपितमित्यदोष इति वदन्निरुक्तकारः स्वयमेवोन्मत्तप्रलापीत्युपेक्षणीयः ॥४४॥

टिप्पणी—भित्त्वा—देवदारु के वृक्ष हिमालय की शृङ्खलाओं में बहुतायत से पाये जाते हैं । वर्षा के आरंभ में जब उत्तर की वायु बहती है तब देवदारु में कोंपलें निकलने लगती हैं ।

तत्क्षीरस्रुति०—देवदारु वृक्ष का दूध अत्यन्त सुगंधित होता है । अतः उत्तर से बहनेवाला पवन जब देवदारुओं के जंगल से होकर आता है तब वह अत्यंत सुगंधित होता है, क्योंकि उसमें देवदारु के दूध के कण मिले होते हैं ।

आलिङ्ग्यन्ते—उत्तर की ओर से बहने वाला पवन यक्ष को अतिप्रिय है । वह सोचता है संभवतः यह पवन मेरी प्रिया के अंगों का स्पर्श करके आया हो । अतः यक्ष उसका सोत्कंठ आलिंगन करता है, सेवन करता है ॥ ४४ ॥

व्युत्पत्तिः—भित्त्वा—√भिद् + क्त्वा । **प्रवृत्ताः**— प्र + √वृत् + क्त + विभक्तिः । **स्पृष्टम्**—√स्पृश् + क्त + विभक्तिः ॥ ४४ ॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।

इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ ४५ ॥

ऐसा क्यों हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जायँ,
और दिवस के ताप पाप भय सब प्रकार झटपट घट जायँ।
मृगनयनी ऐसी अनहोनी के पीछे जल रहा शरीर,
तेरी विरह-वेदनाओं ने मेरा मन कर दिया अधीर ॥ ४५ ॥

अन्वयः— दीर्घयामा, त्रियामा, क्षणः, इव, कथम्, संक्षिप्येत ? अहः, अपि, सर्वावस्थासु, कथम्, मन्दमन्दातपम्, स्यात् ? हे चटुलनयने, इत्थम्, दुर्लभप्रार्थनम्, मे, चेतः, गाढोष्माभिः, त्वद्वियोगव्यथाभिः, अशरणम्, कृतम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—दीर्घयामा = लंबे पहरों वाली, त्रियामा = रात, क्षणः = एक क्षण की, इव = तरह, कथम्, = कैसे, संक्षिप्येत = छोटी हो जाय ? अहः = दिन, अपि = भी, सर्वावस्थासु = सभी अवस्थाओं में, सभी ऋतुओं में, कथम् = कैसे, किस तरह, मन्दातपम् = मंद संताप वाला, स्यात् = हो जाय ? हे चटुलनयने = हे चंचल नेत्र वाली, इत्थम् = इस प्रकार, दुर्लभप्रार्थनम् = दुर्लभ अभिलाष करने वाला, मे = मेरा, चेतः = चित्त, मन, गाढोष्माभिः = अत्यधिक जलन भरी, त्वद्वियोगव्यथाभिः = तुम्हारे वियोग की वेदनाओं से, अशरणम् = असहाय, कृतम् = कर दिया गया है ॥ ४५ ॥

अर्थः—लंबे पहरों वाली रात एक क्षण की तरह कैसे छोटी हो जाय ? तथा दिन भी सभी अवस्थाओं में (सभी ऋतुओं में) किस तरह मंद संतापवाला हो जाय ? हे चंचलनेत्रवाली, इस प्रकार दुर्लभ अभिलाष करने वाला मेरा मन अत्यधिक जलन भरी तुम्हारे वियोग की वेदनाओं से असहाय कर दिया गया है ॥ ४५ ॥

सञ्जीवनी—संक्षिप्येतेति । दीर्घा यामाः प्रहरा यस्यां सा **दीर्घयामा** । विरहवेदनया तथा प्रतीयमानेत्यर्थः । **त्रियामा** रात्रिः । 'आद्यन्तयोरर्धयामयोर्दिनव्यवहारात्त्रियामा' इति क्षीरस्वामी । **क्षण इव कथं** केन प्रकारेण **संक्षिप्येत** लघूक्रियेत । **अहरपि सर्वावस्थासु** । सर्वकालेष्वित्यर्थः । मन्दमन्दो मन्दप्रकारः । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विरुक्तिः । 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति कर्मधारयवद्भावा-

त्सुपो लुक् । **मन्दमन्दातपमत्यल्पसंतापं कथं स्यात्** । न स्यादेव । हे **चटुलनयने** चञ्चलाक्षि, **इत्थमनेन प्रकारेण दुर्लभप्रार्थनमप्राप्यमनोरथं मे मम चेतो गाढो-ष्माभिरतितीव्राभिस्त्वद्वियोगव्यथाभिरशरणमनाथं कृतम्** ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—क्षण इव—विरहियों के लिए रात वड़ी भयानक तथा कष्टदायिनी होती है। अतः वे चाहते हैं कि यदि रात क्षण भर की हो जाय तो किसी तरह जीवन-रक्षा हो सके।

दीर्घयामा—विरहियों की रात कटती नहीं है। अतः उसे दीर्घयामा कहते हैं। पहर या प्रहर को याम भी कहा जाता है। एक प्रहर तीन घंटे का होता है।

त्रियामा—रात्रि को त्रियामा = तीन पहर वाली भी कहते हैं। इस प्रकार रात्रि में नौ घंटों की गिनती होती है। इसका कारण यह है कि प्रथम याम का पूर्वार्ध तो विगत दिवस का भाग तथा अंतिम याम का उत्तरार्ध अगले दिन का भाग समझा जाता है। इसलिए एक याम दिन में जा मिलने से दिन पाँच यामों का और रात तीन यामों की होती है।

अहः मन्दमन्दातपम्—विरही का हृदय वियोग की धधकती ज्वाला से जलता रहता है। उस पर यदि दिन की गर्मी शरीर को झुलसाती रहे तो मर्मांतक पीड़ा होती है। अतः यक्ष सभी ऋतुओं में दिन को कम गर्मी वाला होने का अभिलाष करता है ॥ ४५ ॥

व्युत्पत्तिः—संक्षिप्येत—सम् + √क्षिप् + विधिलिङि कार्यम्। **इत्थम्**—इदम् + थमुः। अव्ययमिदम् ॥ ४५ ॥

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ४६ ॥

सोच समझ अपने को क्या मैं नहीं रहा हूँ स्वयं सँभाल,
इससे हे कल्याणि ! न तू भी जी छोटा कर हो बेहाल।
किसे सदा सुख ही मिलता है अथवा दुख रहता सब काल,
नीचे ऊपर दशा पलटती रहती ज्यों पहिये का हाल ॥ ४६ ॥

अन्वयः—ननु, बहु, विगणयन्, आत्मानम्, आत्मना, एव, अवलम्बे, तत्, कल्याणि, त्वम्, अपि, नितराम्, कातरत्वम्, मा गमः, कस्य, अत्यन्तम्, सुखम्, वा, एकान्ततः, दुःखम्, उपनतम् ? दशा, चक्रनेमिक्रमेण, नीचैः, च, उपरि, गच्छति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थः—ननु = सचमुच, वस्तुतः, बहु = बहुत कुछ, विगणयन् = सोचता हुआ, आत्मानम् = अपने आप को, आत्मना = अपने से, एव = ही, अवलम्बे = ढाढस देता हूँ, तत् = इसलिए, कल्याणि = हे सौभाग्यशालिनि, त्वम् = तुम, अपि = भी, नितराम् = अत्यधिक, कातरत्वम् = दीनता को, दुःख को, मा गमः= मत प्राप्त करो, कस्य = किसको, अत्यन्तम् = लगातार, सुखम् = सुख, वा = अथवा, एकान्ततः = पूर्णरूप से, दुःखम् = दुःख, उपनतम् = प्राप्त हुआ ? दशा = अवस्था, चक्रनेमिक्रमेण = पहिये के किनारे के भाग (हाल) की तरह, नीचैः = नीचे, च = और, उपरि = ऊपर की ओर, गच्छति = चलती रहती है ॥ ४६ ॥

अर्थः—वस्तुतः, बहुत कुछ सोचता हुआ मैं अपने आप को अपने से ही ढाढस देता हूँ। इसलिए हे सौभाग्यशालिनि, तुम भी अत्यधिक दुःखी मत होना। (भला बतलाओ तो सही कि) किसको लगातार सुख अथवा पूर्णरूप से दुःख ही प्राप्त हुआ है ? (सुख-दुख की) अवस्था पहिये के किनारे (हाल) की तरह नीचे और ऊपर की ओर चलती रहती है ॥ ४६ ॥

न च मदीयदुर्दशाश्रवणाद्भेतव्यमित्याह—

सञ्जीवनी—**नन्विति**। नन्वित्यामन्त्रणे। 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। **ननु** प्रिये **बहु विगणयन्** शापान्ते सत्येवमेव करिष्यामीत्यावर्तयन्**नात्मानमात्मनैव** स्वेनैव। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया। **अवलम्बे** धारयामि। यथाकथञ्चिज्जीवामीत्यर्थः। तत्तस्मात्कारणात्। हे **कल्याणि** सुभगे ! त्वत्सौभाग्येनैव जीवामीति भावः। 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप्। **त्वमपि नितराम**त्यन्तं **कातरत्वं** भीरुत्वं **मा गमः** मा गच्छ। 'न माङ्योगे' इत्यडागमाभावः। तादृक्सुखिनोरावयोरीदृशे दुःखे कथं न बिभेमीत्याशङ्क्याह—**कस्येति**। **कस्य** जनस्यात्यन्तं नियतं **सुखमुपनतं** प्राप्तमेकान्ततो **दुःखं** वोपनतम्। किंतु **दशा**वस्था **चक्रस्य** रथाङ्गस्य **नेमि**स्तदन्तः। 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः

पुमान्' इत्यमरः। तस्याः क्रमेण परिपाट्या। क्रमः शक्तौ परीपाट्याम्' इति विश्वः। नीचैरध उपरि च गच्छति प्रवर्तते। एवं जन्तोः सुखदुःखं पर्यावर्तते इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—बहु विगणयन्—यक्ष का कहना है कि अब तक मैं मर गया होता। किंतु बहुत कुछ सोच-समझ कर मैंने अपने आपको सँभाल रखा है। मैं सोचता हूँ कि यदि मैं जीवित रहूँगा तो शाप का अंत होने पर अपनी प्रिया से मिलूँगा। उसके गले लगूँगा। उसे अपनी बाँहों में भर लूँगा। वह रो-रोकर वियोग-काल की अपनी दुरवस्था कहेगी। मैं भी आपबीती उसे सुनाऊँगा। फिर उसके साथ परमानंद में निमग्न हो जाऊँगा। आदि आदि।

चक्रनेमिक्रमेण—रथ जब चलने लगता है तब उसका पहिया नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे की ओर घूमने लगता है। उस समय चक्के का जो भाग नीचे है, वह एक क्षण के ही बाद ऊपर हो जाता है तथा ऊपर वाला नीचे चला आता है। ठीक यही बात सुख और दुःख के क्रम के बारे में भी समझनी चाहिए ॥४६॥

व्युत्पत्तिः—विगणयन्—वि + √गण् + शतृ (अत्) + विभक्तिकार्यम्। कातरत्वम्—कातर + त्व + विभक्तिः। उपनतम्—उप + √नम् + क्तः + विभक्तिः। एकान्ततः—एकान्त + तसिल् ॥ ४६ ॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ४७ ॥

मिटा शाप ज्यों ही हरि जागे तज कर शेषनाग की सेज,
आँख मूँद कर चौमासे की विरह वेदना और अँगेज।
पूर्ण करेंगे तब वियोग में गुने हुए मन के अभिलाष,
शरत्काल की खिली चाँदनी रातों में कर विविध विलास ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये), शार्ङ्गपाणौ, भुजगशयनात्, उत्थिते, मे, शापान्तः, (भविष्यति, अतः), शेषान्, चतुरः, मासान्, लोचने, मीलयित्वा, गमय, पश्चात्,

आवाम् विरहगुणितम्, तं तम्, आत्माभिलाषम्, परिणतशरच्चन्द्रिकासु, क्षपासु, निर्वेक्ष्यावः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये = हे प्रेयसि), शार्ङ्गपाणौ = भगवान् विष्णु के, भुजगशयनात् = शेषशय्या से, उत्थिते = उठने पर, मे = मेरे, शापान्तः = शाप का अंत, (भविष्यति = होगा, अतः = इसलिए), शेषान् = शेष, अवशिष्ट, मासान् = महीनों को, लोचने = नेत्रों को, आँखें, मीलयित्वा = मूँदकर, गमय = बिता लो, पश्चात् = बाद में, आवाम् = हम दोनों, विरहगुणितम् = विरह काल में सोची गयी, तं तम् = उन-उन, आत्माभिलाषम् = अपनी अभिलाषाओं को, परिणतशरच्चन्द्रिकासु = शरद् ऋतु की विकसित चाँदनी वाली, क्षपासु = रातों में, निर्वेक्ष्यावः = भोगेंगे ॥ ४७ ॥

अर्थः—(हे प्रिये), भगवान् विष्णु के शेष-शय्या से उठने पर मेरे शाप का अंत होगा। इसलिए शेष महीनों को आँखें मूँद कर बिता लो। बाद में हम दोनों विरह काल में सोची हुई उन-उन अपनी अभिलाषाओं को शरद् ऋतु की विकसित चाँदनी वाली रातों में पूरी करेंगे॥ ४७ ॥

न च निरवधिकमेतद् दुःखमित्याह—

सञ्जीवनी—**शापान्त इति**। पाणौ शार्ङ्गं यस्य स तस्मिञ्छार्ङ्गपाणौ, विष्णौ। 'सप्तमीविशेषणे—' इत्यादिना बहुव्रीहिः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति वक्तव्यात्पाणिशब्दस्योत्तरनिपातः। **भुजगः** शेष एव शयनं तस्मादुत्थिते सति **मे शापान्तः** शापावसानम्। भविष्यतीति शेषः। **शेषान**वशिष्टांश्चतुरो **मासान्**। मेघदर्शनप्रभृतिहरिबोधनदिनान्तमित्यर्थः। दशदिवसाधिक्यं त्वत्र न विवक्षितमित्युक्तमेव। **लोचने मीलयित्वा** निमील्य **गमय**। धैर्येणातिवाहयेत्यर्थः। **पश्चा**दनन्तरं त्वं चाहं **चावाम्**। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इत्येकशेषः। 'त्यदादीनां मिथो द्वन्द्वे यत्परं तच्छिष्यते' इत्यस्मदः शेषः। **विरहे गुणि**तमेवमेवं करिष्यामीति मनस्यावर्त्तितम्। **तं तम्**। वीप्सायां द्विरुक्तिः। **आत्मनो**रावयोर**भिलाषो** मनोरथस्तम्। **परिणताः** शरच्चन्द्रिका यासां तासु **क्षपासु** रात्रिषु। **निर्वेक्ष्यावो** भोक्ष्यावहे। विशतेर्लृट्। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः। अत्र कैश्चित् 'नभोनभस्ययोरेव वार्षिकत्वात्कथमाषाढादिचतुष्टयस्य वार्षिकत्वमुक्त-

मिति चोदयित्वतुंत्रयपक्षाश्रयणादविरोधः' इति पर्यहारि। तत्सर्वमसंगतम्। अत्र गतशेषाश्चत्वारो मासा इत्युक्तं कविना न तु ते वार्षिका इति। तस्मादनुक्तोपालम्भ एव। यच्च नाथेनोक्तम् 'कथमाषाढादिचतुष्टयात्परं शरत्कालः' इति तत्राप्याकार्तिकसमाप्तेः शरत्कालानुवृत्तेः परिणतशरच्चन्द्रिकास्वित्युक्तम्। न तु तदैव शरत्प्रादुर्भाव उक्त इत्यविरोध एव ॥ ४७ ॥

टिप्पणी:—उत्थिते शार्ङ्गपाणौ—भगवान् विष्णु को शार्ङ्गपाणि कहते हैं। इसका कारण यह है कि उनका धनुष शृङ्ग का बना हुआ है। शृङ्ग की बनी हुई वस्तु को शार्ङ्ग कहते हैं। भगवान् विष्णु आषाढ़ की हरिशयनी एकादशी को सोते हैं और कार्तिक शुक्ल एकादशी को अपनी सर्पशय्या का परित्याग कर उठते हैं। इसीलिए इस एकादशी को हरिप्रबोधिनी एकादशी भी कहते हैं। यक्ष का शाप इसी एकादशी को समाप्त होने वाला है।

चतुरो मासान्—यहाँ आषाढ शुक्ल से लेकर कार्तिकशुक्ल एकादशी तक की मोटी-मोटी गणना करके 'चतुरो मासान्' कहा गया है। यहाँ एकदम ठीक-ठीक चार महीना जोड़ना ठीक नहीं है। बोलचाल की भाषा में मोटे अर्थ में इसीतरह की बात कही जाती है।

विरहगुणितम् = विरह की अवस्था में गुना गया, सोचा गया। व्यक्ति वियोग की अवस्था में तमाम बातें सोचता है। ऐसे मिलूँगा, ऐसी बातें करूँगा, ऐसे गले लगाऊँगा, ऐसे मनाऊँगा, ऐसे रुठाऊँगा, ऐसे-ऐसे आनन्द लूँगा, आदि-आदि ॥ ४७ ॥

व्युत्पत्तिः—उत्थिते—उद् + √स्था + क्तः + विभक्तिः। मीलयित्वा—√मील् + क्त्वा। निर्वेक्ष्यावः—निर् + √विश् + लृट् उत्तम पुरुष द्विवचने विभक्तिकार्यम् ॥ ४७ ॥

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत् पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥ ४८ ॥

अभिज्ञान सुन···एक बार तू सोती थी गलबाहें डाल,
अकस्मात ही बिलख बिलख कर रोती जाग पड़ी तत्काल।
जब मैंने बहुतेरा पूछा तब बोली कर अन्तर्हास,
छली ! स्वप्न में देखा · तेरा किसी सौत को रुचा विलास॥ ४८॥

अन्वयः—च, भूयः, (सः), आह—(हे प्रिये), पुरा, शयने, मे, कण्ठलग्ना, अपि, त्वम्, निद्राम्, गत्वा, किमपि, सस्वनम्, रुदती, विप्रबुद्धा, असकृत्, पृच्छतः, मे, "हे कितव, त्वम्, काम्, अपि, रमयन्, मया, स्वप्ने, दृष्टः," —इति, त्वया, सान्तर्हासम्, कथितम्, च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—च = और, भूयः = पुनः, (सः = उस तुम्हारे पति ने), आह = कहा है,—(हे प्रिये = हे प्रियतमे), पुरा = पहले, शयने=शय्या पर, मेरे, कण्ठलग्ना = गले से लिपटी हुई, अपि = भी, त्वम् = तुम, निद्राम् = नींद को, गत्वा = पाकर, जाकर, किमपि = कुछ अस्पष्ट रूप से, सस्वनम् = जोर से, रुदती = रोती हुई, विप्रबुद्धा = जग गयी थी, असकृत् = बार-बार, पृच्छतः = पूछने वाले, मे = मुझ से, 'हे कितव = हे धूर्त, त्वम् = तुम, कामपि = किसी स्त्री से, रमयन् = रमण करते हुए, मया = मेरे द्वारा, स्वप्ने = स्वप्न में, दृष्टः = देखे गये हो,' इति = ऐसा, इस प्रकार, त्वया = तुमने, सान्तर्हासम् = भीतर ही भीतर हँसते हुए, कथितम् = कहा था ॥ ४८ ॥

अर्थः—और पुनः (उस तुम्हारे पति ने) कहा है—"(हे प्रिये), पहले (एक बार) शय्या पर मेरे गले से लिपटी हुई ही तुम कुछ जोर से रोती जग गयी थी। बार-बार मेरे पूछने पर "हे धूर्त, तुम किसी रमणी से रमण करते हुए मेरे द्वारा स्वप्न में देखे गये हो"—ऐसा तुमने भीतर ही भीतर हँसते हुए कहा था ॥ ४८ ॥

संप्रति तस्या मेघवञ्चकत्वशङ्कानिरासायातिगूढमभिधेयमुपदिशति—

संजीवनी—भूय इति। हे अबले, भूयः पुनरप्याह। त्वद्भर्ता मन्मुखेनेति शेषः। मेघवचनमेतत्। किमित्यत आह—पुरा पूर्वम्। पुराशब्दश्चिरातीते। 'स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। **शयने मे कण्ठलग्नापि त्वम्**। गले बद्धस्य कथमपि। केन वा निमित्तेनेत्यर्थः। **सस्वनं** सशब्दम्। उच्चै-

रित्यर्थः । रुदती सती विप्रबुद्धा । आसीरिति शेषः । असकृद् बहुशः पृच्छतः । रोदनहेतुमिति शेषः । मे मम । हे कितव ! त्वं कामपि रमयन्मया स्वप्ने दृष्ट इति त्वया सान्तर्हासं समन्दहासं यथा तथा कथितं चेति । त्वद्भर्ता भूयश्चाहेति योजना ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—**कण्ठलग्नां**—गले से गला मिलाए हुए, आलिंगनबद्ध । इससे यक्ष-प्रिया को यह संदेह करने का अवसर ही नहीं है कि यक्ष उसके पास से खिसक कर कहीं अन्यत्र चला गया होगा ।

कितव ! रमयन्—संभव है, यक्षपत्नी सोचे कि यह मेघ धूर्तता कर रहा है । यह इसी प्रकार धीरे-धीरे मुझे मिलाकर अपनी इच्छा पूरी करना चाहता है । अतः वह पतिव्रता मेघ से बात करना भी बंद कर दे । इसीलिए यहाँ पुरानी बातों की याद दिलायी गयी है । यह ऐसी बात है, जिसे यक्ष और उसकी पत्नी ही जानती है और कोई अन्य नहीं । इसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ॥ ४८ ॥

व्युत्पत्तिः—**रुदती**—√रुद् + शतृ (अत्) + ङीप् + विभक्तिकार्यम् । **विप्रबुद्धा**—वि + प्र + √बुध् + क्तः (कर्तरि) + टाप् + विभक्तिः । **पृच्छतः**—√प्रच्छ् + शतृ + षष्ठ्येकवचने विभक्तिः । **रमयन्**—√रम् + णिच् + शतृ + विभक्तिः । **दृष्टः**—√दृश् + क्तः (कर्मणि) + विभक्त्यादिः । **कथितम्**—√कथ् + क्तः + विभक्तिः ॥ ४८ ॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ ४९ ॥

सुनी पते की बात, सुनयने, अब तो मुझको जीता जान,
लोगों के कहने में आकर मन में कुछ शंका मत मान ।
स्नेह विरह में कुछ घट जाता यों विचार करना भी भूल,
वह तो होता लिये बिना रस प्रिय पर बढ़े प्रेम का मूल ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे असितनयने, एतस्मात्, अभिज्ञानदानात्, माम्, कुशलिनम्, विदित्वा, कौलीनात्, मयि, अविश्वासिनी, मा भूः, स्नेहान्, (केचन); विरहे,

किमपि, ध्वंसिनः, आहुः; तु, ते, अभोगात्, इष्टे, वस्तुनि, उपचितरसाः (सन्तः), प्रेमराशीभवन्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—हे असितनयने = हे काली-काली आँखों वाली, एतस्मात् = इस, पूर्वोक्त, अभिज्ञानदानात् = पहचान का चिह्न देने से, माम् = मुझे, कुशलिनम् = सकुशल, विदित्वा = जानकर, कौलीनात् = लोकापवाद के कारण, लोकनिन्दा के कारण, मयि = मेरे ऊपर, अविश्वासिनी = अविश्वास करने वाली, मा भूः = मत होना; (केचन = कुछ लोगों ने) स्नेहान् = प्रेम को, स्नेह को, विरहे = विरह में, = किमपि = किसी कारण से, ध्वंसिनः = नष्ट होनेवाला, कम हो जाने वाला, आहुः = कहा है; तु = किन्तु, ते = वे स्नेह, अभोगात् = उपभोग न होने से, इष्टे = अभिलषित, वस्तुनि = पदार्थ के विषय में, उपचितरसाः (सन्तः) = बढ़े हुए आस्वाद से युक्त होते हुए, प्रेमराशीभवन्ति = प्रेमपुंज के रूप में परिणत हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

अर्थः—हे काली-काली आँखों वाली, पहचान के इस चिह्न के देने से मुझे सकुशल जानकर लोकापवाद के कारण मेरे ऊपर अविश्वास मत करना। (कुछ लोगों ने) प्रेम को विरह में, किसी कारण से नष्ट होने वाला कहा है। किंतु (विरह का) वह स्नेह, उपभोग न होने से अभिलषित पदार्थ के विषय में बढ़े हुए आस्वाद से युक्त होते हुए प्रेमपुञ्ज के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ४९ ॥

सञ्जीवनी—एतस्मादिति। एतस्मात्पूर्वोक्तात्। अभिज्ञायतेऽनेनेत्यभिज्ञानं लक्षणं तस्य दानात्प्रापणान्मां कुशलिनं क्षेमवन्तं विदित्वा ज्ञात्वा। हे चकितनयने, कुले जनसमूहे भवात्कौलीनात्लोकप्रवादात्। एतावता कालेन परासुर्नो चेदागच्छतीति जनप्रवादादित्यर्थः। 'स्यात्कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वहिपक्षिणाम्' इत्यमरः। मयि विषयेऽविश्वासिनी मरणशङ्किनी मा भूर्न भव। भवतेर्लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। न च दीर्घकालविप्रकर्षात्पूर्वस्नेहनिवृत्तिराशङ्क्येत्याह—स्नेहानिति। किमपि किंचिन्निमित्तम्। न विद्यत इति शेषः। स्नेहान् प्रीतिविरहे सत्यन्योन्यविप्रकर्षे सति ध्वंसिनो विनश्वरानाहुः। तत्तथा न भवतीत्यभिप्रायः। किंतु ये स्नेहाः। अभोगाद्विरहे भोगाभाव इति प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते। इष्टे वस्तुनि विषये। उपचितो रसः स्वादो येषु ते उपचितरसाः सन्तः

प्रवृद्धतृष्णा इत्यर्थः। 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः' इति विश्वः। **प्रेमराशीभवन्ति**। वियोगासहिष्णुत्वमापद्यन्त इत्यर्थः। स्नेहप्रेम्णोरवस्थाभेदाद्भेदः। तदुक्तम्—'आलोकनाभिलाषौ रागस्नेहौ ततः प्रेमा। रतिश्रृङ्गारौ योगे वियोगता विप्रलम्भश्च।' इति। तदेव स्फुटीकृतं रसाकरे—'प्रेमा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ता त्वभिलाषकः। रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया। तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम्। श्रृङ्गारस्तत्समः क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात्।' इति॥ ४९॥

टिप्पणी—कौलीनात्—यक्ष दूर है। यक्षप्रिया अतिसुंदरी तरुणी है। अतः उस पर किसी का मन ललक सकता है। ऐसी स्थिति में वह मनचला युवक यक्षप्रिया से कह सकता है—"यक्ष वहाँ किसी दूसरी तरुणी के प्रेमपाश में बँध गया है। वह अब तुम्हारी याद भी नहीं करता होगा। तुम व्यर्थ में उसके लिए मर रही हो। आदि आदि।" किंतु यक्ष की प्रार्थना है कि इस तरह की बातों को सुनकर तुम मेरे ऊपर अविश्वास मत करना।

उपचितरसाः—विरह में प्रेमी का प्रेमिका से मिलन नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में प्रेमिका या प्रेमी के उपभोग की इच्छा बलवती हो उठती है फिर क्या है, छोटा सा स्नेह बढ़कर हिमालय बन जाता है॥ ४९॥

व्युत्पत्तिः—अभिज्ञान०—अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्। अभि + √ ज्ञा + ल्युट् (करणे) + विभक्त्यादिः। **विदित्वा**—√विद् + क्त्वा। **कौलीनात्**—कुले भवः इति—कुल+ ख (ईन) + विभक्तिः = कुलीनः, तस्य भाव इति—कुलीन = अण् (भावे) + विभक्तिः। **अविश्वासिनी**—अविश्वास + इन् + ङीप् + विभक्तिः। **ध्वंसिनः**—√ ध्वंस + णिनिः + विभक्तिः। **इष्टे** = √ इष् + क्तः + विभक्तिः॥ ४९॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः॥ ५०॥

प्रथम विरह से शोकाकुल निज भ्रातृप्रिया को दे अवलम्ब,
नन्दी द्वारा खुदे शिखर-वाले गिरि से लौटो अविलम्ब।
उसके द्वारा अभिज्ञानयुत प्रेषित संदेसा लाकर,
प्रात कुन्द सा मेरा भी जीवन लो बचा मित्र जलधर ॥ ५० ॥

अन्वयः=प्रथमविरहोदग्रशोकाम्, ते, सखीम्, एवम्, आश्वास्य, त्रिनयनवृषोत्खातकूटात्, शैलात्, आशु, निवृत्तः, (त्वम्), साभिज्ञानप्रहितकुशलैः, तद्वचोभिः, प्रातः, कुन्दप्रसवशिथिलम्, मम, अपि, जीवितम्, धारयेथाः ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—प्रथमविरहोदग्रशोकाम् = पहले-पहल वियोग के कारण अत्यधिक शोकाकुल, ते = तुम्हारी, अपनी, सखीम् = सखी को, एवम् = इस प्रकार, आश्वास्य = आश्वासन देकर, त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् = शिवजी के बैल (नन्दी) के द्वारा खोदे गये शिखरों वाले, शैलात् = (कैलास) पर्वत से, आशु = शीघ्र ही, निवृत्तः = लौटे हुए, (त्वम् = तुम), साभिज्ञानप्रहितकुशलैः = अभिज्ञान (निशानी) सहित भेजे गये कुशलमंगलयुक्त, तद्वचोभिः= उसके वचनों के द्वारा, प्रातः = प्रातःकाल, कुन्दप्रसवशिथिलम् = कुंद पुष्प के समान शिथिल, मम = मेरे, अपि = भी, जीवितम् = जीवन को, प्राणों को, धाररेथाः = ढाढस देना, सहारा देना, दृढ़ करना ॥ ५० ॥

अर्थः—पहले-पहल वियोग के कारण अत्यधिक शोकाकुल अपनी सखी (मेरी प्रियतमा) को इस प्रकार आश्वासन देकर शिव जी के बैल (नंदी) के द्वारा खोदे गये शिखरों वाले (कैलास) पर्वत से शीघ्र ही लौटे हुए (तुम) अभिज्ञान (निशानी) सहित भेजे गये कुशल-मंगलयुक्त उसके वचनों के द्वारा, प्रातःकाल कुंद पुष्प के समान शिथिल, मेरे भी प्राणों को ढाढस देना ॥ ५० ॥

इत्थं स्वकुशलं सन्दिश्य तत्कुशलसन्देशानयनमिदानीं याचते—

सञ्जीवनी—आश्वास्येति । प्रथमविरहेणोदग्रशोकां तीव्रदुःखां ते सखीमेवं पूर्वोक्तरीत्याश्वस्योपजीव्य त्रिनयनस्य त्र्यम्बकस्य वृषेण वृषभेणोत्खाता अवदारिताः कूटाः शिखराणि यस्य तस्मात् । "कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्" इत्यमरः । शैलात्कैलासादाशु निवृत्तः सन् प्रत्यावृत्तः सन् साभिज्ञानं सलक्षणं यथा तथा प्रहितं

प्रेषितं कुशलं येषु तैस्तस्यास्त्वत्सख्या वचोभिर्ममापि प्रातः कुन्दप्रसवमिव शिथिलं दुर्बलं जीवितं धारयेथाः स्थापय । प्रार्थनायां लिङ् ॥ ५० ॥

टिप्पणी—प्रथमविरहोदग्रशोकाम्—पहले पहल का विरह अति दुःख-दायक होता है । उस पर भी यदि यह विरह युवावस्था तथा प्रथम मिलन के समय होता है तो वह और भी कष्टकारक होता है ।

साभिज्ञानप्रहितकुशलैः—यक्ष यह आशा रखता है कि जिस प्रकार अभिज्ञान के साथ मैंने कुशल-समाचार भेजा है, इसी तरह मेरी प्रियतमा भी मेरे लिए इसी मेघ से अभिज्ञान के साथ ही कुशल-समाचार भेजेगी ।

प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलम्—कुंद रात में खिलता है । सवेरा होने पर उसका वृंत ढीला पड़ जाता है । उस समय यह जरा-सा भी धक्का लगने पर गिर सकता है । ठीक यही अवस्था यक्ष के जीवन की है । प्रिया का संदेश यदि नहीं मिला अथवा कुछ प्रतिकूल मिला तो यक्ष का जीवन समाप्त हो सकता है । अब उसमें सहन करने की स्वल्प भी शक्ति नहीं रह गयी है ॥ ५० ॥

व्युत्पत्तिः— आश्वास्य —आ + श्वस् + णिच् + ल्यप् । **निवृत्तः**—नि + ✓ वृत् + क्तः (कर्तरि) + विभक्तिः । **धारयेथाः**—✓ धृ + विधिलिङि मध्यमपुरुषैक-वचने विभक्तिकार्यम् ॥ ५० ॥

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ ५१ ॥

आशा है कि सौम्य ! तूने यह बन्धुकृत्य करना ठाना,
कुछ कह देने से गभीरता घट जाती है यह जाना ।
माँगे जाने पर चातक को तू रह मौन पिलाता नीर,
याचक की अभिलाषपूर्ति ही उत्तर सभी समझते धीर ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे सौम्य, मे, इदम्, बन्धुकृत्यम्, त्वया, व्यवसितम्, कच्चित् ! प्रत्यादेशात्, भवतः, धीरताम्, न, कल्पयामि, खलु, याचितः (सन्), निःशब्दः,

अपि, चातकेभ्यः, जलम्, प्रदिशसि, हि, प्रणयिषु, ईप्सितार्थक्रिया, एव, सताम्, प्रत्युक्तम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—हे सौम्य = हे सज्जन, मे = मेरे, इदम् = इस, बन्धुकृत्यम् = मित्र के कार्य को, त्वया = तुमने, व्यवसितम् = निश्चय किया है, कच्चित् = यह प्रश्नसूचक अव्यय है, प्रत्यादेशात् = ठुकरा देने से, भवतः = तुम्हारी, आपकी, धीरताम् = गम्भीरता की, न = नहीं, कल्पयामि = कल्पना करता हूँ, खलु = यह वाक्यालंकार के लिए प्रयुक्त हुआ है। याचितः (सन्) = माँगे जाने पर, निःशब्दः= मौन रहकर, अपि = ही, भी, चातकेभ्यः = चातकों को, जलम् = जल, प्रदिशसि= देते हो, हि = क्योंकि, प्रणयिषु = याचकों के, ईप्सितार्थक्रिया = अभिलषित अर्थ का संपादन, एव = ही, सताम् = सज्जनों का, प्रत्युक्तम् = उत्तर हुआ करता है ॥ ५१ ॥

अर्थः—हे सौम्य, मुझ मित्र के इस कार्य को करने का क्या तुमने निश्चय कर लिया है ? (मेरी प्रार्थना को) ठुकरा देने से तुम्हारी गंभीरता की मैं कल्पना नहीं करता। माँगे जाने पर तुम मौन रह कर ही चातकों को जल देते हो, क्योंकि याचकों के अभिलषित कार्य का संपादन ही सज्जनों का उत्तर हुआ करता है ॥ ५१ ॥

सम्प्रति मेघस्य प्रार्थनाङ्गीकारं प्रश्नपूर्वकं कल्पयति—

सञ्जीवनी—कच्चिदिति। हे **सौम्य** साधो ! **इदं मे बन्धुकृत्यं** बन्धुकार्यम्। देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत्प्रयोगः। **व्यवसितं** कच्चित्करिष्यामीति निश्चितं किम्। "कच्चित्कामप्रवेदने" अभिप्रायज्ञापनं कामप्रवेदनम्। न च ते तूष्णींभावादनङ्गीकारं शङ्के यतस्ते स एवोचित इत्याह—"**प्रत्यादेशात्**" करिष्यामि इति प्रतिवचनात्। "उक्तिराभाषणं वाच्यमादेशो वचनं वचः" इति शब्दार्णवः। **भवतस्तव धीरतां** गम्भीरत्वं **न कल्पयामि** न समर्थये **खलु**। तर्हि कथमङ्गीकारज्ञानं तत्राह—**याचितः सन्निःशब्दोऽपि** निर्गर्जितोऽपि अप्रतिजानानोऽपीत्यर्थः। **चातकेभ्यो जलं प्रदिशसि** ददासि। युक्तं चैतदित्याह—**हि** यस्मात्**सतां** सत्पुरुषाणां **प्रणयिषु** याचकेषु विषय **ईप्सितार्थक्रियैवा**पेक्षितार्थसंपादनमेव **प्रत्युक्तं प्रतिवचनम्**। क्रिया केवल-

मुत्तरमित्यर्थः। "गर्जति शरदि न वर्षति वर्षासु निस्वनो मेघः। नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव।" इति भावः॥ ५१॥

टिप्पणी—प्रत्यादेशात्— यद्यपि 'मौनं स्वीकारलक्षणम्' यह उक्ति प्रसिद्ध है। किंतु व्यवहार इसके विपरीत दिखलायी पड़ता है। व्यक्ति जब किसी के कार्य को करना चाहता है तो स्वीकारात्मक उत्तर देता है—"हाँ, मैं तुम्हारे इस कार्य को कर दूँगा।" यदि वह नहीं करना चाहता तो नकारात्मक उत्तर न देकर मौन रह जाता है। यक्ष की प्रार्थना सुन लेने के बाद भी मेघ मौन है। इसी मौन पर यक्ष कहता है कि "यद्यपि मेरी प्रार्थना सुन लेने के बाद भी आप मौन हैं। तथापि आपकी इस गंभीरता अर्थात् मौन से मैं यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि आपने मेरी प्रार्थना ठुकरा दी है। क्योंकि प्रार्थना की जाने पर आप बिना कुछ बोले ही चातक को जल दे देते हैं। बिना बोले कार्य करना ही सज्जनों का उत्तर हुआ करता है।

इस स्थल की टीका मल्लिनाथ जी ने 'उक्तिराभाषणं वाक्यमादेशो वचनं वचः।' शब्दार्णव के इस वचन के अनुसार आदेश का अर्थ वचन और प्रत्यादेश का अर्थ प्रतिवचन अर्थात् उत्तर किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार होगा—"मेरी प्रार्थना को उत्तर देकर स्वीकार करने से मैं तुम्हारी गंभीरता का समर्थन नहीं कर पाता, क्योंकि तुम प्रार्थना की जाने पर उत्तर के बिना ही चातक को जल देते हो।" किंतु इस अर्थ की अपेक्षा ऊपर दिया गया अर्थ ही मुझे अधिक उचित जान पड़ा। चारित्रवर्धनी में भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है—"प्रत्याख्यातुं भवतो धीरतां तूष्णीभावं न खलु तर्कयामि॥" ५१॥

व्युत्पत्तिः—व्यवसितम्— वि + अव + सी + कर्मणि + विभक्तिः। **प्रत्यादेशात्—** प्रति + आ + √ दिश् + घञ् (भावे) + हेतौ पञ्चमीविभक्तिः। **धीरताम्—** धीर + तल् + टाप् + विभक्तिः। **प्रत्युक्तम्—** प्रति + √वच् + क्तः + विभक्तिः॥ ५१॥

एतत् कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या।

इष्टान् देशान् विचर जलद ! प्रावृषा सम्भृतश्रीः
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ ५२ ॥

या जलधर ! मित्रता मानकर या दुखिया पर दया विचार,
इस मेरे अनुचित याचन को पूरा करके भार उतार।
वर्षा की शोभा से शोभित कर मनमाने सदा विहार,
क्षण भर भी चपला से तेरा विरह न हो यों किसी प्रकार ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे जलद, सौहार्दात्, वा; विधुरः, इति, वा, मयि, अनुक्रोशबुध्या, अनुचितप्रार्थनावर्तिनः, मे, एतत्, प्रियम्, कृत्वा, प्रावृषा, संभृतश्रीः (सन्, त्वम्), इष्टान्, देशान्, विचर; क्षणम्, अपि, ते, विद्युता, एवम्, विप्रयोगः, मा भूत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—हे जलद=हे मेघ, सौहार्दात् वा = चाहे मित्रता के कारण, विधुर इति वा = अथवा (यह प्रिया से) बिछुड़ा हुआ है इस विचार से, वा = अथवा, मयि मेरे ऊपर, अनुक्रोशबुध्या = दया की भावना से, अनुचितप्रार्थनावर्तिनः = अनुचित प्रार्थना करने वाले, मे = मेरा, एतत् = यह, प्रियम् = प्रिय कार्य, कृत्वा = करके, प्रावृषा = वर्षा ऋतु के कारण, संभृतश्रीः सन् = समृद्ध शोभा से संपन्न होते हुए, (त्वम् = तुम) इष्टान् = अभीप्सित, मनचाहे, देशान् = देशों में, विचर = विचरण करना; क्षणम् = क्षण भर, पल भर, अपि = भी, ते = तुम्हारा, विद्युता = (अपनी प्यारी पत्नी) विद्युत से, एवम् = ऐसा, विप्रयोगः = वियोग, मा भूत् = न हो ॥ ५२ ॥

अर्थः—हे मेघ, चाहे मित्रता के कारण, अथवा यह यक्ष बेचारा प्रिया से बिछुड़ा हुआ है इस विचार से, अथवा मेरे ऊपर दया की भावना से, अनुचित प्रार्थना करनेवाले मेरे इस प्रिय कार्य को करके वर्षा ऋतु के कारण अतिशय शोभा से संपन्न होते हुए (तुम) अपने मनचाहे देशों में विचरण करना। और क्षण भर भी तुम्हारा (अपनी प्यारी पत्नी) विद्युत् से ऐसा (अर्थात् मेरे समान कभी) वियोग न हो ॥ ५२ ॥

॥ रमाशङ्कर त्रिपाठी के द्वारा विरचित मेघदूत की यह 'सरस्वती' व्याख्या समाप्त हुई ॥

संप्रति स्वापराधसमाधानपूर्वकं स्वकार्यस्यावश्यं करणं प्रार्थयमानो मेघं विसृजति—

सञ्जीवनी—एतदिति । हे जलद, सौहार्दात्सुहृद्भावात् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । विधुरो वियुक्त इति हेतोर्वा । 'विधुरं तु प्रविश्लेषे' इत्यमरः । मयि विषयेऽनुक्रोशबुद्ध्या करुणाबुद्ध्या वा अनुचिता तवाननुरूपा या **प्रार्थना** 'प्रियां प्रति सन्देशं मे हर' इत्येवंरूपा तत्र **वर्तिनो** निर्बन्धपरस्य **मे** ममैतत्संदेशहरणरूपं **प्रियं कृत्वा** संपाद्य **प्रावृषा** वर्षाभिः । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः' इत्यमरः । **संभृतश्रीः** रुपचितशोभः सन् । **इष्टान्** स्वाभिलषितान्देशान्विचर । यथेष्टदेशेषु विहरेत्यर्थः । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति वचनात्कर्मत्वम् । एवं **मद्वत्क्षणमपि** स्वल्पकालमपि **ते** तव **विद्युता** । कलत्रेणेति शेषः । **विप्रयोगो** विरहो **मा भूत्** मास्तु । 'माङि' इत्याशिषि लुङ् । 'अन्ते काव्यस्य नित्यत्वात्कुर्यादाशिषमुत्तमाम् । सर्वत्र व्याप्यते विद्वान्नायकेच्छानुरूपिणीम् ।' इति सारस्वतालङ्कारे दर्शनात्काव्यान्ते नायकेच्छानुरूपोऽयमाशीर्वादः प्रयुक्त इत्यनुसंधेयम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीवनीसमाख्यया व्याख्यया समेते महाकविश्रीकालिदासविरचिते मेघदूते काव्ये उत्तरमेघः समाप्तः ।

टिप्पणी—अनुचितप्रार्थनावर्तिनः—मेघ, तुम महान् हो । मैं एक छोटा-सा प्राणी हूँ । मैं तुम से संदेश पहुँचाने और ले आने की प्रार्थना कर रहा हूँ । वस्तुतः मेरी यह प्रार्थना अनुचित है । बड़ों से यदि छोटे व्यक्ति सेवा लें तो क्या यह अनुचित नहीं है ? यही कारण है कि यक्ष अपने आपको अनुचित प्रार्थना करने वाला कह रहा है ।

माभूत् विद्युता विप्रयोगः—नाटक में भरतवाक्य की तरह यह कथन आशीर्वादात्मक है । यहाँ मेघ के प्रति मंगल कामना की गई है कि वह क्षण भर भी कभी अपनी प्रियतमा बिजली से वियुक्त न हो । वह जहाँ कहीं भी जाय बिजली उसके साथ-साथ रहे । वस्तुतः यहाँ मेघ को निमित्त बनाकर महाकवि ने

प्राणिमात्र के लिए यह मंगल-कामना की है। शृङ्गार रस के जन्मसिद्ध कवि भला ऐसे सुन्दर आशीर्वाद को छोड़ कर दूसरा कौन सा आशीर्वाद दे सकते हैं? महाकवि का मेघदूत इस तरह अंत की हृदयस्पर्शी मंगल-कामना के साथ समाप्त होता है ॥ ५२ ॥

व्युत्पत्तिः—कृत्वा—√कृ + क्त्वा। सौहार्दात्—सुहृदो भावः सौहार्दम्—सुहृद् + अण् + विभक्तिस्तथा 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इति सूत्रेणोभयपदवृद्धिः। विप्रयोगः—वि + प्र + √ युज् + घञ् + विभक्तिः ॥ ५२ ॥

॥ इति रमाशङ्कर त्रिपाठिविरचिता सरस्वतीसमाख्या
मेघदूतव्याख्या समाप्तिमगात् ॥

विशेष—यद्यपि महाकवि ने आशीर्वादात्मक मंगल के साथ ही अपना मेघदूत यहीं समाप्त कर दिया है। किंतु कुछ चंचलमति लोगों ने कुछ और श्लोक जोड़ दिये हैं। जो किसी भी दृष्टि से कालिदास की कला से मेल नहीं खाते। यही कारण है कि मल्लिनाथ जैसे ख्यातनामा व्याख्याकार ने इनकी व्याख्या नहीं की। इनमें दो श्लोकों पर एक प्राचीन टीकाकार आचार्य चरित्रवर्धन की टीका मिलती है। अतः उनकी टीका के साथ ही वे दोनों श्लोक यहाँ उद्धृत कर दिये जा रहे हैं।

तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचाचचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः सापि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥ १ ॥

अन्वयः—जनहितरतः, जलधरवरः, तस्याः, यक्षवध्वाः, प्राणान्, रक्षितुम्, दिव्यवाचा, तम्, सन्देशम्, आचचक्षे; सा, अपि, स्वभर्तुः, उदन्तम्, प्राप्य, प्रमुदितमनाः, तस्थौ; हि, उत्तमेषु, प्रार्थना, केषाम्, अभिमतफला, न, स्यात्? ॥१॥

शब्दार्थः—जनहितरतः = लोक-कल्याण में संलग्न, जलधरवरः = श्रेष्ठ जलधर ने, तस्याः = उस, यक्षवध्वाः = यक्ष-प्रिया के, प्राणान् = प्राणों की, रक्षितुम् = रक्षा करने के लिए, दिव्यवाचा = आकाशवाणी के माध्यम से,

तम् = उस, सन्देशम् = संदेश को, आचचक्षे = कहा। सा = वह यक्षपत्नी, अपि = भी, स्वभर्तुः = अपने पति के, उदन्तम् = समाचार को, प्राप्य = पाकर, प्रमुदितमनाः = प्रसन्नचित्त, तस्थौ = रहने लगी, हि = क्योंकि, उत्तमेषु = उत्तम पुरुषों से, प्रार्थना = (की गयी) प्रार्थना, केषाम् = किनको, अभिमतफला = अभीष्टफल देने वाली, न = नहीं, स्यात् = होती ॥ १ ॥

अर्थः—लोक-कल्याण में संलग्न श्रेष्ठ जलधर ने उस यक्ष-प्रिया के प्राणों की रक्षा करने के लिए, आकाशवाणी के माध्यम से, उस संदेश को कहा। वह यक्ष-पत्नी भी अपने पति के समाचार को पाकर प्रसन्नचित्त हुई, क्योंकि उत्तम पुरुषों से (की गयी) प्रार्थना किनको अभीष्ट फल देने वाली नहीं होती ? ॥ १ ॥

टीका—(चारि०) यक्षवचनानन्तरं वारिदः किमकरोदित्याशङ्क्याह। तं सन्देशमिति—जनहितरतो जलधरवरो मेघश्रेष्ठस्तस्याः प्राणान् रक्षितुं तत्रालकां गत्वा दिव्यवाचा तस्य गुह्यकस्य सन्देशं वार्तां प्रत्यवदज्जगाद। साऽपि स्वभर्तुर्यक्षस्योदन्तं वार्तामभिज्ञानादिना मत्वा प्रमुदितमनाः सती तस्थौ स्थिता। तेन वाक्यमात्रेण कथमेतदकारीत्याह। हि यस्मात् उत्तमेषु प्रार्थना केषामभिमतफला न स्यात्। अपितु सर्वेषामित्यर्थः ॥ १ ॥

श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टान् अविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ २ ॥

अन्वयः—धनेशः, अपि, जलदकथिताम्, वार्ताम्, श्रुत्वा, सदयहृदयः, अस्तकोपः (सन्), सद्यः, शापस्य, अन्तम्, संविधाय, विगलितशुचौ, हृष्टचित्तौ, एतौ, दम्पती, संयोज्य, इष्टान्, भोगान्, अविरतसुखम्, शश्वत्, भोजयामास ॥ २ ॥

शब्दार्थः—धनेशः = कुबेर ने, अपि = भी, जलदकथिताम् = मेघ के द्वारा कही गई, ताम् = उस, वार्ताम् = वार्ता को, सन्देश को, श्रुत्वा = सुनकर, सदयहृदयः = दयार्द्रचित्त, अस्तकोपः (सन्) = क्रोध-रहित होकर, सद्यः = शीघ्र ही, शापस्य = शाप का, अन्तम् = समापन, संविधाय = करके, विगलितशुचौ =

शोक से रहित, हृष्टचित्तौ = प्रसन्न चित्त हुए, एतौ = इन, दम्पती = पति-पत्नी को, संयोज्य = मिला कर, इष्टान् = अभीष्ट, भोगान् = भोगों को, अविरतसुखम् = लगातार आनंदपूर्वक, शश्वत् = निरंतर, भोजयामास = भोग करवाया ॥ २ ॥

अर्थः—कुबेर ने भी मेघ के द्वारा कही गयी उस वार्ता को सुनकर दयार्द्रचित्त अतः क्रोध-रहित होकर शीघ्र ही शाप का अंत करके शोक से रहित प्रसन्नचित्त हुए इन पति-पत्नी को मिलाकर अभीष्ट भोगों की लगातार सदा के लिए आनंदपूर्वक व्यवस्था कर दी ॥ २ ॥

टीका—(चारि०) मेघसन्देशाकर्णनानन्तरं किमभवदित्याह—

श्रुत्वेति—वनेशोऽपि कुबेरो जलदकथितां वार्तां श्रुत्वा सदयहृदयः सन् अस्तो गतः कोपो यस्य स वनेशः सद्यस्तत्क्षणं शापस्यान्तं संविधाय कृत्वा प्रातस्तुष्टचित्तौ विरचितानि शुभानि मङ्गलानि याभ्यां तौ दम्पती पश्चात् शापावसाने इष्टानभीष्टान् भोगान् भोजयामास ॥ २ ॥

॥ इति शिवम् ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

व्याख्याकर्तुः परिचयः

विन्ध्यक्षेत्रान्तरे रम्ये मीरजापुरमण्डले ।
गम्भीरपुरनामास्ति ग्रामः ख्यातो महीतले ॥ १ ॥

तत्र रामप्रसादाख्य स्त्रिपाठी ब्राह्मणो ह्यभूत् ।
तस्यासीत् प्रबला भक्तिर्विष्णोश्चरणपङ्कजे ॥ २ ॥

अतो नामापरं तस्य रामदासेति विश्रुतम् ।
जातः परमहंसोऽयमन्तिमे समये महान् ॥ ३ ॥

चत्वार आत्मजास्तस्य बभूवुः कृतिनां वराः ।
ज्येष्ठो गणपतिस्तेषु सोमदत्तोऽपरस्तथा ॥ ४ ॥

तृतीयो देवदत्तश्च कृष्णदत्तश्चतुर्थकः ।
कृष्णदत्तस्य तुर्यस्य द्वौ सुतौ प्रबभूवतुः ॥ ५ ॥

दीनान्तः शीतलस्तत्र प्रथमः प्रथितोऽभवत् ।
श्रीमान् रामदयाल्वाख्यो द्वितीयोऽभूत् परः कृती ॥ ६ ॥

आद्यः शीतलदीनो यश्चतुरः सुषुवे सुतान् ।
चतुरान् कृतविद्यांश्च चतुरः सागरानिव ॥ ७ ॥

आदित्यरामस्तत्रैकः कर्मकाण्डी महायशाः ।
दिवाकरो भास्करश्च प्रभाकर इतीरिताः ॥ ८ ॥

आदित्यरामस्यैकोऽभूज्ज्येष्ठः पुत्रः सुधीवरः ।
शिवप्रतापनाम्ना यः प्रसिद्धिं परमां गतः ॥ ९ ॥

द्वितीयः शिवसम्पत्तिर्गुणज्ञो गुणवान् मतः ।
शिवप्रतापस्य पुत्रो द्वेषमात्सर्यवर्जितः ॥ १० ॥

श्रीमान् रामसुमेर्खोह पुण्यवान् भाग्यवांस्तथा।
तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा॥ ११॥

प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान्।
येषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः॥ १२॥

त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः।
रमाशङ्करनामाहं व्याख्याकृत्तु तृतीयकः॥ १३॥

वात्सल्यभाङ् नः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः।
सहायभूतः सर्वेषामेषां स्नेहानुवर्धितः॥ १४॥

सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम्।
हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम॥ १५॥

——:०:——

परिशिष्ट—१

श्लोकानुक्रमणिका

उत्तरमेघः

●

परिशिष्ट—२

सुभाषितवाक्यसंग्रहः

(पहली संख्या पूर्व अथवा उत्तर मेघ को सूचित करती है एवं दूसरी श्लोक संख्या को बतलाती है)

आपन्नार्तिप्रशमनफला संपदो ह्युत्तमानाम् ॥ १ । ५३

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ १ । १०

कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः ॥ २ । ३७

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु १ । ५

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः । १ । ५४

ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥ १ । ४१

न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥ १ । १७

प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ २ । ३०

मदायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ १ । ३८

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ १ । ३

याच्ञा मोघावरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ १ । ६

रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ १ । २०

सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥ २ । १७

स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ १ । २८



मूल्य-पचीस रुपये